आधुनिक भारतीय शासन

लेखक

श्री गोरखनाथ चौबे, एम० ए०

तथा

श्रीमती ऊषारानी गुप्ता, बी० ए०, एल० टी०

नवीन संशोधित संस्करण

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

छठा संस्करण]　　१९५०　　[मूल्य ५)

भूमिका

'आधुनिक भारतीय शासन' का नवीन संस्करण पाठकों के समक्ष इस उद्देश्य से रखा जा रहा है कि वे इससे भारतीय संविधान की जानकारी प्राप्त करेंगे। अपने विषय के वर्णन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि गम्भीर और जटिल बातों को सरल एवं स्पष्ट रूप दिया जाय। जब तक किसी विषय का पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात नहीं होता तब तक उसकी ठोस जानकारी नहीं होती। इसीलिये कतिपय स्थलों पर ऐतिहासिक विकास का भी वर्णन दे दिया गया है। यद्यपि भारतीय संविधान का निर्माण भारतीय प्रतिनिधियों द्वारा स्वतन्त्र वातावरण में किया गया है, फिर भी इस पर अन्य देशों की शासन पद्धतियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। बृटेन, अमेरिका तथा कनाडा के संविधान से कितनी ही बातें इसमें ली गई हैं। इसीलिये यथा-स्थान इन देशों के संविधानों का भी उद्धरण दे दिया गया है। १९३५ ई० का संघ शासन विधान नवीन संविधान को कम प्रभावित नहीं करता। कितने ही स्थलों पर स्पष्ट शब्दों में इनका सम्बन्ध वर्णन किया गया है। वर्तमान संविधान भी संघात्मक ही है। कुछ स्थलों पर १९३५ के संघ शासन विधान की जानकारी आवश्यक है। इसकी पूर्ति के लिये पाठकों की सुविधा का ध्यान रखते हुए १९३५ ई० के संघ शासन विधान का भी यथास्थान वर्णन कर दिया गया है। यद्यपि भारतीय संविधान सर्वथा नवीन है और इसकी कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में अभी कोई टिप्पणी नहीं की जा सकती, फिर भी कुछ विद्वानों ने इसकी आलोचना की है। इस आलोचना का वर्णन भी एक स्वतन्त्र अध्याय में कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि भारतीय संविधान को समझने के लिये जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता है उन्हें पर्याप्त मात्रा में देने का प्रयत्न किया गया है।

किसी देश का संविधान एक नीरस विषय है। किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही विद्यार्थी इसका अध्ययन करते हैं। साहित्य की अन्य पुस्तकों की तरह शासन विधान सम्बन्धी पुस्तकें नहीं पढ़ी जातीं। विद्यार्थियों की रुचि उन्हीं विषयों की ओर होती है जो सरल और रोचक होते हैं। राजनीति विषय अत्यन्त कठिन है। वर्तमान समाज में इसकी उपयोगिता को देखते हुए यह आवश्यक है कि पाठकों में इस विषय का अधिक प्रचार होना चाहिये। किसी स्वतन्त्र देश के नागरिक जब तक राजनीति विषय की व्यावहारिक बातों की जानकारी नहीं करते तब तक उनका राजनीतिक जीवन उन्नतिशील नहीं हो सकता। भारतीय समाज में राजनीति साहित्य का चलन अधिक होना चाहिये। सदियों के पश्चात् इस देश के ३४ करोड़ निवासियों को इस बात का अवसर प्राप्त हुआ है कि वे अपना शासन-प्रबन्ध जैसा चाहें करें। उन्हें नाना प्रकार के मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। १७ करोड़ नागरिकों को प्रत्यक्ष रूप से मत देने का अधिकार दिया गया है। इस सुअवसर का सदुपयोग नागरिक तभी कर सकते है जब उन्हें भारत के राजनीतिक संगठन का ज्ञान हो, और वे राजनीतिक अधिकारों के प्रयोग और उनके महत्व को समझें। नागरिकों की इस आवश्यकता का ध्यान रखते हुए शासन विधान ऐसे दुरूह और जटिल विषय को सरल एवं रोचक बनाने का यत्न किया गया है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ स्थलों पर विस्तृत वर्णन की आवश्यकता हुई है। यदि जटिल और नीरस स्थलों पर विस्तृत व्याख्या न दी जाती तो पाठकों को वे स्थल रुचिकर नहीं प्रतीत होते। प्रचलित उदाहरणों तथा सामान्य व्यवहारों का उद्धरण देते हुए विषय की रोचकता में यथासम्भव और भी वृद्धि की गई है, जिससे संविधान की जानकारी के साथ पाठकों को और भी उपयोगी बातों का ज्ञान हो जाय।

नवीन संविधान अत्यन्त जटिल और विस्तृत है। इतना बड़ा संविधान शायद ही किसी देश ने तैयार किया है। इसका निर्माण करने में लगभग ३ वर्ष का समय व्यतीत हुआ है और लगभग ६४ लाख रुपया इस पर व्यय हुआ है। संविधान की मूल प्रति को पढ़ने से पाठकों को इस बात का

आभास नहीं हो सकता कि आवश्यक बातों को सम्पूर्ण संविधान से कैसे पृथक् करें। जब तक विषयानुसार बातें एकत्र नहीं की जातीं तब तक किसी विषय की क्रमबद्ध जानकारी नहीं होती। प्रस्तुत पुस्तक में विषयों का वर्णन जिस क्रम से किया गया है वह संविधान की मूल प्रति के अध्ययन और अनुशीलन का ही परिणाम है। संविधान में कितने ही स्थल ऐसे हैं जिनकी जानकारी पाठकों के लिये उपयोगी नहीं हैं। न्यायालय अथवा सरकारी कार्यालय को वे स्थल उपयोगी हो सकते हैं। ऐसी बातों को पुस्तक में स्थान नहीं दिया गया है। भारत की भौगोलिक स्थिति, केन्द्रीय शासन, राज्यों का संगठन और शासन, स्थानीय स्वशासन, सरकारी आय-व्यय, न्यायालय, स्वास्थ्य और सफाई, ग्राम-पंचायत, सरकारी नौकरियाँ, सेना, पुलीस और जेल आदि बातों का वर्णन अलग-अलग अध्यायों में किया गया है। कुछ स्थलों पर पूर्वपर सम्बन्ध जोड़ने के लिये ऐसे भी वर्णन दिये गये हैं जो संविधान में नहीं हैं। पुस्तक के अध्ययन के पश्चात् एक साधारण विद्यार्थी भी यह भलीभाँति समझ सकता है कि शासन विधान का देश की उन्नति पर क्या प्रभाव पड़ता है और भारतीय संविधान का स्वरूप कैसा है। वह इसकी आलोचनात्मक जानकारी भी प्राप्त कर सकता है।

२६ जनवरी १६५० ई० से नवीन संविधान का श्रीगणेश किया गया है। गत दो वर्षों के अन्दर देशी रियासतों का प्रश्न इतनी शीघ्रता और शान्ति के साथ हल किया गया है कि संसार के इतिहास में इसका कोई दूसरा उदाहरण विद्यमान नहीं है। अब भी रियासतों के संघों का निर्माण हो रहा है। कुछ राज्यों को केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथों में ले रखा है। जिन नये राज्य संघों का निर्माण किया गया है उनमें वे सभी बातें लाई जा रही हैं जो पहले के स्थापित राज्यों (प्रान्तों) में रही हैं। भारत एक सार्वभौम गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया है। शासन की सभी इकाइयों में वैधानिक समता अत्यन्त आवश्यक है। राज्यों के निर्माण में राष्ट्रीय सरकार को आर्थिक और सांस्कृतिक समानता का भी ध्यान रखना पड़ता है। नवीन संविधान के अनुसार केन्द्र तथा राज्यों में निर्वाचन की तैयारियाँ की जा रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार विभिन्न देशों के साथ मैत्री

पूर्ण सम्बन्ध भी स्थापित किया जा रहा है। देश के आन्तरिक शासन में अनेक परिवर्तन किये जा रहे हैं, जिससे शासन सत्ता जन साधारण के हाथ में चली जाय। ग्राम पंचायतों का निर्माण अभी अभी किया गया है। जिलों के न्याय और प्रशासन के कार्य एक दूसरे से पृथक् किये जा रहे हैं। शासन में ऐसी परम्परायें स्थापित की जा रही हैं जो इस देश के अनुकूल हैं और जिनसे भारतीय संस्कृति की रक्षा होती है। इन सभी बातों का ध्यान रखते हुए संविधान की एक ठोस जानकारी कराना कोई सरल कार्य नहीं है। सरकार कुछ स्थलों पर १९३५ ई० के संशोधित संविधान का उपयोग कर रही है। कुछ स्थलों पर नवीन संविधान कार्यान्वित किया गया है। कुछ विषयों के प्रशासन के लिये विशेष उपबन्ध बनाये गये हैं। इनका भी पुस्तक में पूरा ध्यान रखा गया है।

अब तक संविधान की प्रामाणिक प्रतियाँ केवल अंग्रेजी भाषा में छापी जाती थीं। हिन्दी के पाठकों को इनके अनुवाद पर ही सन्तोष करना पड़ता था। अनुवादक अपनी बुद्धि के अनुसार पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करते थे। एक ही शब्द के लिये कई पारिभाषिक शब्द प्रचलित होने का यही कारण था। कोई धारा सभा, कोई विधान-मंडल, कोई व्यवस्थापिका-सभा का प्रयोग करते थे। यह कहना कठिन था कि किसकी पारिभाषिक शब्दावली अच्छी और प्रामाणिक है। भारतीय संविधान की प्रामाणिक प्रति आज पाठकों को हिन्दी में भी उपलब्ध है। जहाँ स्वतन्त्रता से हमें सैकड़ों लाभ हुए हैं वहाँ राष्ट्रभाषा के चलन का लाभ हमारे लिये कम नहीं है। राष्ट्रीय सरकार ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है। अंग्रेजी के १५० वर्षों के चलन के कारण इस मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं उनके निवारण के लिये सरकार ने १५ वर्ष का समय निश्चय किया है। हिन्दी की प्रतिलिपि प्राप्त होने से पारिभाषिक शब्दों की कठिनाइयाँ बहुत कुछ दूर हो गई हैं। जो शब्द किसी विषय के लिये द्योतक माना गया है वह सम्पूर्ण भारत में उस विषय का द्योतक माना जायगा। विधान-मंडल के अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इन पारिभाषिक शब्दों का निर्माण संस्कृत के आधार पर इसलिये किया गया

है कि उत्तर और दक्षिण की सभी भाषाओं में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। थोड़े समय तक पाठकों को विधेयक, आयुक्त, आयात, उद्घोषणा, आरक्षक, नगर पालिका, पत्तन प्रन्यास, अर्जन, मंडली, परिषद्, निर्वहन, निर्बन्धन, निवृत्ति-वेतन, परिवहन, पारण, पीठासीन, प्रतिवेदन, प्रभुता, भागिता, रूपांकन, वित्त, विधि, संसद्, संहिता आदि शब्द कठिन भले ही प्रतीत हों परन्तु थोड़े समय के पश्चात् उन्हें ये सरल हो जायेंगे।

किसी देश के संविधान का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझा जाता जब तक उस देश की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति की जानकारी न की जाय। जैसा समाज होता है उसी के अनुसार वहाँ का संविधान बनाया जाता है। इसलिये देश में शिक्षा की प्रगति, उसकी राष्ट्रीय उन्नति का इतिहास तथा समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों का वर्णन भी संविधान के समझने में सहायक होता है। प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे भाग में इन बातों का भी पृथक्-पृथक् अध्यायों में वर्णन कर दिया गया है। इससे विद्यार्थी यह भलीभाँति समझ सकते हैं कि उनके समाज का विकास कैसे हुआ है और उनका राष्ट्रीय जीवन किन किन कठिनाइयों से होकर विकसित हुआ है। अपनी वर्तमान स्थिति का भी वे ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय विद्यार्थियों के लिये यह दूसरा भाग और भी आवश्यक है, क्योंकि उनके देश का राजनीतिक जीवन बहुत ही संकट पूर्ण रहा है और स्वतन्त्रता संग्राम में उनके पूर्वजों ने अपूर्व त्याग और बलिदान किया है। भारतीय समाज की कितनी ही बातें बृटिश शासन में अपनी मर्यादा को खो बैठी थीं। विदेशियों ने उन्हें जिस दृष्टिकोण से देखा है वह या तो पक्षपात पूर्ण है अथवा उनकी अज्ञानता का द्योतक है। स्वतन्त्र भारत में उस प्रकार के दृष्टिकोण से भारतीय समाज का अध्ययन अत्यन्त हानिकर है। प्रस्तुत पुस्तक में आदि से अन्त तक विशुद्ध राष्ट्रीय दृष्टिकोण विद्यमान है। भारतीय समाज के संगठन को जब हम राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखते हैं तो हमें आत्मग्लानि होती है। अपने ही थोड़े से भाइयों ने अपने स्वार्थ के लिये उन भारतीय परम्पराओं का भी खण्डन किया है जो हमारे समाज के लिये उपयोगी रही हैं। पाठकों में इस प्रकार का भाव जाग्रत होना चाहिये कि उपयोगी

परम्पराओं को नष्ट होने से बचायें और सामाजिक संगठन को देश के अनुकूल रखें। उन्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि बृटिश शासन में भारतीयता का कोई महत्व न था।

यद्यपि संविधान को समझाने के लिये हर प्रकार का प्रयत्न किया गया है और पाठकों की आवश्यकतानुसार सभी सामग्रियाँ एकत्रित की गई हैं फिर भी त्रुटियों का रहना स्वाभाविक है। मनुष्य की बुद्धि सीमित है। कोई भी यह साहस नहीं कर सकता कि संविधान का विवरण इस ढंग से दिया जाय जिसमें किसी प्रकार की कमी न रह जाय। पुस्तक के अन्त में पर्याप्त मात्रा में ऐसे प्रश्न भी दे दिये गये हैं जो नवीन संविधान के अन्तर्गत पूछे जा सकते हैं। इससे एफ० ए० तथा ऊँची कक्षा के विद्यार्थियों को विषय के समझने में सुविधा होगी। यदि इस पुस्तक से पाठकों की राजनीतिक जानकारी में थोड़ी भी वृद्धि हुई तो हम अपने प्रयास को बहुत कुछ सफल समझेंगे। इतने कम समय में इतनी अच्छाई के साथ पुस्तक को छापकर तैयार कराने में श्री नरोत्तमदास अग्रवाल एम० ए० का परिश्रम कम सराहनीय नहीं है। हम उनके विशेष आभारी हैं।

रामभवन, प्रयाग
१ जुलाई १६५० ई०

गोरखनाथ चौबे
ऊषारानी गुप्ता

विषय सूची

प्रथम भाग

अध्याय १

शासन का विकास

अध्याय २

शासन के गुण-दोष

अध्याय ३

नागरिक के मौलिक अधिकार

अध्याय ४

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

अध्याय ५

संघ और राज्यों के सम्बन्ध

अध्याय ६

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति

अध्याय १२

प्रथम अनुसूची के (ख) (ग) तथा (घ) भाग के राज्य

अध्याय १३

जिले का शासन

अध्याय १४

स्थानीय स्वशासन

अध्याय १५

स्थानीय संस्थायें

अध्याय १६

ग्राम पंचायत

अध्याय १७

न्यायालय

अध्याय १८

सरकारी नौकरियाँ

अध्याय १९

सरकारी आय-व्यय

अध्याय २०

शिक्षा

अध्याय २१

सेना, आरक्षक और कारागार

द्वितीय भाग

अध्याय २६

हमारा राजनीतिक जीवन

अध्याय २७

सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन

अध्याय २८

हमारा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन

———

प्रथम भाग

आधुनिक भारतीय शासन

अध्याय १

शासन का विकास

भारतवर्ष और पाकिस्तान

कांग्रेस के अथक परिश्रम के बावजूद सम्पूर्ण भारतवर्ष दो हिस्सों में विभाजित कर दिया गया। मुसलिम लीग अपने दो राष्ट्रों वाले सिद्धान्त (Two Nations Theory) में सफल रही। महात्मा गाँधी ने अंत समय तक विभाजन का विरोध किया था और विभाजन के पश्चात् भी उन्हें यह पूरी आशा थी कि किसी न किसी दिन दोनों की राष्ट्रीयता और सरकार एक होकर रहेगी। विभाजन के फलस्वरूप देश को किन महान् विपत्तियों का सामना करना पड़ा है—यह बात किसी से छिपी नहीं है। आज लाखों स्त्री-पुरुष असहाय और अनाथ मारे मारे भटक रहे हैं। इस विभाजन का परिणाम क्या होगा—इसका निर्णय भविष्य पर निर्भर है।* देश के बटवारे

---

* I find no parallel in history for a body of converts and their descendants claiming to be a nation apart from the parent stock. If India was one nation before the advent of Islam it must remain one in spite of the change of faith of a very large body of her children. You do not claim to be a separate nation by right of conquest but by reason of acceptance of Islam. Will the two nations become one if the whole of India accepted Islam ? (A letter of Mahatma Gandhi to Mr. Jinnah)

से जनता को कोई लाभ नहीं है। दोनों भागों की स्थिति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पाकिस्तान के दो हिस्से हैं—पूर्वी पाकिस्तान और पच्छिमी पाकिस्तान। पूर्वी पाकिस्तान में पूर्वी बंगाल तथा आसाम का सिलहट जिला है। इसका क्षेत्रफल ५४००० वर्गमील और जनसंख्या ४ करोड़ १८ लाख है। पच्छिमी पाकिस्तान में पच्छिमी पंजाब, सीमा प्रान्त, बलूचिस्तान तथा सिन्ध है। इसका क्षेत्रफल १७६००० वर्ग-मील और जन-संख्या २ करोड़ ३८ लाख है। पाकिस्तान का कुल क्षेत्र-फल २३३००० वर्गमील और जन-संख्या ६ करोड़ ५६ लाख है। भारतीय संघ का क्षेत्रफल १३६७००० वर्गमील और जनसंख्या ३४ करोड़ ७० लाख ३४ हजार है* पूर्वी और पच्छिमी पाकिस्तान में १००० मील का अन्तर है। सम्पूर्ण भारत की १४·७ प्रतिशत भूमि पाकिस्तान में और ८५·६ प्रतिशत भारतीय संघ में है। अर्थात् क्षेत्रफल में पाकिस्तान भारतीय संघ का सातवाँ भाग और जन-संख्या में पाँचवाँ भाग है।

पाकिस्तान निर्धन देश है। इसमें लोहा कहीं नहीं निकलता। कोयला भी नाममात्र है। उद्योग-धंधों में दिवालिया है। खेती की स्थिति अच्छी है। समूचे भारत में जोती जाने वाली कुल भूमि २० करोड़ ६० एकड़ है, इसमें १ करोड़ १८ लाख पाकिस्तान में है। कुल हिन्दो-स्तान का ७२ फीसदी जूट पाकिस्तान में होता है, परन्तु वहाँ एक भी जूट मिल नहीं है। पाकिस्तान में कुल ६७४८ मील रेलवे लाइन है और कराची तथा चिटागाँव केवल दो बन्दरगाह हैं। गेहूँ उत्पन्न होने वाली लगभग २५ प्रतिशत भूमि पाकिस्तान में है।

भौगोलिक स्थिति

१५ अगस्त १९४७ ई० तक भारतवर्ष का क्षेत्रफल १८०८६७९ वर्ग-मील रहा है जिसमें बृटिश भारत का क्षेत्रफल १०९६१७१ वर्गमील और भारतीय रियासतों का ७१२५०८ वर्ग मील था। बृटिश भारत में २९५८२७००० व्यक्ति तथा भारतीय रियासतों में ९२९७३००० व्यक्ति रहते रहे हैं। उत्तर से दक्खिन तक इस देश की लंबाई २००० मील और चौड़ाई २५०० मील रही है। भारतवर्ष स्वयं एक

---

* भारत के जनगणना कमिश्नर ने १ मार्च १९५० को यह अनुमान प्रकट किया है कि भारत की जनसंख्या ३४७०३४००० है। इसमें शरणार्थी भी शामिल हैं। इस प्रकार भारत की जनसंख्या में लगभग ३० लाख ६ हजार प्रतिवर्ष के हिसाब से वृद्धि हुई है।

संसार है। सारे संसार का भ्रमण करने पर भी इस देश में कुछ नवीनता दिखलाई पड़ेगी। समूचे देश की जनसंख्या लगभग ४० करोड़ के रही है। गत दस वर्षों में यहाँ की आबादी १५ फ़ी सदी बढ़ी है। चीन के सिवाय यह देश संसार में सबसे बड़ा रहा है। रूस को छोड़कर यह सारे योरुप के बराबर था। बृटेन के बराबर बराबर इसके १५ टुकड़े किये जा सकते थे। समुद्र के किनारों की लम्बाई ५००० मील के लगभग है। इतना लंबा किनारा बहुत कम देशों को नसीब होगा। इन्हीं किनारों पर कराँची, बम्बई, मद्रास और कलकत्ता ऐसे बन्दरगाह हैं। १५ अगस्त १६४७ ई० को यह देश दो भागों में बाँट दिया गया। एक हिस्से का नाम भारतीय संघ (Indinn Union) और दूसरे का पाकिस्तान है। परिणाम स्वरूप इसका क्षेत्रफल, जनसंख्या तथा अनेकों बातों में विभाजन किया गया।

संसार की सबसे पवित्र नदी गंगा इसी देश में बहती है। इसकी प्रशंसा वेदों के अतिरिक्त यूनान के सबसे बड़े दार्शनिक सुकरात ने भी की है। जिस बौद्ध धर्म को आज भी संसार का आठवाँ भाग मान रहा है, उसका जन्मदाता भगवान बुद्ध इसी देश में पैदा हुए थे। कृष्ण ऐसे महापुरुष ने, जिनका दर्शन-शास्त्र संसार की सभी भाषाओं में अनुवादित हो चुका है, इसी देश में जन्म लिया था। संसार का सबसे महान् व्यक्ति महात्मा गाँधी यहीं निवास करते थे। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इस देश में कोई ऐसी विशेषता है जो महान् व्यक्तियों को उत्पन्न करती रहती है। समय के प्रवाह में यह देश आज पिछड़ा हुआ दिखाई पड़ता है, परन्तु इसका पिछला इतिहास सोने के अक्षरों में अभी तक हमारे सामने मौजूद है। विदेशियों ने भी मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की है। फ्रांसीसी यात्री बरनियर लिखता है, "यह हिन्दोस्तान एक ऐसा अथाह गड्ढा है जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारों ओर से अनेक रास्तों से आ आकर जमा होता है, और जिससे बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता।" सम्भव है हमें फिर वे दिन देखने को मिलें।

भौगोलिक दृष्टि से हिन्दोस्तान की स्थिति संसार के सभी देशों से अच्छी है। जापान की तरह यहाँ बार बार भूचाल और ज्वार भाटे नहीं आते। अफ्रीका की तरह यहाँ कोई रेगिस्तान नहीं है। इस देश की प्राकृतिक बनावट उस किले की तरह है, जिन पर दुश्मन का एक भी हमला काम नहीं कर सकता। उत्तर में २६००२ फीट ऊँचा हिमालय पर्वत है। इतना ऊँचा पहाड़ संसार के किसी भी देश में नहीं पाया

जाता। बाकी तीन तरफ अथाह समुद्र है। इन्हीं से सारे देश को पानी मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह देश उस स्थान पर बसा हुआ है जहाँ से संसार के सभी रास्ते गुजरते हैं। यही कारण है कि एक समय यह देश संसार भर से व्यापार करता था। यहाँ की बनी हुई चीजें दुनियाँ के बाजारों में चौगुनी कीमत पर बिकती थीं।* सड़कों का समूचे देश में एक जाल सा फैला हुआ है। नदियों के कारण व्यापार में और भी सुविधा होती है। कच्चे माल की जो सुविधा इस देश में पायी जाती है वह किसी और देश में नहीं मिलती। यदि यहाँ का कच्चा माल बाहर जाने से रोक दिया जाय तो योरुप के कितने ही देश गरीबी से तबाह हो जायँगे। यह देश संसार भर को जूट प्रदान करता है। दुनियाँ में जितनी चाय की खपत है उसका ६० फीसदी यहीं पैदा होता है। ६० फीसदी लाह संसार को यही देता है। इस देश को कच्चे माल का एक बहुत बड़ा कारखाना कहा जाय तो अनुचित न होगा।

सारा देश राज्यों और राज्य समूहों में बँटा हुआ है। प्रत्येक हिस्सा अपनी अपनी विशेषतायें रखता है। जिस प्रकार योरुप का एक निवासी अपने ही महाद्वीप में दूसरे देशवासियों की बोली नहीं समझता, उसी तरह हिन्दोस्तान के एक हिस्से का रहने वाला दूसरे भाग की बोली नहीं जानता। समूचे देश में २२५ भाषाएँ बोली जाती हैं। इस देश की बदनसीबी यह है कि सब से उपजाऊ होते हुए भी सब से गरीब है। अमेरिका रूस और हिन्दोस्तान—ये तीन संसार के सबसे धनी देशों में गिने जा सकते हैं। हिन्दी इस देश की मातृभाषा है। चीनी भाषा को छोड़कर इसके बोलने वाले संसार में सब से अधिक हैं। सारे भारतवर्ष में २५०० संस्थायें हिन्दी प्रचार का कार्य कर रही हैं। लगभग २३ करोड़ आदमी हिन्दी बोलते हैं। इस देश की जलवायु न अधिक ठंढी है और न गर्म। मध्यम दर्जे की गर्मी और सर्दी दोनों ही पड़ती है। साल में चार चार महीने के तीन मौसम होते हैं। ये क्रमशः एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। मौसमों का इतना सुन्दर क्रम किसी और देश में नहीं पाया जाता।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि इस देश की भौगोलिक परिस्थिति

---

* Ruins of the Indian Trade and Industries—B. D. Basu.

सर्वथा अनुकूल है। उन्नति के सभी साधन प्रकृति ने इसे दे रक्खा है। नदी, पहाड़, झील, समुद्र और जंगल, इनसे न केवल यहीं के निवासी, बल्कि संसार के बहुत से लोग लाभ उठाते हैं। इस देश की अच्छी से अच्छी लकड़ी अब तक विदेशों में भेज दी जाती थी। शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से इस देश की जलवायु व्यक्ति के लिए सर्वथा अनुकूल है। यहाँ का वातावरण धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत है। यहाँ के निवासियों का जीवन सरल और उनके विचार उच्च होते हैं। अधिकतर व्यक्ति गाँवों में निवास करते हैं। इन्हीं के अनुकूल इस देश का सामाजिक संगठन भी बनाया गया था, जो किसी न किसी रूप में आज भी दिखाई पड़ता है। ग्राम-पंचायतें इस देश की सबसे पुरानी संस्थायें हैं। अँगरेजी राज के पहले केन्द्रीय शासन कभी भी स्थानीय संगठनों में बाधा नहीं डालता था। पंचायतें स्वतंत्र रूप से राज्य करती थीं। सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की भावना दिखाई पड़ती थी। भौगोलिक स्थिति ने यहाँ के राष्ट्रीय जीवन को एक विशेष ढाँचे में ढाल दिया था।

अँगरेजों का आगमन

सर टामस रो १६१५ ई० में जहाँगीर के दरबार में आया। तब से बराबर अँगरेजों के आने का एक ताँता आरम्भ हुआ। १६०० ई० में एलिजाबेथ के समय में ईस्ट इंडिया-कम्पनी की स्थापना हुई। इस कम्पनी का उद्देश्य हिन्दोस्तान से व्यापार करना था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए तिजारती अंगरेज इस देश में लगातार आते रहे। उस समय इस देश की राजनीतिक परिस्थिति काफी अच्छी थी। औरंगजेब की मृत्यु तक, अर्थात् सन् १७०७ ई० तक यहाँ का शासन-प्रबंध बहुत ही सुदृढ़ और सर्वप्रिय था। किसी विदेशी के दिल में यह ख्याल तक नहीं आ सकता था कि मुगल राज्य का सितारा किसी दिन अस्त हो जायगा। पुर्तगीज, फ्रांसीसी, डच और अँगरेज सभी अपनी अपनी तिजारत में लगे हुए थे। व्यापार में एक दूसरे को दबा देने के लिए इनमें आपस में छोटी-मोटी लड़ाइयाँ भी होती रहीं। लेकिन ये लड़ाइयाँ औरंगजेब की मृत्यु के बाद आरम्भ हुईं। मुगलों में कोई ऐसा शासक नहीं हुआ जो इतने बड़े राज्य को चलाता। केन्द्रीय शासन कमजोर होने लगा। प्रान्तों के सूबेदार और नव्वाब मनमानी करने लगे।

इस बिगड़ती हुई राजनीतिक परिस्थिति से विदेशियों ने पूरा पूरा लाभ उठाया। इनके आपसी झगड़े दक्खिनी हिन्दोस्तान के कोने कोने

में फैल,. गये। हिन्दोस्तानियों ने भी इनमें हिस्सा लिया। अन्त में अँगरेजों की विजय हुई। १७५७ ई० में प्लासी की लड़ाई ने इस बात का फैसला कर दिया कि अंगरेज भारतीय व्यापार में सर्वेसर्वा हैं। १७६५ ई० में अँगरेजों को बंगाल की दीवानी मिली। उन्हें यह अधिकार मिला कि वे बंगाल प्रान्त की मालगुजारी वसूल कर सरकारी खजाने में भेज दें। इसके बदले में उन्हें कुछ हिस्सा दे दिया जाता था। अभी तक अँगरेज केवल व्यापारी समझे जाते थे, लेकिन १७६५ के बाद वे धीरे धीरे राजनीतिक मामलों में हाथ डालने लगे। ज्यों ज्यों इस देश का शासन-प्रबन्ध कमजोर होता गया, अँगरेजों को राजनीतिक मामलों में हाथ बटाने का मौका मिलता गया। परिणाम यह हुआ कि १८५७ ई० तक ईस्ट-इंडिया कम्पनी हिन्दोस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से का मालिक बन गई। भारतवासियों ने होश सँभाला और १८५७ ई० में अपनी खोई हुई आजादी हासिल करने का एलान किया। इस युद्ध को अँगरेज गदर के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में यह स्वतंत्रता का प्रथम युद्ध था। भारतवासी इसमें असफल रहे। १८५८ में ईस्ट-इंडिया कम्पनी तोड़ दी गई। इंगलैंड की पार्लियामेंट ने भारतीय शासन का भार अपने हाथों में ले लिया। तब से यही पार्लियामेंट इस देश का शासन करती रही है। १५ अगस्त १९४७ को बृटिश पार्लियामेंट ने भारतीय संघ और पाकिस्तान दोनों को पूर्ण स्वतन्त्रता देकर अपने ९० वर्ष के शासनाधिकार को समाप्त कर दिया।

ऐतिहासिक विभाग

अमेरिका की शासन-पद्धति की तरह भारतवर्ष का शासन-विधान एक या दो दिन में नहीं बनाया गया है। कहा जाता है कि अमेरिका की शासन-पद्धति को २० मिनट में कोई भी पढ़ सकता है। १७८३ ई० में वहाँ की शासन-पद्धति का निर्माण किया गया था। भारतवर्ष की शासन-पद्धति इतनी सूक्ष्म नहीं है। इसे समझने के लिए काफी समय और सामग्री की आवश्यकता है। इसका विकास क्रमशः हुआ है। हिन्दू और मुसलमानी जमाने में जो शासन-पद्धति यहाँ थी उसका वर्णन करना हमारी इस पुस्तक के बाहर की चीज है। हमें यही देखना है कि वर्तमान स्वतन्त्र भारत की शासन-पद्धति का विकास कैसे हुआ है। किस समय यह शासन-पद्धति बनी, कब कब इसमें परिवर्तन किए गए और वर्तमान शासन-पद्धति किन सीढ़ियों से होकर आज स्थापित की गई है।

साथ ही हम यह भी देखेंगे कि नये शासन-विधान का स्वरूप कैसा है और इसमें कौन कौन सी त्रुटियाँ हैं।

भारतीय शासन-पद्धति के विकास का वर्णन करते हुए १९०६ ई० में ३ दिसम्बर को ब्रिटिश सम्राट् की ओर से एक विवरण प्रकाशित किया गया था, जिसका आशय निम्नलिखित है :—

"१७७३ और १७८४ ई० में जो कानून पास किए गये थे, उनका आशय हिन्दोस्तान में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की मातहती में एक सुव्यवस्थित शासन पद्धति की स्थापना करना था। १८३३ ई० के कानून ने भारतवासियों के लिए नौकरी आदि का दरवाजा खोल दिया। १८५८ के कानून ने भारतवर्ष का शासन-प्रबन्ध कम्पनी के हाथ से सम्राट् के हाथ में दे दिया। उसी समय जनता को बहुत से अधिकार, जो अभी तक मौजूद हैं, दिए गये थे। १८६१ ई० के कानून ने प्रतिनिधित्व शासन की नींव डाली। १९०९ ई० के कानून के अनुसार भारतीयों के अधिकार की और भी वृद्धि हुई।" १९१९ के कानून ने भारतीय प्रतिनिधियों को शासन में बहुत बड़ा हिस्सा देकर यह स्पष्ट कर दिया कि किस प्रकार वे प्रान्तीय स्वराज से बढ़ते बढ़ते पूर्ण स्वराज प्राप्त कर सकते हैं। १९३५ ई० के शासन-विधान ने भारतवासियों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता की पूरी बागडोर सौंप दिया। १९४७ ई० की स्वतन्त्रता की घोषणा के अनुसार गत शासन-पद्धति स्वतन्त्र भारतीय संघ की पहली नवीन पद्धति थी। १९५० का नया संविधान भारतीय राष्ट्र का प्रथम स्वतन्त्र सविधान है।

अध्ययन की सुविधा के लिए भारतीय शासन के विकास को हम चार भागों में बाँट सकते हैं। पहले काल में कम्पनी केवल व्यापारिक संस्था थी। धीरे धीरे वह एक बहुत बड़े राज्य का मालिक बन बैठी। दूसरे काल में पार्लियामेंट ने शासन-प्रबन्ध का भार अपने हाथ में ले लिया और एक दृढ़ केन्द्रीय शासन की स्थापना की। तीसरे काल में भारतवासियों को शासन-प्रबन्ध में थोड़ा बहुत अधिकार दिया गया जो प्रान्तीय स्वराज के नाम से सूचित किया जाता है। चौथा काल १५ अगस्त १९४७ ई० से आरम्भ होता है जो भारतीय स्वतन्त्रता का जन्म दिन है।

प्रथम काल (१७५७—१८५८)

ऊपर कहा गया है कि ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की स्थापना १६०० ई० में हुई थी। इसका उद्देश्य भारतवर्ष से केवल व्यापार करना था। कुछ

लोगों की यह धारणा है कि आरम्भ में ही अँगरेजों का उद्देश्य एक राज्य की स्थापना करना था, लेकिन यह बात सरासर गलत है। इंगलैंड और हिन्दोस्तान के इतिहास को देखते हुए, इस कथन को कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता। दक्षिणी हिन्दोस्तान में कम्पनी ने अपना । व्यापार आरम्भ किया। मुगल-साम्राज्य धीरे-धीरे कमज़ोर हो रहा था। प्रान्तो के हाकिम मनमानी करने लगे थे। कम्पनी ने शासन की कमजोरी से काफी लाभ उठाया। उसके नौकर राजनीतिक मामलों में हाथ डालने लगे। धीरे-धीरे उनकी तिजारत भी बढ़ती गई। इसलिए कम्पनी का दबदबा दक्षिणी हिन्दोस्तान में बढ़ने लगा। उधर १७६५ ई० में बंगाल की दीवानी ले लेने से कम्पनी को काफी मुनाफा होने लगा। उसे अपनी तिजारत में उतना फायदा नहीं था जितना बंगाल की लगान-वसूली में। प्रजा से मनमाना धन वसूल करने में कम्पनी ने कोई कसर बाकी न रक्खी। अब उसे इस बात का चस्का लगा कि इसी तरह और भी सूबों में अधिकार प्राप्त किये जायें। नतीजा यह हुआ कि दक्खिनी हिन्दोस्तान में वर्षों तक तिजारत का बहाना लेकर लड़ाइयाँ चलती रहीं।

१७७३ ई० का चार्टर ऐक्ट

राज्य की स्थापना तो कम्पनी ने कर दिया लेकिन उसके पास शासन-प्रबन्ध की सामग्री काफी नहीं थी। बंगाल के गवर्नर ने ११ नवम्बर १७७३ ई० के एक पत्र में यह लिखा कि 'जो कुछ भी जगह कम्पनी के अधिकार में आ गई है उसके प्रबन्ध का कोई माकूल इन्तजाम नहीं है।' उसने यह भी प्रगट किया कि जल्दी से जल्दी एक ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिससे शासन का कार्य चलाया जाय। इगलैंड की पार्लियामेंट ने १७७३ ई० में रेग्यूलेटिङ्ग ऐक्ट (Regulating Ac') पास करके हिन्दोस्तान में एक गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिल के लिये विधान बनाया। कलकत्ते में फोर्ट विलियम के स्थान पर एक न्यायालय भी इसी ऐक्ट के अनुसार स्थापित किया गया। मद्रास और बम्बई के गवर्नर अपना सब काम गवर्नर-जनरल की सलाह से करने लगे। पार्लियामेंट को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह कम्पनी के मामलों में हाथ डाल सके। गवर्नर-जनरल को सलाह देने के लिए ४ सदस्यों की एक सभा बनाई गई। इसका उद्देश्य यह था कि जो कुछ राज्य कम्पनी के हाथ में आ गया है उसे अच्छी तरह चलाया जाय। साथ ही और भी नई नई जगहें शामिल की जायँ।

१७८४ में पिट इडिया बिल पास किया गया। अब तक कोर्ट आफ

पिट्स इण्डिया बिल १७८४

डारेक्टर कम्पनी के कामों की देख रेख करते थे, लेकिन इस ऐक्ट के अनुसार एक नये संगठन का जन्म हुआ जिसका नाम बोर्ड आफ कन्ट्रोल रक्खा गया। अब से कम्पनी की कार्रवाइयों की देख-रेख बोर्ड आफ कन्ट्रोल और कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स दोनों करने लगे। यह भी कहा जा सकता है कि एक प्रकार से कम्पनी के लिये दोहरा शासन स्थापित किया गया। यह दोहरा प्रबन्ध १८५८ ई० तक चलता रहा। वैसे तो यह कहा गया कि १७८४ के कानून का उद्देश्य हिन्दोस्तान में अच्छे शासन की नीव डालना है, परन्तु इसका उद्देश्य हिन्दोस्तान में अँगरेजी राज को और दृढ़ करना था। कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स में थोड़े से सदस्यों की एक गुप्त सभा थी। हिन्दोस्तान के गहरे मामलों पर यही सभा विचार करती थी। शासन-प्रबन्ध का भार आने से कम्पनी की जिम्मेदारी हिन्दोस्तान में बढ़ती जा रही थी। गुप्त सभा के काम बड़ी जिम्मेवारी के थे और वे क्रमशः बढ़ रहे थे। बोर्ड आफ कन्ट्रोल को यह अधिकार दिया गया कि वह हिन्दोस्तान के राजनीतिक मामलों में गहराई के साथ विचार करे और अपनी राय गुप्त सभा को दे। कम्पनी के अधिकारी हिन्दोस्तान में किसी तरह की लड़ाई या सुलह तब तक नहीं कर सकते थे, जब तक वे बोर्ड आफ कन्ट्रोल से इसकी आज्ञा प्राप्त न कर लें। इस सभा में ६ सदस्य थे। सम्राट् ने इन्हें इसीलिये नियुक्त किया था कि वे हिन्दोस्तान के सारे मामलों की जानकारी रक्खें और उन पर अपनी उचित राय दें। यह पहला ऐक्ट था जिसने पार्लियामेंट को हिन्दोस्तान के राजनीतिक मामलों में हाथ डालने का अवसर दिया। यदि बोर्ड आफ कन्ट्रोल और कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स में कोई मतभेद उत्पन्न हो जाता तो सम्राट् इसका फैसला करता था। इस ऐक्ट के अनुसार सम्राट् को यह अधिकार दिया गया कि वह गवर्नर जनरल को जब चाहे हिन्दोस्तान से वापस बुला ले। गवर्नर-जनरल और उसकी सभा को बहुत से अधिकार प्रदान किये गये।

१८१३ का चार्टर ऐक्ट

१७९३ ई० में एक नया कानून पास किया गया। ईस्ट-इंडिया कम्पनी को ही पूर्वीय देशों में व्यापार करने का अधिकार था। इस ऐक्ट में यह अधिकार कम्पनी को २० साल के लिये और दे दिया गया। गवर्नर-जनरल के अधिकारों में और वृद्धि की गई। वह अपनी कौन्सिल के फैसले को रद्द कर सकता था। सूबों के गवर्नर बिना उसकी आज्ञा के

कोई लड़ाई या सन्धि नहीं कर सकते थे। १८०० ई० तक गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल जो कुछ नियम बनाते थे, अन्य प्रान्तों के गवर्नरों को उनका पालन करना पड़ता था। उन्हें कोई कानून बनाने का अधिकार न था। १८०० ई० में मद्रास प्रान्त के गवर्नर को यह अधिकार दिया गया कि वह शासन को चलाने के लिए एक छोटी कौन्सिल द्वारा कानून बना सकता है। इसी तरह का अधिकार बम्बई के गवर्नर को १८०७ में दिया गया। १८१३ ई० में एक दूसरा नियम पार्लियामेंट ने पास किया जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि भारतवर्ष में कम्पनी जो कुछ राज्य स्थापित कर रही है उसकी प्रभुता सम्राट् के हाथ में रहेगी। सारी अँगरेज-जाति को यह आज्ञा दी गई कि जो चाहे हिन्दोस्तान से व्यापार कर सकता है। लेकिन चाय की तिजारत हिन्दोस्तान में कम्पनी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता था। कम्पनी को छोड़कर चीन से तिजारत करने की आज्ञा किसी को न थी। इसी कानून के अनुसार पहले पहल हिन्दोस्तान में बड़े पादरी का एक स्थान बनाया गया। पार्लियामेंट ने यह निश्चित किया कि कम्पनी अपनी आमदनी में से एक लाख रुपया प्रतिवर्ष शिक्षा के लिए खर्च करे।

१८३३ का चार्टर ऐक्ट

१८३३ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को फिर बीस वर्ष के लिये अधिकार-पत्र दिये गए। कम्पनी से चीन के साथ व्यापार की बपौती छीन ली गई। अब चीन के साथ व्यापार करने की आज्ञा सभी इंगलैण्ड निवासियों को दे दी गई। टी० बी० मेकाले लिखता है, "कम्पनी से इस बपौती को तोड़कर यह आवश्यक कर दिया गया है कि उसके संगठन में परिवर्तन किया जाय।" इस ऐक्ट में यह भी निश्चित किया गया कि अब से कम्पनी केवल ठेकेदार संस्था की तरह रहेगी। लार्ड मेकाले का कहना है कि, "१७८४ और १८५८ ई० के बीच में जितने भी ऐक्ट पास किए गये उनमें १८३३ ई० का नियम भारतीय सरकार के लिए सब से महत्वपूर्ण है।" इसके अनुसार मुख्य ६ बातें निश्चित की गईं :—

(१) चीन के साथ व्यापार करने का अधिकार सभी अँगरेजों को एक समान दिया जाय।

(२) कम्पनी जितनी भी भूमि हिन्दोस्तान में अपने अधिकार में रक्खेगी उस पर एक मात्र अधिकार बृटेन के सम्राट् तथा उनकी सन्तान का होगा।

(३) बम्बई और मद्रास के गवर्नरों से कानून बनाने का अधिकार छीन लिया गया। केवल गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को यह अधिकार दिया गया कि वह सारे हिन्दोस्तान के लिये कानून बनाए।

(४) गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक सदस्य और बढ़ा दिया गया। तीन के बदले अब उसमें चार सदस्य हो गये। नये सदस्य का कार्य यह था कि गवर्नर-जनरल को कानून बनाने में मदद दे। इसका नाम कानूनी मेम्बर (Law Member) था। लार्ड मेकाले पहिला कानूनी मेम्बर बनाया गया।

(५) भारतीय कानूनों में संशोधन करने के लिए लार्ड मेकाले की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया गया।

(६) हिन्दोस्तानियों को यह आश्वासन दिया गया कि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की नौकरी के लिये रूप, रंग, धर्म, जाति इत्यादि का भेद-भाव नहीं किया जायगा।

इङ्गलैण्ड से कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच में कोई भी पत्र-व्यवहार बिना बोर्ड आफ कन्ट्रोल की जानकारी के नहीं हो सकता था। बंगाल का गवर्नर सारे हिन्दोस्तान का गवर्नर-जनरल बना दिया गया। एक नई प्रेसीडेन्सी कायम करने के लिये, जिसकी राजधानी आगरे में हो, एक योजना बनाई गई। परन्तु दो वर्ष बाद यह विचार स्थगित कर दिया गया। बंगाल के गवर्नर को, जो अब सारे हिन्दोस्तान का गवर्नर-जनरल हो गया था, बंगाल के लिए एक सहायक गवर्नर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। मद्रास और बम्बई के लिए दो पादरी नियुक्त किए गए। कानून बनाने का अधिकार केवल गवर्नर-जनरल और उसकी कौन्सिल को देकर कानूनी अधिकार केन्द्रित कर दिया गया। केन्द्रीय शासन की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी।

१८५३ का चार्टर ऐक्ट

१८५३ ई० के ऐक्ट के अनुसार ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापारी संस्था के बदले राज्य करने वाली शक्ति मान ली गई। इस ऐक्ट के अनुसार कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के १८ सदस्यों में से ६ सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार सम्राट् को दिया गया। गवर्नर-जनरल की कौन्सिल में एक सदस्य और बढ़ा दिया गया। इसके अतिरिक्त कानून बनाने के लिए ६ विशेष सदस्यों की नियुक्ति की गई। बंगाल में एक

लेफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त किया गया। इङ्गलैण्ड में भारतीय कानूनों पर विचार करने के लिए एक कमीशन बनाया गया। सिविल सर्विस का दरवाजा सबके लिये मुकाबले की बुनियाद पर खोल दिया गया।

उपरोक्त ऐक्ट को पास हुए अभी पूरे पाँच साल भी न हुए थे कि हिन्दोस्तान में एक बड़ी क्रान्ति आरम्भ हुई। यह १८५७ ई० के ग़दर के नाम से प्रसिद्ध है। इसके विषय में ऐतिहासिकों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ का कहना है कि यह एक सिपाही-विद्रोह था। लेकिन दूसरे लोग यह साबित करते हैं कि यह हिन्दोस्तान की आजादी की पहिली लड़ाई थी, जिसमें हिन्दोस्तानियों ने तलवार और बन्दूक की मदद से अपने मुल्क को आजाद करने का बीड़ा उठाया था। जो कुछ भी हो हिन्दोस्तानियों को हारना पड़ा। हजारों देश-वासिओं और विदेशियों की जानें गईं। इसने इङ्गलैण्ड की सरकार को चौकन्ना कर दिया। उसे यह विश्वास हो गया कि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का शासन हिन्दोस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। यहीं से भारतीय शासन का दूसरा युग आरम्भ होता है।

द्वितीय काल (१८५८—१९१८)

१८५८ का चार्टर ऐक्ट

१८५८ ई० में पार्लियामेन्ट ने एक नया ऐक्ट पास किया। मुगल-राज्य का सितारा हमेशा के लिए डूब गया। मुगल सम्राट वहिष्कृत कर दिया गया और उसकी सारी शक्ति बृटेन के सम्राट को दे दी गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय शासन से अलग कर दी गई। इङ्गलैण्ड की पार्लियामेन्ट ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। उसने यह घोषणा की अब से हिन्दोस्तान का राज्य सम्राट के हाथों में सुपुर्द कर दिया जाता है। एक भारत मन्त्री की नियुक्ति की गई। बोर्ड आफ कन्ट्रोल और कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के सारे अधिकार उसे दे दिए गये। १५ सदस्यों की कौन्सिल आफ इण्डिया नामक एक सभा बनाई गई जिसका कार्य भारतीय शासन को चलाना और भारत-मन्त्री को सभी प्रकार से सहायता देना था। पार्लियामेंट हिन्दोस्तान के लिए सर्वेसर्वा बन बैठी।

वैसे तो पार्लियामेंट ने भारतीय शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली, परन्तु उसे भारतीय मामलों का अनुभव बिलकुल न था। उसे हिन्दोस्तान के मामलों में कोई खास दिलचस्पी न थी। इङ्गलैण्ड स्वयं

अपने घरेलू मामलों में लगा हुआ था। पार्लियामेन्ट के सामने आयरलैंड और योरप की समस्याएँ पड़ी हुई थीं। ऐसी दशा में यह सम्भव नहीं था कि वह ८००० मील दूर हिन्दोस्तान के शासन में दिलचस्पी लेतीं।* पार्लियामेन्ट के सदस्य भारतीय रहन-सहन से परिचित न थे। आवागमन की सुविधा भी आजकल जैसी न थी। हिन्दोस्तान में पाश्चात्य रहन-सहन अपना घर बना रही थी। इन्हीं सब बातों का विचार करते हुए पार्लियामेन्ट ने भारत-मन्त्री की नियुक्ति की, और उसे यह आज्ञा दी कि वह प्रति वर्ष हिन्दोस्तान के आर्थिक तथा सामाजिक विषयों पर एक रिपोर्ट पार्लियामेन्ट के सामने पेश करे। उसे यह भी आदेश दिया गया कि वह हर साल हिन्दोस्तान की आय-व्यय का ब्योरा पार्लियामेन्ट के सामने रक्खे, भारत-मन्त्री की सहायता के लिए जो १५ सदस्यों की एक कौंसिल बनाई गई उसमें ८ सदस्यों को सम्राट ने और बाकी को कम्पनी के डाइरेक्टरों ने नियुक्त किया। यह भी तय किया गया कि यदि कौन्सिल (India Council) में कोई जगह खाली हो तो उसकी भर्ती सम्राट करेगा। कौन्सिल के सदस्य तब तक नहीं हटाये जा सकते थे जब तक पार्लियामेन्ट की दोनों सभाएँ इसके लिए सम्राट् के सामने नम्र निवेदन पेश न करती। सदस्यों को राजनीतिक मामलों से अलग रखने के लिए यह आज्ञा दी गई कि वे पार्लियामेन्ट में नहीं बैठ सकते।

कौन्सिल का काम भारत मन्त्री को सलाह देना था। यदि वह चाहता तो कौन्सिल के फैसले को रद्द कर सकता था। केवल भारतीय कर के मामले में वह कौन्सिल के फैसले को नहीं बदल सकता था। असल बात यह थी कि कौन्सिल के सदस्यों को भारत-मन्त्री ही नियुक्त करता था। सम्राट् केवल नाम मात्र के लिये था। इससे वे उसकी इच्छा के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। गुप्त बातों में भारत-मन्त्री स्वयं हिन्दुस्तान से पत्र-व्यवहार करता था। इसमें कौन्सिल का कुछ भी हाथ न था। हिन्दोस्तान का कर्त्ता धर्त्ता भारत-मन्त्री ही बनाया गया। १८५८ के ऐक्ट के अनुसार सारे प्रबन्ध उसके हाथ में दे दिए गए। देश की रक्षा तथा आमदनी और खर्च की पूरी जिम्मेवारी उसे सौंप दी गई।

हिन्दोस्तान के गवर्नर-जनरल को यह आज्ञा दी गई कि वह सभी मामलों में भारत-मन्त्री की आज्ञाओं का पालन करे। यह बात दोनों शासकों की योग्यता पर निर्भर थी। यदि गवर्नर-जनरल स्वयं इतना

---

* स्वेज नहर का रास्ता खुलने के पहले यह दूरी ११००० मील थी।

योग्य होता कि भारत-मन्त्री उसके ऊपर तरह-तरह का हुक्म लादना उचित नहीं समझता, तो वह अपने कार्य के लिए बहुत कुछ स्वतन्त्र था। शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से उसका स्थान भारत-मन्त्री से कहीं ऊँचा था। क़ानूनन गवर्नर-जनरल को भारत मन्त्री की आज्ञा मानना आवश्यक था। यदि दोनों की रायो मे अन्तर पड़ता तो गवर्नर-जनरल को झुकना पड़ता था। इसके दो उदाहरण भारतीय इतिहास में मौजूद हैं। लार्ड मेयो तथा लार्ड नार्थब्रुक के समय में पार्लियामेंट ने यह स्पष्ट कर दिया की भारतीय सरकार सभी तरह घरेलू सरकार की मातहती में है। फिर भी इन दोनों के सम्बन्ध के विषय में कहा गया था कि शिमला और पार्लियामेन्ट का सम्बन्ध निश्चित नहीं था।*

केन्द्रीय सरकार की वृद्धि
Centralisation of power

शासन की बागडोर पार्लियामेन्ट के हाथ में जाने से गवर्नर-जनरल के पद में एक बहुत बड़ी तब्दीली हुई। अब वह हिन्दोस्तान का वाइसराय कहलाने लगा। उसकी जिम्मेवारी बढ़ा दी गई। इसलिये यह जरूरी था की उसकी कौंसिल भी कुछ बड़ी कर दी जाय। १८३३ ई० में तीन के बदले चार सदस्य कर दिये गये थे। क़ानूनी मामले में नया सदस्य गवर्नर-जनरल को सलाह देता था। १८५३ ई० तक वह कौंसिल में केवल कानून बनाने के लिये उपस्थित हो सकता था। १८५३ ई० में उसे कौंसिल का एक साधारण सदस्य घोषित कर दिया गया। १८६१ ई० में पर्लियामेन्ट ने एक नया कौंसिल ऐक्ट पास किया, जिसके अनुसार एक अर्थ-सदस्य की नियुक्ति की गई। १८७४ ई० में कौंसिल में एक और सदस्य बढ़ा दिया गया जिसके जिम्मे सरकारी इमारतों की देख-रेख का काम सौंपा गया। कौंसिल का प्रत्येक सदस्य किसी विभाग का प्रधान होता था। गवर्नर-जनरल को यह अधिकार था कि वह कौंसिल के फैसले को रद्द कर सके।

१७७३ ई० के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट से हिन्दोस्तान का शासन-प्रबन्ध केन्द्रित होने लगा था। शासन का भार धीरे धीरे केन्द्रीय सरकार के हाथों में आने लगा। प्रान्तीय सरकारों की शक्ति घटने लगी। प्रान्तों के गवर्नर केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट मात्र रह गये। शासन-प्रबन्ध में

* In practice, however, the relations between Simla and Whitehall varied with the personal equation.

प्रान्तीय सरकारों को यह आज्ञा थी कि वे गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के हुक्म की तामील करते रहें। साथ ही उन्हें हर मामले की सूचना केन्द्रीय सरकार को देनी पड़ती थी। प्रान्त की सरकारें, केन्द्रीय सरकार की आज्ञा के बिना ऋण नहीं ले सकती थीं। नये टैक्स लगाने के लिये उन्हें केन्द्रीय सरकार से आज्ञा लेनी पड़ती थी। कोई भी बिल गवर्नर की कौंसिल में तब तक पेश नहीं हो सकता था जब तक गवर्नर जनरल की आज्ञा न ले ली जाती। बिल पास हो जाने पर भी अन्तिम निर्णय गवर्नर-जनरल का ही होता था। एक राजनीतिज्ञ ने लिखा है, "आर्थिक राजनीतिक तथा क़ानूनी दृष्टियों से १९०९ ई० के पहले केन्द्रीय सरकार की शक्ति बड़ी ही जोरदार थी।" प्रान्तों के शासक उसी की आज्ञा पर चलते थे। वह किसी भी समय उनके अधिकार छीन सकती थी।

धारा सभाओं का विकास

१८३३ का चार्टर ऐक्ट

शासन के द्वितीय काल (१८५८-१९१८) में धारा सभाओं का भी विकास हुआ। आरम्भ में कार्य-कारिणी और धारा-सभा में कोई अन्तर न था। जब कभी कोई क़ानून बनाना होता तो गवर्नर-जनरल या प्रान्तों के गवर्नर कुछ विशेष व्यक्तियों से सलाह ले लिया करते थे। १८३३ ई० में पहिली बार एक कानूनी मेम्बर गवर्नर-जनरल की कौंसिल में भर्ती किया गया। यहीं से कानून बनाने का कार्य कार्यकारिणी से अलग समझा जाने लगा। १८५३ ई० में ६ मेम्बर गवर्नर-जनरल की कौंसिल में और भर्ती किये गये। इनका एकमात्र कार्य कानून बनाने में उसकी मदद करना था। इनमें दो बंगाल की बड़ी कचहरी (Bengal Supreme Court) के जज थे और बाकी मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा की सरकारों द्वारा नियुक्त किये गये थे। यही सभा बढ़ते बढ़ते केन्द्रीय सरकार की धारा सभा बन गई।

१८६१ का चार्टर ऐक्ट

१८६१ ई० के इंडियन कौंसिल ऐक्ट के अनुसार ६ सदस्य और भर्ती किये गये। अर्थात् कानूनी मामलों में गवर्नर-जनरल को सलाह देने के लिये सदस्यों की संख्या अब १२ कर दी गई। इनमें ६ सदस्य किसी सरकारी विभाग में काम नहीं कर सकते थे। कुछ हिन्दोस्तानियों को भी इसमें हिस्सा लेने का अवसर मिला। इस ऐक्ट के अनुसार मद्रास और बम्बई

प्रान्तों की सरकारों को कानून बनाने का वह अधिकार, जो १८३३ ई० में उनसे छीन लिया गया था, पुनः प्रदान किया गया। लेकिन ये अधिकार नाममात्र के थे। उन्हें कानूनी मामलों में बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं दी गई थी। गवर्नर-जनरल की आज्ञा लेकर वे कोई क़ानून धारा सभा में पेश कर सकते थे और फिर उसकी पुष्टि केन्द्रीय सरकार से कराते थे। लार्ड मेकडानल्ड के शब्दों में "प्रान्तीय धारा सभाएँ कानून बनाने के लिये छोटी-छोटी कमेटियाँ थीं।" उन्हें यह अधिकार न था कि वे कार्य-कारिणी के कामों में हस्तक्षेप करें।

१८९२ का चार्टर ऐक्ट

१८९२ ई० में फिर एक इंडियन कौंसिल्स ऐक्ट पास किया गया। इसके अनुसार केन्द्रीय धारा सभा में सदस्यों की संख्या १२ से १३ कर दी गई। गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। बड़ी-बड़ी संस्थाओं को इस बात का अवसर दिया गया कि वे अपनी इच्छानुसार धारा सभाओं के लिये लोगों के नाम सरकार के सामने पेश करें। यद्यपि सरकार उन्हें स्थान देने के लिये वाध्य न थी, फिर भी उन्हीं में से लोग नियुक्त किये जाते थे। उस समय "चुनाव" की प्रथा न थी। अप्रत्यक्ष रूप से सदस्यों की भरती में प्रजा की राय ले ली जाती थी।

१९०९ का मार्ले मिन्टो सुधार

१९०९ ई० के मार्ले मिन्टो सुधार ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय धारा सभाओं में और भी परिवर्तन किया। सदस्यों की संख्या और उनकी जिम्मेवारी पहले से अधिक कर दी गई। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। धारा-सभा के सदस्यों को अधिकार दिया गया कि वे सरकार से कोई भी प्रश्न पूछ सकते हैं, तथा बजेट के ऊपर वादाविवाद कर सकते हैं। लार्ड कर्जन की नीति से भारतीय प्रजा बहुत ही नाराज थी। १९०५ में बंगाल को दो टुकड़ों में बाँटने का जो प्रश्न उठाया गया था, उससे न केवल बंगाल बल्कि सारे हिन्दुस्तान की प्रजा असन्तुष्ट थी। १९०५ में अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी का २१ वाँ वार्षिकोत्सव काशी में हुआ। इसमें बंगाल के टुकड़े करने की नीति का बुरी तरह विरोध किया गया। १९०६ ई० में काँग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव में यह पास किया कि सम्पूर्ण देश की आवाज बृटिश शासन की नीति के विरुद्ध है।*

---

* यह देखते हुये कि देश के शासन में यहाँ के लोगों का कोई हाथ नहीं है और वे सरकार से जो प्रार्थनायें करते हैं उन पर उचित रूप से

असन्तोष को दूर करने के लिये १९०९ ई० में बृटिश सरकार को भारतीय शासन में सुधार की आवश्यकता महसूस हुई। चुनाव का सिद्धान्त भी इस समय स्वीकार किया गया। मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन प्रदान किया गया। धारा-सभा के सदस्यों को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वे सरकार के कामों की उचित टीका-टिप्पणी कर सकते हैं। किन्तु अभी तक भारतीय प्रजा को शासन की वास्तविक जिम्मेवारी नहीं दी गई थी। सुधार का जन्मदाता लार्ड मार्ले स्वयं इस बात की ताईद करता है कि बृटिश सरकार की नियत बिलकुल नहीं थी कि भारतीय प्रजा को शासन की जिम्मेवारी दी जाय।

इस सुधार के अनुसार वाइसराय की कार्यकारिणी सभा में एक हिन्दोस्तानी को भी स्थान दिया गया। सत्येन्द्र प्रसाद सिनहा, जिन्हें आगे चल कर लार्ड की उपाधि दी गई, पहिले पहिल इसके सदस्य बनाये गये। प्रान्तों की कार्यकारिणी सभाओं में इसी प्रकार के स्थान निश्चित कर दिये गये। ऊपर कहा गया है कि भारतीय प्रजा के असन्तोष को दूर करने के लिए इस सुधार की योजना बनाई गई थी। परन्तु इसका परिणाम सन्तोष-जनक नहीं हुआ। कार्य-कारिणी पहिले की तरह कमजोर और विदेशी बनी रही। केन्द्रीय सरकार का दबदबा प्रान्तीय सरकारों पर कम न हुआ। भारत-मंत्री के अधिकारों में कोई कमी नहीं की गई। प्रान्तीय सरकारों को आर्थिक क्षेत्र में थोड़ा भी हक प्राप्त न हुआ। अपने खर्च के लिये उन्हें केन्द्रीय सरकार का मुँह ताकना पड़ता था।

भारत में राजनीतिक असन्तोष और सहयोग की नीति :—

बृटिश राज्य की जड़ धीरे-धीरे मजबूत होती जा रही थी। शासन के सभी क्षेत्रों में केन्द्रीय सरकार की शक्ति दृढ़ हो रही थी। इसका प्रभाव देश की आम जनता पर बहुत ही बुरा पड़ रहा था। हिन्दोस्तानियों के दिलों में अँग्रेजी राज्य के प्रति अश्रद्धा के साथ देश में राष्ट्रीय भावना फैल रही थी। शासन की एकता, अँग्रेजी शिक्षा, अँग्रेजी साहित्य और इतिहास, आवागमन की सुविधा, तथा सबसे बढ़कर अँग्रेजी भाषा ने राष्ट्रीयता को आगे बढ़ाया। पाश्चात्य देशों की प्रजातन्त्र भावना तथा योरप और अमेरिका आदि स्वतंत्र देशों के इतिहासों ने

ध्यान नहीं दिया जाता है, इस काँग्रेस की राय है कि बंग-विच्छेद के विरोध में उस प्रान्त में जो वहिष्कार का आन्दोलन चलाया गया वह न्याय-संगत था और है।

हिन्दोस्तानियों के दिलों में वर्तमान राष्ट्रीय जीवन का संचार किया। आरम्भ में यह भावना एक छोटे से दायरे में सीमित थी, लेकिन अब उसका क्षेत्र धीरे धीरे बढ़ने लगा। जिस काँग्रेस की नींव अँग्रेजी सरकार से छोटी छोटी बातों की माँग पेश करने के लिये डाली गई थी वही काँग्रेस अँग्रेजी सरकार से टक्कर लेने का दावा करने लगी।

अँग्रेजी शासन का प्रभाव हिन्दोस्तानियों पर क्या पड़ रहा था, इसका ज्ञान अँग्रेजों को पूरी तौर से न था। ज्यों ज्यों अँग्रेजी शासन दृढ़ होता जाता था, और शासन की मशीन शान्ति उत्पन्न करती जाती थी, त्यों-त्यों हिन्दोस्तान में राष्ट्रीयता की लहर बढ़ती जा रही थी। देश में नई-नई समस्यायें पैदा होने लगी थीं।

एक ओर देश में राष्ट्रीयता की लहर फैल रही थी, परन्तु दूसरी ओर बृटिश सरकार अपनी नीति को बदलने के लिए तैयार न थी। वह नहीं चाहती थी कि शासन में अधिक से अधिक हिन्दोस्तानियों का हाथ हो। इसलिये उसने 'सहयोग' की एक नई नीति का आश्रय लिया। इसका तात्पर्य यह था कि कुछ थोड़े से हिन्दोस्तानियों को शासन-प्रबन्ध में शामिल कर लिया जाए। बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियों में इने गिने हिन्दोस्तानी भर्ती कर लिए गए। गवर्नरों तथा गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी सभाओं में हिन्दोस्तानियों की संख्या कुछ और बढ़ा दी गई। समय-समय पर धारा सभाओं में भी हिन्दोस्तानियों की संख्या बढ़ाई गई। परन्तु केवल 'सहयोग' की नीति से हिन्दोस्तानी संतुष्ट नहीं हो सकते थे। इस नीति की विफलता स्पष्ट भी होने लगी।

१९१७ का घोषणा पत्र

इसी बीच १९१४ में योरप में एक भयंकर युद्ध आरम्भ हुआ। इस बड़ी लड़ाई ने सब का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हिन्दोस्तानियों ने दिल खोल कर बृटिश सरकार की मदद की। राजा-महाराजाओं ने भी धन और जन दोनों से सरकार की मदद की। हिन्दोस्तानी सिपाहियों ने इंगलैंड और फ्रांस में जिस वीरता का परिचय दिया उसकी सराहना अँग्रेजों ने भी की है। बृटिश सरकार ने यह मान लिया कि हिन्दोस्तानियों ने ऐसे कठिन समय में उसकी सहायता की। बृटिश अधिकारी लड़ाई के जमाने में यह एलान कर चुके थे कि "यह लड़ाई संसार में एकता, स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन के लिए लड़ी जा रही है।" इन शब्दों को सुन कर हिन्दोस्तानियों के दिलों में बड़ी-बड़ी

आशायें पैदा हो रही थीं। मांटेग्यू साहब ने, जो उस समय भारत-मन्त्री थे, अपनी सहानुभूति दिखलाने के लिए २० अगस्त सन् १६१७ ई० को एक घोषणा की। इसका आशय यह था कि हिन्दोस्तानियों को क्रमशः स्वतन्त्रता की ओर बढ़ने का अवसर मिलता जायेगा। घोषणा पत्र इस प्रकार था :—

"बृटिश सरकार की यह नीति है, और उससे भारत सरकार पूरी तरह सहमत है, कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो, जिससे अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्वशासन प्रणाली भारत में स्थापित हो और वह बृटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में रहे। उसने यह तै कर लिया है कि इस दिशा में, जितना शीघ्र हो ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढ़ाया जाय। मैं इतना और कहूँगा कि इस नीति में प्रगति सीढ़ी दर सीढ़ी होगी। बृटिश सरकार और भारत सरकार ही, जिनके ऊपर भारतीयों के हित और उन्नति का भार है, इस बात के निर्णायक होंगे कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिये। वे एक तो उन लोगों के सहयोग को देखकर ही आगे बढ़ाने का निश्चय करेंगे जिन्हें इस तरह सेवा का नया अवसर मिलेगा, और दूसरे यह देखा जायगा कि किस हद तक उन्होंने अपनी जिम्मेदारी को ठीक-ठीक अदा किया है और उन पर कितना विश्वास किया जा सकता है। पार्लियामेंट के सामने जो प्रस्ताव पेश होंगे उन पर सार्वजनिक रूप में वाद-विवाद करने के लिये पर्याप्त समय दिया जायगा।"

हिन्दोस्तान के राजनीतिक इतिहास में इस घोषणा पत्र को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। यहीं से भारतीय स्वतंत्रता का आरम्भ माना जाता है। यद्यपि इसका अक्षरशः पालन नहीं किया गया, फिर भी भारतीय प्रजा का एक वर्ग इससे काफी सन्तुष्ट रहा। यहीं से शासन के विकास का तीसरा युग आरम्भ होता है।

तृतीय काल (१६१६—१६४७)

१६१६ ई० का शासन-सुधार

भारत-मंत्री मांटेग्यू साहब हिन्दोस्तान आये और वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ सारे हिन्दोस्तान का भ्रमण किया। इसके बाद दोनों ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इसी रिपोर्ट के आधार पर पार्लियामेंट ने १६१६ ई० में एक कानून पास किया, जिसके अनुसार भारतीय शासन में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये :—

१—धारा-सभाओं में सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। प्रजा के प्रतिनिधियों की संख्या नामजद सदस्यों से अधिक कर दी गई। मताधिकार का क्षेत्र और भी व्यापक कर दिया गया। केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों धारा सभाओं को सरकार की टीका-टिप्पणी करने का अधिकार दे दिया गया। बजेट के ऊपर विचार करने का अधिकार भी उन्हें प्रदान किया गया।

२—प्रान्तों में दोहरे शासन (Dyarchy) की नींव डाली गई। केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों को एक दूसरे से अलग कर दिया गया। इसके अतिरिक्त प्रान्तीय विषयों को फिर दो हिस्सों में बाँटा गया। एक कोटि में (Transferred subjects) वे विषय थे जिनमें भारतीय मंत्रियों की पूरी जिम्मेदारी थी। वे इन विषयों में स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर सकते थे और अपने कार्य के लिये प्रान्तीय धारा-सभा के प्रति उत्तरदायी थे। स्वायत्त शासन, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई इत्यादि विषय इनके अधिकार में दिये गये थे। दूसरे प्रकार के विषय (Reserved sudjects) वे थे जो गवर्नर की कार्यकारिणी को सौंपे गये थे। इनके लिये कार्यकारिणी के सदस्य धारा-सभा की मातहती में न होकर गवर्नर के प्रति जिम्मेवार होते थे। शान्ति, कानून, भूमि-कर, आय-व्यय इत्यादि आवश्यक विपय कार्यकारिणी के हाथों में दिये गये थे। इस ऐक्ट के अनुसार केन्द्रीय शासन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। इसकी शक्ति पहले की तरह बनी रही।

विदेशी करकार पर भी इस कानून का असर पड़ा। इंडिया कौंसिल के सदस्यों की संख्या ८ और १२ के बीज में निश्चित कर दी गई। इसके आधे सदस्य ऐसे होने चाहिये जो कम से कम कम १० वर्ष तक हिन्दोस्तान में रह चुके हों। कौंसिल की आयु ५ वर्ष निश्चित कर दी गई। अब तक भारत-मंत्री का वेतन भारतीय खजाने से दिया जाता था, परन्तु इस ऐक्ट के अनुसार यह निश्चित किया गया कि उसे अँग्रेजी खजाने से वेतन दिया जाय। उसके दफ्तर का बाकी खर्च भारतीय खजाने से ही दिया जाना निश्चित किया गया। ऐसा इसलिये किया गया कि पार्लियामेंट भारत मंत्री की कार्रवाइयों पर कड़ी नजर रक्खे। इंगलैंड में एक नये अफ़सर की नियुक्ति की गई जिसे हाई कमिश्नर कहा जाता है। इस अफ़सर की जिम्मेवारी भारतीय सरकार के प्रति कर दी गई। इस ऐक्ट में यह भी बात साफ कर दी गई कि १० वर्ष बाद एक कमीशन नियुक्त किया जायेगा जो इस बात का पता लगायेगा कि अब हिन्दोस्तानियों को कितनी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये।

१६१६ ई० के सुधार से हिन्दोस्तानी संतुष्ट न थे। नरम दल वालों ने तो इसका स्वागत किया, परन्तु देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था काँग्रेस ने इसका पूर्ण वाहिष्कार किया। पिछली लड़ाई के कारण चीजों का दाम बढ़ने लगा। पानी न बरसने से फसल भी खराब हो गई थी। इधर हिन्दोस्तानी मुसलमानों को यह पूरी उम्मीद थी कि बड़ी लड़ाई में विजयी होने के पश्चात् मित्र सरकार (Allies) टर्की के सुल्तान को फिर वही दर्जा दे देगी जो लड़ाई के पहले उसे प्राप्त था। तात्पर्य यह है कि हिन्दोस्तान में बृटिश सरकार के प्रति असन्तोष के सारे कारण इकट्ठे हो गये थे। १६२१ में महात्मा गाँधी ने मुहम्मद अली और शौकत अली को साथ लेकर सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया। खिलाफत आन्दोलन काँग्रेस सत्याग्रह के साथ जोड़ दिया गया। नरम दल वाले ने कौंसिल के चुनाव में हिस्सा लिया और शासन को चलाना आरम्भ किया। परन्तु सितम्बर १६२१ ई० से उन्होंने भी एक प्रस्ताव द्वारा यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय शासन में पुनः सुधार होना चाहिये।

सत्याग्रह आन्दोलन

अहिंसा की नीति पर सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया गया। देश भर में इस बात का प्रचार किया गया कि सरकार को कोई टैक्स न दे; सरकारी कानूनों का बहिष्कार किया जाय। इसका उद्देश्य यह था कि सरकार को हर प्रकार से असफल साबित कर दिया जाय। यद्यपि आन्दोलन की नीति में हिंसा का कोई स्थान न था, फिर भी परिणाम भयंकर हुआ। गोरखपुर जिले में चौरी-चौरा नामक स्थान पर सत्याग्रहियों ने २१ पुलिस के सिपाहियों को जान से मार डाला। काँग्रेस में एक ऐसा दल उठ खड़ा हुआ जो कौंसिल के चुनाव में हिस्सा लेना चाहता था। इसका नाम 'स्वराज दल' था। देशबन्धु चितरंजन दास और पंडित मोतीलाल नेहरू इसके नेता थे। यद्यपि केन्द्रीय धारा-सभा में इनका बहुमत न हो सका परन्तु प्रान्तीय धारासभाओं में इन्हें अच्छी सफलता मिली। बंगाल और मध्यप्रान्त में इनका बहुमत रहा। फिर भी शासन में रोड़े अटकाने की नीयत से इन्होंने मन्त्रिपद ग्रहण करने से इनकार कर दिया। एक ही प्रस्ताव में मन्त्रियों का वेतन घटा कर २ रुपया सालाना कर दिया गया। ऐसी दशा में शासन का कार्य रुक गया और विवश होकर गवर्नरों को १६१६ के द्वैध शासन प्रणाली का अन्त क पड़ा।

पं० मोतीलाल नेहरू ने सरकार को इस बात की सलाह दी कि अंग्रेज और हिन्दोस्तानी दोनों प्रकार के कुछ राजनीतिज्ञ किसी गोलमेज सभा में बुलाये जायँ और उसमें इस बात का फैसला हो कि हिन्दोस्तानियों को किस प्रकार जिम्मेवार शासन दिया जाय। ब्रिटिश सरकार अभी हाल के बने हुए शासन-प्रबन्ध को बदलना नहीं चाहती थी। परन्तु वह इस बात के लिये तैयार थी कि एक कमेटी नियुक्त की जाय जो यह राय दे कि १९१९ के शासन-विधान के अन्दर कौन-कौन सी तब्दीलियाँ की जा सकती हैं। मुदिमान कमीटी (Mudiman committee) के बहुसंख्यक सदस्यों ने यह राय जाहिर की कि शासन-प्रबन्ध अच्छी तरह चल रहा है और अभी इसमें तब्दीली की कोई जरूरत नहीं है। इसके विपरीत अल्पसंख्यक दल ने यह तै किया कि द्वैध शासन (Dyarchy) अत्यन्त दूषित है, इसलिये सम्पूर्ण शासन विधान तब्दील होना चाहिये। १९२५ ई० के सितम्बर महीने में यह बात निश्चय की गई कि बृटिश सरकार एक गोलमेज सभा बुलायेगी।

साइमन कमीशन

देश में शासन के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा था। बृटिश सरकार ने भी यह तै कर लिया कि भारतीय शासन में सुधार होने चाहिये। इस स्थान पर हमें यह याद रखना चाहिये कि १९१९ ई० के ऐक्ट के अनुसार बृटिश सरकार १९२९ ई० में स्वयं इस बात की जाँच करती कि हिन्दोस्तानियों को और कौन-कौन से अधिकार देने चाहिये। परन्तु दो वर्ष पहले ही ८ नवम्बर सन् १९२७ ई० को हिन्दोस्तान के गवर्नर-जनरल लार्ड इरविन ने इस बात की घोषणा की कि पार्लियामेंट ने एक कमीशन नियुक्त किया है जो निम्नलिखित बातों की जाँच करेगाः—

१—१९१९ ई० का शासन विधान किस प्रकार काम कर रहा है ?

२—हिन्दोस्तान में शिक्षा की प्रगति कैसी है ?

३—किस हद तक हिन्दोस्तानी इस बात के योग्य हैं कि उन्हें एक जिम्मेवार शासन दिया जाय।

४—प्रान्तीय धारा सभाओं में बड़ी सभा का बनाना कहाँ तक अच्छा होगा।

५—भारतीय रियासतों और बृटिश प्रान्तों में सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जाय।

कमीशन को इन्हीं बातों की जाँच करके अपनी राय जाहिर करनी

थी। सर जान साइमन इस कमीशन के सभापति थे। जिस समय कमीशन की नियुक्ति हुई थी उसी समय १९२७ में कांग्रेस ने इस बात का एलान किया कि पूर्ण स्वराज्य इसका एक मात्र उद्देश्य है। देश के सभी राजनीतिक दलों ने यह निश्चय किया कि पूर्ण स्वतंत्रता हासिल करनी चाहिये। जिस समय देश में राष्ट्रीयता की लहर इतने जोरों पर थी उसी समय साइमन कमीशन ने अपना कार्य आरम्भ किया। बड़े मार्के की बात तो यह थी कि इसमें एक भी हिन्दोस्तानी शरीक न किया गया था। एक सज्जन ने इसे "सफेद कमीशन" घोषित किया है। हिन्दोस्तानियों के इस तिरस्कार से देश में खलबली-सी मच गई। चारों ओर से इसका बायकाट आरम्भ हुआ। काँग्रेस के नरम और गरम दोनों दलों ने एक स्वर से इसका बायकाट किया। सर जॉन साइमन ने इस बात का आश्वासन दिया कि वे केन्द्रीय और प्रान्तीय कमीटियों से पूरा सहयोग करेंगे, फिर भी काँग्रेस की नीति पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। लेजिस्लेटिव असेम्बली ने कमीशन के बायकाट का एक प्रस्ताव भी पास कर दिया।

इरविन की घोषणा

इस विकट राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुये लार्ड इरविन ने ३१ अक्टूबर सन् १९२९ ई० को सम्राट् की ओर से एक घोषणा की। इसमें उन्होंने यह कहा कि पार्लियामेंट ने यह निश्चय किया है कि कमीशन की रिपोर्ट के बाद हिन्दोस्तान के राजनीतिक नेता एक गोलमेज सभा में बुलाये जायेंगे और वहाँ उनकी राय ली जायेगी। लिबरल दल वालों को इससे कुछ संतोष हुआ, परन्तु काँग्रेस सन्तुष्ट न रही। १९२९ ई० में दिसम्बर के महीने में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। इसमें एक प्रस्ताव पास किया गया कि काँग्रेस गोलमेज सभा का बायकाट करती है और महात्मा गाँधी को इस बात का अधिकार देती है कि वे सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ कर दें। १९३० ई० के मार्च के महीने में सत्याग्रह की आग सारे देश में फैल गई। इसी वर्ष २६ जनवरी को पहले पहल देश भर में स्वतन्त्रता दिवस भी मनाया गया था। साल भर तक आन्दोलन बड़े जोरों से चलता रहा। महात्मा गाँधी तथा और बड़े बड़े नेता जेलों में डाल दिये गये। इनके अतिरिक्त हजारों आदमी जेल भेजे गये।

जिस समय सत्याग्रह आन्दोलन इतने जोरों पर था, उसी समय

साइमन कमीशन की रिपोर्ट

१६३० ई० के जून के महीने में साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। देश के किसी भी दल ने इसे पसन्द नहीं किया। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में संघ-शासन की आवश्यकता को निरर्थक साबित किया था। उसका यह विचार था कि फिलहाल हिन्दोस्तान में संघ-शासन की कोई आवश्यकता नहीं है। उसने प्रान्तीय स्वराज्य (Provincial Autonomy) की एक योजना पेश की थी। केन्द्रीय शासन में परिवर्तन की चर्चा तक नहीं की गई। ६ जुलाई सन् १६३० ई० को वाइसराव लार्ड इरविन ने धारा-सभा के सामने यह घोषित किया कि गोलमेज सभा एक बहुत ही उपयोगी चीज है और हिन्दोस्तानियों को उसमें हिस्सा लेना चाहिये।

पहली गोलमेज सभा

१२ नवम्बर सन् १६३० ई० को सम्राट् पंचम जार्ज ने गोलमेज सभा का उद्‌घाटन किया। रैम्जे मेकडानेल्ड, जो उस समय इंगलैंड के प्रधान मंत्री थे, सभा के सभापति बनाये गये। पहली ही बैठक में भारतीय राजाओं ने इस बात की इच्छा प्रकट की कि वे सभी प्रकार से भारतीय संघ-शासन के लिये तैयार हैं। सभा में बहुत सी कमेटियाँ बना दी गईं और अलग अलग मसलों पर उन्हें विचार करने का काम सौंपा गया। १६ जनवरी सन् १६३१ ई० को गोलमेज सभा का कार्य समाप्त किया गया। प्रधान मंत्री ने अपने अन्तिम व्याख्यान में यह कहा कि हिन्दोस्तान में एक संघ-शासन की स्थापना होनी चाहिये।

गाँधी इरविन समझौता

गोलमेज सभा के सदस्य राजी खुशी अपने घर लौटे। लोगों ने उनका सम्मान किया। कुछ सदस्यों ने काँग्रेस से यह इच्छा प्रकट की कि वह ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विश्वास करे और आवश्यकता पड़ने पर इन्हें अपनी उचित सलाह दे। इस प्रकार की चर्चाओं का प्रभाव काँग्रेस पर अच्छा पड़ा। १६३१ ई० के मार्च के महीने में महात्मा गाँधी और लार्ड इरविन में एक सुलहनामा हुआ। सत्याग्रह आन्दोलन बन्द कर दिया गया। सारे राजनीतिक कैदी छोड़ दिये गये। काँग्रेस इस बात पर तैयार हो गई कि वह दूसरी गोलमेज सभा में हिस्सा लेगी।

७ सितम्बर सन् १६३१ ई० को गोलमेज सभा की दूसरी बैठक लंदन

दूसरी गोलमेज सभा

में आरम्भ हुई। काँग्रेस की ओर से प्रतिनिधि बन कर महात्मा गाँधी स्वयं इस सभा में उपस्थित हुए थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि इंगलैंड की सरकार में सहसा परिवर्तन न हुआ होता तो वर्षों पहले हिन्दोस्तान का इतिहास बहुत कुछ बदल जाता और ब्रिटिश सरकार और काँग्रेस के बीच में तभी कोई न कोई समझौता हो गया होता। परन्तु इसी समय इंगलैंड की सरकार बदल गई। मजदूर दल ने इस्तीफा दे दिया। नया चुनाव किया गया जिसमें सरकार की बागडोर अनुदार दल के हाथ में आ गई। मजदूर दल के भारत-मंत्री हट गये और उनका स्थान अनुदार दल के भारत-मंत्री ने ले लिया। गोलमेज सभा पर इस परिवर्तन का गहरा असर पड़ा। सभा ने अपना कार्य आरम्भ किया। साम्प्रदायिक मसले को सुलझाने का कोई मार्ग न निकल सका। प्रधान मंत्री ने यह घोषित किया कि उसी के हाथों में यह अधिकार दे दिया जाय कि वह इस मसले को हल कर दे। काँग्रेस बिलकुल ही असन्तुष्ट रही। महात्मा गाँधी लन्दन से हिन्दोस्तान के लिये रवाना हुये। अभी वे जहाज से उतरे भी नहीं थे कि रास्ते में ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। १९३२ ई० के आरम्भ में फिर गिरफ्तारियाँ शुरू हो गईं। मिस्टर बाल्डविन इस समय इंगलैंड के प्रधान मंत्री थे। उनकी सरकार ने हिन्दोस्तान के सभी बड़े लीडरों को जेल में डाल दिया।

साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award)

१६ अगस्त सन् १९३२ ई० को इंगलैंड के प्रधान मंत्री ने साम्प्रदायिक निर्णय घोषित किया। इसके अनुसार मुसलमान, अँग्रेज, ईसाई, सिक्ख, अछूत तथा स्त्री—इन सब को अलग अलग निर्वाचन का अधिकार दिया गया। महात्मा गाँधी ने आमरण अनशन व्रत द्वारा इस साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। उनकी दृष्टि में अछूतों को अलग निर्वाचन देकर भारतीय समाज को टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया था। उन्होंने यहाँ तक फैसला कर लिया कि यदि बृटिश सरकार इस साम्प्रदायिक निर्णय को तब्दील न करेगी तो वे अनशन द्वारा अपना प्राण दे देंगे। उनका अनशन आरम्भ हो गया। इंगलैंड और हिन्दोस्तान दोनों देशों में खलबली सी मच गई। शीघ्र ही सुलह की कारवाई आरम्भ की गई और पूना में एक सुलहनामा (Poona Pact) किया गया। इसमें अछूत वर्ग को धारा-सभाओं में पहले से दूने स्थान दिये गये और उन्हें हिन्दू जाति का एक घनिष्ठ अंग मान लिया

गया। बृटिश सरकार ने भी पूना के इस सुलहनामे को स्वीकार कर लिया।

तीसरी गोल मेज सभा

१६३२ ई० के सितम्बर महीने में हिन्दोस्तान के वाइसराय लार्ड विलिंग्टन ने यह घोषित किया कि पार्लियामेंट हिन्दोस्तान के शासन-विधान में परिवर्तन करने को तैयार है। वह चाहती है कि हिन्दोस्तान में एक ऐसे संघ-शासन की स्थापना की जाए जिससे केन्द्र और प्रान्त दोनों जगह जिम्मेवार शासन स्थापित कर दिया जाय। इसी बुनियाद पर १७ नवम्बर सन् १६३२ ई० को तीसरी गोलमेज सभा का कार्य आरम्भ किया गया जो २४ दिसम्बर सन् १६३२ ई० को समाप्त हुआ।

सफेद पत्र (White Paper) और १६३५ का शासन-विधान

बृटिश सरकार ने १६३३ ई० के मार्च के महीने में एक सफेद पत्र (White Paper) प्रकाशित किया जिसमें भारतीय शासन की सुधार की योजनायें घोषित की गई थीं। हिन्दोस्तान के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड लिनलिथ गो की अध्यक्षता में १६३३ के अप्रैल के महीने में एक ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी बनाई गई। इसके जिम्मे यह काम सौंपा गया कि वह सफेद पत्र पर अपना विचार प्रकट करे। कुछ भारतीय भी इसमें सम्मिलित किए गये थे। बड़ी छान बीन के बाद २२ नवम्बर सन् १६३४ ई० को इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पार्लियामेंट को दे दी। पार्लियामेंट की दोनों सभाओं ने इसे मंजूर कर लिया। ५ फरवरी सन् १६३५ ई० को पहिली बार यह रिपोर्ट पार्लियामेंट में पढ़ी गई। ६ जून १६३५ को लार्ड सभा में इसकी पेशी हुई। २४ जुलाई सन् १६३५ ई० को कुछ थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ लार्ड सभा ने इसे पास कर दिया। कामन सभा ने भी इन परिवर्तनों को मान लिया। २ अगस्त सन् १६३५ ई० को सम्राट् ने इस पर अपनी दस्तखत किया और गवर्नमेंट इन्डिया ऐक्ट इतनी माथा-पच्ची के बाद पास किया गया। पार्लियामेंट के इतिहास में यह सबसे बड़ा ऐक्ट कहा जाता है। पूरे ऐक्ट में १६ भाग और ४७८ अनुसूचियाँ थीं। इसके अन्दर बर्मा ऐक्ट भी शामिल था।

१६३५ ई० के नये शासन-विधान में मुख्य ४ बातें थीं :—

१—सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये एक संघ-शासन विधान की योजना बनाई गई थी।

२—केन्द्रीय शासन में दोहरे शासन विधान (Dyarchy) का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था।

३—प्रान्तीय स्वराज्य का जन्म दिया गया था।

४—गवर्नरों तथा गवर्नर् जनरल को अनेक विशेषाधिकारों से सुसज्जित किया गया था।

संघ-शासन विधान का श्रीगणेश

१९३५ का शासन-विधान पहली अप्रैल सन् १९३७ ई० को प्रान्तों में कार्यान्वित किया गया। चुनाव में काँग्रेस ने दिल खोल कर हिस्सा लिया और ६ सूबों में इसका बहुमत रहा। जब मंत्रिपद ग्रहण करने का प्रश्न उठा तो काँग्रेस ने इसे इनकार कर दिया। इसका उद्देश्य शासन को चलाना न था बल्कि इसे तोड़ना था। काँग्रेस को यह डर था कि गवर्नरों के विशेषाधिकार के सामने उसका बहुमत कोई काम नहीं कर सकता। जब तक मंत्रिपद सम्बन्धी झगड़ा चलता रहा तब तक शासन को चलाने के लिये गवर्नरों ने गुड़िया मंत्रिमंडल (Interim Ministries) बना कर अपना कार्य आरम्भ किया। १९३७ ई० में जुलाई के महीने में भारत-मंत्री और गवर्नर-जनरल के आश्वासन दिलाने पर काँग्रेस ने मंत्रिपद का भार स्वीकार कर लिया। बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रान्त, बरार, बिहार और उड़ीसा—इन सूबों में काँग्रेस सरकार कायम हो गई। बाद में पश्चिमोत्तर प्रदेश और आसाम में भी काँग्रेस ने संयुक्त मंत्रि-मंडल कायम कर लिया।

प्रान्तों में शासन का काम अच्छी तरह चलने लगा। काँग्रेस ने अपनी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया। अनेक नये विभाग खोल कर उसने जनता के सामने यह सिद्ध कर दिया कि एक स्वतंत्र सरकार अपने देश की कहाँ तक भलाई कर सकती है। विदेशी-राज्य का पर्दा थोड़े समय के लिये जनता के सामने से दूर कर दिया गया। उत्तर प्रदेश तथा मध्यप्रांत में कुछ ऐसी घटनायें उपस्थित हुईं जिनसे शासन में फिर रुकावट पड़ने के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। संयोगवश यह विपत्ति कुछ दिनों के लिये टल गई। प्रान्तीय शासन की सफलता को देखते हुए केन्द्रीय संघ-शासन का समय भी धीरे-धीरे निकट आ रहा था। परन्तु कोई वर्ग इस बात के लिये तैयार न था कि संघ-शासन अपने इसी रूप में जारी कर दिया जाय।

१९३९ के आरम्भ में योरप में एक भयंकर लड़ाई के चिन्ह दिखाई

काँग्रेसी सरकारों का त्याग

देने लगे। बृटिश सरकार की परिस्थिति नाजुक होने लगी। १९३९ के सितम्बर के महीने में लड़ाई आरम्भ हो गई। हिन्दोस्तान पर भी इस लड़ाई का तात्कालिक असर पड़ा। बृटिश सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध लड़ाई का एलान किया और उसी में हिन्दोस्तान को भी अपना साथी करार दिया। जीवन-मरण की इतनी बड़ी लड़ाई में हिन्दोस्तान शरीक तो कर दिया गया परन्तु हिन्दोस्तानियों की राय बिलकुल न ली गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतवासियों की सहानुभूति बृटिश सरकार के प्रति थी। वे नहीं चाहते थे कि दुनिया में नाजी सरकार का दबदबा हो जाय। काँग्रेस ने बृटिश सरकार से इस बात की माँग पेश की कि लड़ाई के अन्त में वह हिन्दोस्तानियों को यह अधिकार दे दे कि वे विधान-सभा (Constituent Assembly) द्वारा अपनी शासन-पद्धति स्वयं बना सकें। इसको दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि काँग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता की माँग पेश की थी। इस पर भारत-मंत्री ने घोषित किया कि हिन्दोस्तान में इतनी साम्प्रदायिक उलझनें हैं कि वह अभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है। लड़ाई के समय शासन-विधान में किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

इस कड़े जवाब को सुनते ही नवम्बर सन् १९३९ ई० में ८ प्रान्तों की काँग्रेस सरकार ने इस्तीफा दे दिया। गवर्नरों ने इस बात की कोशिश की कि दूसरी पार्टियाँ शासन का भार ले लें, परन्तु आसाम को छोड़कर और किसी सूबे में उन्हें सफलता न मिल सकी। अन्त में विवश होकर उन्हें घोषित करना पड़ा कि शासन की मशीन फेल कर गई। १९३५ के शासन-विधान की ९३ धारा के अनुसार गवर्नरों ने शासन की पूरी बागडोर अपने हाथों में ले ली। धारा-सभायें भंग कर दी गईं, और गवर्नरों ने दो-चार सरकारी अफसरों को अपना सलाहकार नियुक्त कर शासन को चलाना आरम्भ किया।

सत्याग्रह आन्दोलन

भारतीय जनता की अनुमति के बिना ही हिन्दोस्तान लड़ाई में शरीक कर दिया गया। बृटिश सरकार यह चाहती थी कि काँग्रेस पिछली लड़ाई की तरह इसमें भी बृटेन का पूरा सहयोग दे। काँग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव में यह स्पष्ट कर दिया था कि जब तक हिन्दोस्तान स्वतन्त्र नहीं किया जाता, तब तक वह मित्र राष्ट्रों की अच्छी तरह मदद नहीं कर सकता। अप्रैल १९४० ई० में रामगढ़ के काँग्रेस अधिवेशन में यह बात

फिर दुहराई गई की पूर्ण स्वराज्य से कम किसी भी तरह की चीज स्वीकार न की जायगी। व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ और हजारों आदमी जेल में डाल दिये गये। एक साल से अधिक सत्याग्रह चलता रहा और सरकार तथा काँग्रेस में समझौते का कोई रास्ता न निकला। २१ जुलाई सन् १९४१ ई० को वाइसराय ने यह घोषणा की कि केन्द्रीय कार्यकारिणी सभा में सदस्यों की संख्या बढ़ाई जायेगी और एक 'राष्ट्रीय रक्षा-समिति' का निर्माण किया जायगा। काँग्रेस को इस घोषणा से सन्तोष न हुआ और वह अपनी नीति पर डटी रही।

काँग्रेस के अपनी निति पर डटे रहने के बावजूद बृटिश सरकार एक-एक करके सत्याग्रहियों को जेल से निकालने लगी।

सर स्टेफोर्ड क्रिप्स का आगमन

इसी बीच मार्च १९४२ में इंगलैंड के एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सर स्टेफोर्ड क्रिप्स बृटेन के सम्राट की ओर से सुलह का एक संदेश लेकर हिन्दोस्तान में आये। भारतीय नेताओं को निमन्त्रित किया कि वे उनसे दिल्ली में मिलें। बड़ी बड़ी आशायें लेकर काँग्रेस तथा लीग के नेता दिल्ली को रवाना हुये। क्रिप्स ने एक लम्बी योजना उनके सामने पेश की और उन्हें आश्वासन दिलाया कि सब लोग इस पर विश्वास कर कार्य करें। वैसे तो इस योजना में बहुत सी कमजोरियाँ थीं परन्तु सबसे बड़ी कमजोरी रक्षा का प्रश्न था। इसके अनुसार रक्षा का पूर्ण अधिकार कमांडर इन-चीफ को दिया गया था। काँग्रेस का कहना था कि, "रक्षा का पूरा भार किसी हिन्दोस्तानी को दिया जाय। हिन्दोस्तान इस समय खतरे में है और इसकी रक्षा का सवाल सब से पहला सवाल है। हिन्दोस्तानियों को छोड़कर कोई और इसकी रक्षा नहीं कर सकता।" बात भी ठीक थी क्योंकि १५ फरवरी १९४२ ई० को सिंगापुर पर जापानियों का कब्जा हो गया था और वे लगातार बढ़ते आ रहे थे। हिन्दोस्तानी अपने देश की रक्षा के लिये अपना खून पानी की तरह बहा सकते थे। सुलह का पैगाम फेल कर गया। लीग और काँग्रेस दोनों ने इसे अस्वीकार कर दिया। क्रिप्स चुपचाप इंगलैंड को वापिस चले गये।

सर स्टेफोर्ड क्रिप्स हिन्दोस्तान के एक हितैषियों में गिने जाते थे, परन्तु सुलह के पैगाम ने उन्हें इतना बदनाम कर दिया कि उन पर तरह-तरह की बौछारें फेंकी जाने लगीं। काँग्रेस का कहना था कि क्रिप्स को ऐसी निस्सार योजना लेकर कभी नहीं आना चाहिये था। इस प्रस्ताव में केन्द्रीय सरकार के राष्ट्रीयकरण का कोई उल्लेख नहीं किया गया था।

इससे हिन्दोस्तान के १३ या १४ छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाने का डर था। महात्मा गाँधी का कहना था कि 'क्रिप्स साहब उस बैंक का एक चेक हिन्दोस्तान को देना चाहते थे जिसका दिवाला निकल चुका हो।' उनके प्रस्ताव का कुल निचोड़ यही था कि "अपनी वर्तमान स्थिति पर ही सन्तोष करो और युद्ध के बाद तुम्हें औपनिवेशिक पद प्रदान किया जायगा।" मुसलिम लीग के एक सदस्य का कहना है कि "यदि क्रिप्स के प्रस्ताव मान लिये गये होते तो दस करोड़ मुसलमानों की मिट्टी पलीद हो जाती।" हिन्दोस्तान से विदा होते समय कराँची में क्रिप्स साहब ने कहा कि "काँग्रेस सब कुछ चाहती थी या कुछ नहीं, इसलिये उसे कुछ नहीं मिला।" उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि "महात्मा गाँधी अपने ही दल को सम्पूर्ण राजनीतिक अधिकार प्रदान करना चाहते थे।" इन बातों से हिन्दोस्तान में बृटेन के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी।

अगस्त की तोड़ फोड़ और बृटिश सरकार की जिम्मेवारी

क्रिप्स के चले जाने के बाद हिन्दोस्तान के राजनीतिक आकाश में बादल सा छा गया। चारों ओर असन्तोष की ज्वाला बढ़ने लगी। काँग्रेस वर्किंग कमीटी ने यह प्रस्ताव पास किया कि "अँग्रेज हमारे देश को छोड़ दें" (Quit India)। इसी प्रस्ताव के समर्थन के लिये ९ अगस्त १९४२ को बम्बई में काँग्रेस कमीटी की बैठक हुई। कमीटी का कार्य अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि रात में ही बड़े बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। १० अगस्त १९४२ को भारत मंत्री, लार्ड एमरी का वक्तव्य प्रकाशित हुआ कि काँग्रेस बृटिश सरकार का अंत करना चाहती थी और उसके कार्य क्रम में तार तोड़ना, स्टेशन जलाना, दफ्तर फूँकना इत्यादि-इत्यादि बातें थीं। इस वक्तव्य ने मुल्क को चौकन्ना कर दिया और काँग्रेस तथा अन्य लोग जगह-जगह सरकारी सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाने लगे। किसी-किसी जिलों में रेल और तार के सारे खम्भे उखाड़कर फेंक दिये गए। अगस्त के महीने भर यही हाल रहा। सरकार ने भी अपना रुख बदला और बड़ी बेरहमी के साथ फौजी सिपाही इसे दबाने लगे। कितने घर जला दिये गये और सैकड़ों आदमी बन्दूक के निशाने बने। अक्टूबर के अन्त तक सब मामला ठंडा हो गया। काफी लोग जेलों में डाल दिये गये और शहर तथा गाँव दोनों से नुकसान की सारी रकम सामूहिक जुर्माने के रूप में वसूल की गई। कहा जाता है कि इस तोड़-फोड़ की जिम्मेवारी

काँग्रेस के ऊपर थी। परन्तु जब उसके बड़े-बड़े नेता पहले ही जेल में डाल दिये गये तो उसकी जिम्मेवारी कैसे हो सकती है। लार्ड एमरी के १० अगस्त के वक्तव्य ने इस कार्य-क्रम का प्रचार किया।

बृटिश मन्त्रि-मण्डल का प्रस्ताव

१९४६ ई० तक बृटिश सरकार की नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लड़ाई समाप्त हो जाने पर भारतीय राजनीति में फिर परिवर्तन की चर्चा होने लगी। मार्च १९४६ तक प्रान्तीय धारा-सभाओं के चुनाव समाप्त हो गए और काँग्रेस का काफी बहुमत रहा। काँग्रेस ने मंत्री पद स्वीकार कर शासन को चलाने का भार अपने ऊपर लिया। अप्रैल १९४६ में पार्लियामेन्ट ने एक मंत्रि दल इस आशय से हिन्दोस्तान में भेजा कि हिन्दोस्तान के साथ स्थायी सुलह कर ली जाय। बृटिश मंत्रिमंडल ने हिन्दोस्तान के सभी बड़े लीडरों से परामर्श करने के बाद १६ मई सन् १९४६ को पाँच हजार शब्दों की 'अखिल-भारतीय-यूनियन' बनाने की एक योजना प्रकाशित की। इसमें पाकिस्तान की योजना अस्वीकार कर दी गई थी। प्रान्तों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई थी और उन्हें समूह अथवा उपसंघ में संगठित होने की स्वतन्त्रता थी। इसके जवाब में २४ मई सन् ४६ को काँग्रेस वर्किंग कमेटी ने एक हजार शब्दों का एक प्रस्ताव पास कर यह घोषित किया कि बृटिश मंत्रिदल का प्रस्ताव तभी स्वीकार किया जायगा जब उसमें नीचे लिखी बातें स्पष्ट रूप से मान ली जायें :—

१—भारत की स्वाधीनता।
२—यद्यपि सीमित किन्तु दृढ़ केन्द्रीय सरकार।
३—प्रान्तों को पूर्ण शासनाधिकार।
४—केन्द्र तथा प्रांतों में लोकतंत्रवादी व्यवस्था।
५—प्रत्येक व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा।

चतुर्थ काल

भारतवर्ष का विभाजन

हिन्दोस्तान के बड़े से बड़े नेता को यह विश्वास न था कि भारतीय स्वतंत्रता के साथ देश का दो हिस्सों में बटवारा होगा। मुसलिम लीग की यह माँग हवाई कल्पना समझी जाती थी। जब बृटिश पार्लियामेंट की बटवारे की योजना देश के नेताओं के सामने रक्खी गई तो लीग को छोड़कर किसी ने भी इसे स्वीकार न किया। अन्तर्राष्ट्रीय

स्थिति से वशीभूत होकर बृटिश सरकार हिन्दोस्तान के प्रश्न को अब आगे नहीं टाल सकती थी। उसने स्पष्ट रूप से यह प्रश्न रख दिया कि काँग्रेस और मुसलिम लीग आपसी मतभेद पर विचार कर ले और भारतीय स्वतंत्रता को जिस रूप में चाहे ग्रहण करे। मुसलिम लीग ने पाकिस्तान के प्रश्न को और भी जटिल बनाया। देश में अनेक स्थलों पर साम्प्रदायिक दंगे हुये, जिनमें लाखों निर्दोष व्यक्तियों की हत्या हुई। अन्त में महात्मा गाँधी तथा कुछ अन्य नेताओं ने पाकिस्तान की योजना को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता के साथ भारतीय संघ (Indian Union) का जन्म हुआ। संघ ने १९३५ के शासन-विधान में कुछ संशोधन कर अपना कार्य तब तक चलाना निश्चित किया जब तक संविधान सभा एक नया शासन विधान पूर्णरूप से तैयार न कर ले।

वर्तमान स्थिति

वर्तमान स्थिति में देश कठिनाइयों के विकट मार्ग से गुजर रहा है। अनेक समस्यायें नेताओं की बुद्धि से टक्कर ले रही हैं। एक ओर देश में साम्प्रदायिकता का भय है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति गम्भीर है। स्वतन्त्रता के बाद देशवासियों की बड़ी बड़ी आशाओं को पूर्ण करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हैं। शिक्षा, व्यवसाय, उद्योग-धन्धों, राष्ट्रभाषा, आर्थिक स्थिति, गरीबी; बेकारी—आदि प्रश्न को हल करने में सरकार पूर्ण रूप से जागरूक है। देशी रियासतों, शरणार्थियों तथा पाकिस्तान सम्बन्धी उत्पन्न अनेक समस्याओं का हल निकालने में फूँक फूँक कर चलना पड़ता है। विदेशों से सम्बन्ध बनाये रखने का कार्य भी जारी है। देश की रक्षा के लिये सैनिक शिक्षा का प्रश्न भी हल किया जा रहा है। महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद इधर काँग्रेस से समाजवादी दल पृथक् होकर कार्य कर रहा है। कम्यूनिस्ट, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दू महासभा तथा मुसलिम लीग की मनोवृत्ति के अन्य संगठन सरकार की दृष्टि में काँटे की तरह खटक रहे हैं। इन सब कठिनाइयों को पार करते हुये काँग्रेस सरकार कहाँ तक भारतीय राष्ट्र को सुख-समृद्धि और शान्ति के मार्ग पर ले जाने में समर्थ होगी—यह भविष्य का विषय है। प्रान्तीय सरकारों की नवीन योजनाओं को देखते हुये आशा की नदी बढ़ रही है। एक ओर घरेलू उद्योग-धन्धों के बढ़ने का प्रयत्न "सर्वोदय समाज" की ओर से हो रहा है तो दूसरी ओर विदेशी मशीनों का भी उपयोग किया जा रहा है। यदि वैधानिक स्थिति शान्त रही तो देश निकट भविष्य में ही सदियों

की गरीबी और मनोमालिन्य को दूर कर संसार में एक सम्मानित स्थान प्राप्त करेगा।

संविधान सभा

१६ मई १६४६ ई० को बृटिश मन्त्रि-मण्डल ने अखिल भारतीय (Constituent Assembly) यूनियन की जो योजना प्रकाशित की उसी के अनुसार जुलाई १६४६ ई० में प्रान्तीय विधान मण्डलों (Provincial Legislatures) द्वारा संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन हुआ। निर्वाचन में मुसलिम लीग ने भी भाग लिया परन्तु सभा की प्रथम बैठक में ही अपना ध्येय पाकिस्तान घोषित कर सभा का वहिष्कार कर दिया। ३ जुलाई १६४७ ई० को भारत विभाजन की योजना स्वीकार कर ली गई। उसी समय यह भी स्वीकार किया गया कि भारतीय संविधान सभा अपना कार्य करती रहेगी। पाकिस्तान के संविधान के लिए एक अलग संविधान सभा का निर्माण किया गया। इस प्रकार भारतीय संविधान सभा से लीगी सदस्य पृथक् कर दिये गये। संविधान सभा की पहली बैठक ६ दिसम्बर सन् १६४६ ई० को हुई। २६ अगस्त १६४७ ई० को मसविदा समिति का चुनाव हुआ। मसविदा समिति ने १४१ दिन की बैठक में संविधान की सम्पूर्ण रूप-रेखा तैयार कर ली। इसी में अनेक संशोधन करने के पश्चात् नये शासनविधान का स्वरूप निश्चित किया गया है। संविधान सभा में कुल ३०८ सदस्य रहे हैं। इस सभा में कोई सरकारी अथवा गैर सरकारी पक्ष नहीं रहा है। सभा प्रति दिन १ से ३ धाराओं पर विचार करती रही है। श्री के० रामाराव ने लिखा है "संविधान सभा के अधिकांश सदस्य भवन के बाहर हरी घास पर धूप में चाय सिगरेट पीकर मौज करते हैं और अपना अमूल्य समय बाहरी बातों में व्यतीत करते हैं। सभागृह में बहुत कम सदस्य उपस्थित होते हैं। कभी कभी कोरम तक पूरा नहीं होता। अधिकांश सदस्य विधान निर्माण कार्य के लिये उपयुक्त नहीं हैं। वे प्रायः जेल के विद्यार्थी रहे हैं"। यह मानना होगा कि संविधान सभा ने अपना कार्य बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से समाप्त किया है।

नवीन संविधान

संविधान सभा ने २ वर्ष ११ महीने १८ दिन के सतत परिश्रम के पश्चात् भारत के नये संविधान का निर्माण किया है। यह संविधान संसार के अन्य देशों की तुलना में सब से बड़ा और जटिल है। सम्पूर्ण

विधान में ३६५ धारायें तथा ८ परिशिष्टियाँ हैं। विधान की व्यापकता का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि इसके निर्माण में आस्ट्रेलिया को छोड़कर सबसे अधिक समय लगा है। अमेरिका का विधान केवल ४ महीने में तैयार किया गया था। दक्षिणी अफ्रीका के विधान निर्माण में केवल एक वर्ष का समय लगा था। भारतीय विधान के निर्माण में ६३६६७२६ रुपया व्यय हुआ। भारत के ३०८ निर्वाचित व्यक्तियों ने इस संविधान का निर्माण किया है। समाजवादी पार्टी की ओर से संविधान की आलोचना में जो पुस्तिका[1] प्रकाशित की गई है उसमें संविधान सभा के सदस्यों की कड़ी आलोचना की गई है। लेखक का कहना है कि संविधान सभा के सदस्यों में भारत के सुयोग्य राजनीतिज्ञों का अभाव रहा है। कुछ अन्य विद्वानों का भी यही मत है।[2] जो कुछ भी हो अपने २०० वर्षों की गुलामी के बाद स्वतंत्र भारत को नया विधान बनाने का अवसर मिला। मुसलिम लीग के कारण विधान निर्माण में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं परन्तु काँग्रेस ने सब पर विजय प्राप्त की। सम्पूर्ण विधान विषयानुसार २२ भागों में विभाजित किया गया है। विधान के प्रारम्भ में ही यह घोषणा की गई है :—

"हम, भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिये दृढ़ संकल्प हो कर अपनी इस संविधान सभा में इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

१—भारतीय संविधान की आलोचना—प्रो० मुकुट बिहारी लाल

२—"संविधान सभा में ऐसे सदस्य हैं जो अर्ध शिक्षित या अपढ़ हैं ऐसे भी हैं जिनमें संविधान सभा की कार्यवाही को समझने की योग्यता नहीं है।"

"यदि वर्तमान सदस्यों में ३०—४० सदस्यों को न लिया जाता और इतनी ही संख्या में और विद्वानों को ले लिया जाता तो कुछ अनिष्ट न होता।" के० रामाराव

२६ जनवरी १६३० को कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता की प्रतिज्ञा की थी। तब से बराबर भारतीय जनता २६ जनवरी को स्वाधीनता की प्रतिज्ञा दुहराती रही है। इसलिए नये संविधान का उद्घाटन २६ जनवरी सन् १६५० को ही किया गया है। संविधान का उद्घाटन करते हुये हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने यह घोषित किया कि "इस देश में एक वर्गहीन, सहकारी स्वतन्त्र एवं सुखी समाज की स्थापना करना है।" भारतीय संविधान अपने सामने एक महान् उद्देश्य रखता है जिसकी पूर्ति भारतीय जनता के आचार-विचार और बौद्धिक स्तर पर निर्भर करती है। किसी देश का विधान एक निर्जीव वस्तु है। उसे सजीव बनाना वहाँ के नागरिकों का कार्य है। भारतीय संविधान को क्रियात्मक रूप देने में क्या कठिनाइयाँ होंगी, यह भविष्य का विषय है।

अस्थायी तथा अन्तर्कालीन उपबन्ध Temporary and Transitional Provisions

संविधान में ३६६ अनुच्छेद से ३६२ अनुच्छेद तक अन्तर्कालीन उपबन्ध का वर्णन किया गया है। जब तक नये संविधान के अनुसार निर्वाचन नहीं हो जाता और सभी व्यवस्थायें पूरी नहीं हो जातीं तब तक के लिये काम चलाऊ व्यवस्था की गई है। जहाँ तक केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है ३८० अनुच्छेद के अनुसार संविधान सभा द्वारा एक राष्ट्रपति को निर्वाचन किया गया है। संविधान सभा को ही केन्द्रीय विधान मण्डल मान लिया गया है, परन्तु इसके जो सदस्य राज्य विधान मण्डलों के भी सदस्य रहे हैं उन्हें हटा कर उनके स्थान पर दूसरे सदस्य निर्वाचित कर लिये गए हैं। नवीन संविधान के आरम्भ होने के पहले जो मन्त्रि-मण्डल कार्य करता था वही अब भी कार्य कर रहा है। फेडरल न्यायालय को उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) मान लिया गया है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान केन्द्रीय सरकार नवीन संविधान के अनुसार कार्य कर रही है। जहाँ तक राज्यों के शासन का सम्बन्ध है प्रथम अनुसूची के (क) भाग में उल्लिखित राज्यों में राज्यपाल (Governor) प्रधान शासक नियुक्त किये गये हैं। ये राज्यपाल वही हैं जो नवीन संविधान के आरम्भ होने के पहले राज्यों में नियुक्त किये गये थे। मन्त्रि परिषद भी वही हैं जो पहले से कार्य करते आ रहे हैं। विधान मण्डलों में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास तथा बिहार में दोहरे

(Bicameral Lagislature) विधान मण्डल स्थापित किये गये हैं। इन सभी संस्थाओं एवं अधिकारियों को नवीन संविधान के अनुसार कार्य करना पड़ता है।

प्रथम अनुसूची के (ख) भाग में उल्लिखित राज्यों में विन्ध्य-प्रदेश को छोड़कर राजप्रमुख नियुक्त किये गये हैं। उनका स्थान वही है जो (क) भाग में उल्लिखित राज्यों में राज्यपालों का है। हैदराबाद में वहाँ के निजाम, मैसूर तथा काश्मीर में वहाँ के महाराजा राजप्रमुख नियुक्त किये गये हैं। कुछ राज्यों में विधान मण्डल भी स्थापित किये गये हैं। मन्त्रिपरिषद प्रायः सब में हैं। विन्ध्यप्रदेश केन्द्रीय सरकार के शासन के अन्तर्गत रखा गया है। प्रथम अनुसूची के (ग) भाग में उल्लिखित राज्यों का शासन केन्द्रीय सरकार के हाथ में रखा गया है।

अध्याय २

शासन के गुण दोष

नवीन संविधान

स्वतन्त्र भारत का नया संविधान जीवन की अभिलाषाओं और आशाओं का मूर्त रूप है। देश और राष्ट्र ने परतन्त्रता से मुक्त होकर स्वशासन और आत्मभाव को प्राप्त करने के लिये सफल और विजयी प्रयत्न किया है। उसकी पूर्ण आहुति इस संविधान में है। यह संविधान हमारी संस्कृति का पुष्प और फल है। प्रजातन्त्र शासन भारतीय परम्परा की अति प्राचीन शैली है। मनु, शुक्राचार्य, बृहस्पति आदि राजनीतिज्ञों के अतिरिक्त कौटिल्य, द्योतमुख, चारायण तथा किञ्जल्क ने भारतीय प्रजातन्त्र के आदर्शों का विस्तृत वर्णन किया है। नवीन संविधान के आरम्भ में ही न्याय, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के चार मूल्य सिद्धान्त स्वीकार किये गए हैं। भारत को एक गण राज्य का विधान प्राप्त हुआ है; गण का अर्थ समस्त प्रजा से है। प्रजा अपने नेताओं द्वारा कार्य करती है। नेता मनुष्यों में विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्ति होता है। यही आदर्श गण प्रणाली है। नेताओं के भीतर जो चरित्र की पूंजी है वही जनता की निधि है। वैदिक संस्कृति के अनुसार हमारे प्राचीन राजनीतिज्ञों ने "महते जान राज्याय" की भावना से समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एक राज्य की कल्पना की थी। वर्तमान संविधान का लक्ष्य भारतीय राष्ट्र को इन्द्र के वज्र के समान सुदृढ़ और अखण्ड बनाना है।

नवीन संविधान अभी पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं हुआ है। भारतीय जनता ने अभी नागरिकता के उन अधिकारों का उपयोग नहीं किया जो इस संविधान द्वारा उसे प्रदान किये गये हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि इस संविधान में कौन-कौन सी त्रुटियाँ और क्या विशेषतायें हैं। जिन लोगों ने विधान की आलोचना की है वे या तो काँग्रेस की नीति से असन्तुष्ट हैं अथवा केवल कल्पना शक्ति का उपयोग किया है। विधान के वास्तविक गुण-दोष तभी प्रकट होते हैं जब उसे कार्यान्वित किया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि नवीन संविधान किसी निश्चित वर्गीकरण

में नहीं रखा जा सकता। इसके अन्दर एकात्मक और संघात्मक दोनों प्रकार के गुण पाये जाते हैं। एक ओर संविधान में विकेन्द्रीकरण की भावना पायी जाती है परन्तु दूसरी ओर उसे एक दृढ़ राजतन्त्र का स्वरूप भी प्रदान किया गया है। राष्ट्रपति के प्रभाव और अधिकारों से स्पष्ट है कि शासन पर उसका पूरा नियन्त्रण होगा। मन्त्रीगण तभी तक कार्य कर सकेंगे जब तक उसकी इच्छा होगी। संविधान में यह बात स्पष्ट नहीं की गई है कि राष्ट्रपति मन्त्रियों की सलाह के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। यह विषय, ब्रिटेन की भाँति, भविष्य की परिपाटी पर छोड़ दिया गया है। नवीन संविधान पर जो सम्मतियाँ प्रकट की गयी हैं उनका वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है।

नवीन संविधान के निर्माण में १९३५ ई० के संघ शासन विधान की चर्चा कई स्थलों पर की गई है। संविधान सभा के सदस्यों ने जहाँ अन्य देशों की शासन पद्धतियों से सहायता ली है वहाँ १९३५ ई० का संघ शासन विधान भी उनके लिए कम सहायक नहीं हुआ है। यद्यपि १९३५ का शासन विधान विदेशी रहा है किन्तु उसकी आधारभूत बातें बड़े काम की रही हैं। प्रान्तों और रियासतों को एक शासन सूत्र में बाँधने का प्रथम प्रयास इसके अन्दर पाया जाता है। इसलिये १९३५ के संघ शासन विधान की सूक्ष्म एवं आलोचनात्मक जानकारी आवश्यक है। भारतीय राष्ट्र के लिये संघ शासन विधान बहुत ही उपयोगी माना गया है। इसकी पुष्टी के लिये संघ शासन की आवश्यकताओं की जानकारी भी आवश्यक है। संघ शासन कैसे असफल हुआ और उसके क्या भयकंर परिणाम हुए इसकी भी चर्चा आवश्यक है। इसी से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि स्वन्तत्र भारत को एक ऐसे संविधान की आवश्यकता हुई है जो पिछले शासन विधान की त्रुटियों से रहित हो और जिसके अन्दर जनता के अधिकार पूर्ण रूप से सुरक्षित हों। १९४७ ई० में भारत को जो स्वतन्त्रता प्राप्त हुई उसमें देश की एकता कायम न रह सकी। मुस्लिम लीग द्वारा आयोजित अराजकता की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए काँग्रेस को विभाजन की नीति स्वीकार करना पड़ा। विभाजन के फल स्वरूप देश को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ी हैं वे बहुत ही लोमहर्षक हैं। शासन को चलाने के लिये भारतीय नेताओं ने १९३५ ई० के संघ शासन विधान में ही कुछ परिवर्तन किया और उसी के द्वारा २६ जनवरी सन् १९५० ई० तक देश का शासन चलता रहा। इसीलिये १९३५ ई० के संघ शासन विधान की उपयोगिता हमारे लिये कम नहीं है।

संघ-शासन की आवश्यकता

प्रत्येक संघ-सरकार के लिये दो चीजें आवश्यक हैं। एक तो बहुत सी रियासतें अथवा सूबे एक दूसरे के पड़ोसी हों। इनके इतिहास, इनकी परम्परा और इनकी रहन-सहन में एकता की झलक हो। दूसरी आवश्यकता इन सूबों के अन्दर एक ऐसी भावना की है जो इन्हें मिलाने के लिए प्रेरित करती हो। इनके अन्दर यह प्रबल इच्छा हो कि वे स्वतन्त्र रहते हुये एक केन्द्रीय सरकार बनावें। संघ-सरकार की उत्पत्ति इन्हीं भावनाओं से होती है। भारतीय संघ-शासन में ये दोनों भावनायें पाई जाती हैं। इस देश में ६०० के लगभग छोटी-छोटी रियासतें और १७ सूबे थे। बहुत दिनों से इनकी इच्छा थी कि एक संघ-शासन बनाया जाय। १९३५ का शासन-विधान इसी का परिणाम था।

संघ-शासन क्या है ?

संघ-शासन की परिभाषा राजनीतिज्ञों ने कई प्रकार से की है। यह राजनीतिक टुकड़ों का संगठन है जो सब की ओर से किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये बनाया जाता है। संघ शब्द ही यह सूचित करता है कि बहुत से छोटे-छोटे समूह इसमें सम्मिलित हैं। यदि किसी दबाव के कारण बहुत सी रियासतें एक सम्मिलित सरकार कायम कर लें तो उसे संघ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि सबके लिये एक केन्द्रीय शासन की स्थापना हो जाती है, परन्तु इसमें उन्हें वह स्वतन्त्रता नहीं है जो एक संघ शासन के अन्दर होनी चाहिये। संघ-शासन के लिये यह आवश्यक है कि छोटे-छोटे विभाग अपनी स्वतन्त्रता से एक सम्मिलित सरकार बनावें। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ४८ रियासतों ने अपनी इच्छा से एक केन्द्रीय शासन की स्थापना की है। इन्हें यह अधिकार है कि जब चाहें संघ से अपने को अलग कर लें। प्रत्येक रियासत को यह पूरी स्वतन्त्रता है कि वह अपनी शासन-पद्धति जैसी चाहे रक्खे। वास्तव में संघ-शासन एक प्रकार का सुलहनामा है, जो स्वतन्त्र रियासतें अपने लाभ की दृष्टि से करती हैं। वे अपना कर्त्तव्य अपने आप निश्चित करती हैं। प्रत्येक रियासत अपनी प्रभुता को कायम रखती है। संघ-शासन से एक ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो सभी रियासतों की रक्षा और उन्नति की जिम्मेवार रहती है।

संघ शासन की शर्तें

संघ-शासन के लिये तीन बातों का होना आवश्यक है। इनकी अनुपस्थिति में इस शासन-पद्धति का निर्माण नहीं हो सकता।

शासन की प्रधानता

(१) प्रत्येक संघ-सरकार शासन से ही अपनी शक्ति प्राप्त करती है। शासन-विधान में यह बात स्पष्ट कर दी जाती है कि सुलह की कौन-कौन सी शर्तें हैं। संघ-सरकार की स्थापना के बाद रियासतें उन बातों को मानने के लिये बाध्य हैं जिनकी प्रतिज्ञा उन्होंने की है। संघ सरकार और रियासतों की सरकारें दोनों के अधिकार की सीमा शासन विधान में निश्चित कर दी जाती है। इसीलिये ऐसे शासन-विधान के लिये आवश्यक है कि वह लिखित हो और सरकार की साधारण मशीन उसे बदल न सके। रियासत और संघ-सरकार किसी एक को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वह शासन-विधान में जैसा चाहे परिवर्तन कर दें। इसे बदलने का अधिकार केवल विशेष अधिकारियों को दिया जाता है। जब कभी इसमें परिवर्तन की आवश्यकता होती है तो अनेक शक्तियों से राय लेनी पड़ती है। संघ-शासन को बदलना उतना ही मुश्किल है, जितना किसी कानून को रद्द करना।

शक्ति विभाजन

(२) संघ-शासन के लिये दूसरी शर्त शक्तियों का विभाजन है। अर्थात् प्रत्येक रियासत को यह अच्छी तरह मालूम हो कि उसके क्या-क्या अधिकार हैं। केन्द्रीय सरकार और रियासती सरकारों के अधिकार एक दूसरे से अच्छी तरह अलग होने चाहिये। एक ऐसी सूची बननी चाहिये जिसमें विस्तारपूर्वक विषयों को बाँटा गया हो कि अमुक विषय केन्द्रीय सरकार के और शेष रियासतों के हाथ में हैं। इस विभाजन में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। जो-जो विषय स्थानीय हों वे रियासतों को दे दिये जायँ और जिन विषयों का सम्बन्ध सम्पूर्ण देश तथा विदेशों से हो वे केन्द्रीय सरकार को दिये जायँ। इससे आपस में मतभेद के अवसर उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये संघ-शासन-विधान बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ होना चाहिये।

संघ-न्यायालय

(३) यद्यपि संघ-शासन-विधान में सारी बातें लिखित होती हैं; अधिकारों का विभाजन कर दिया जाता है; फिर भी ऐसे अवसर पैदा हो जाते हैं जब शासन-विधान में कुछ कमी दिखलाई पड़ती है। कभी कभी दो रियासतें आपस में उलझ जाती हैं। केन्द्रीय और रियासती सरकार में भी मतभेद उत्पन्न हो जाता है। शासन की किसी धारा के दोहरे अर्थ पैदा कर दिये जाते हैं। अधिकारों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता उत्पन्न होती रहती है।

इस प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि एक प्रधान शक्ति बना दी जाय। इसी का नाम संघ-न्यायालय कहा जाता है। यही न्यायालय शासन-विधान सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करता है। जैसे वकील कचहरियों में कानून के अर्थ को स्पष्ट करता है, उसी तरह संघ-न्यायालय शासन को व्यक्त करता है। इस मशीन से सबसे बड़ा लाभ यह है कि किन्हीं भी दो शक्तियों में असन्तोष उत्पन्न नहीं हो पाता। संघ-न्ययालय को शासन का संरक्षक कहा गया है। सबसे प्रवीण राजनीतिज्ञ और कानून के ज्ञाता इस संघ-न्यायालय के न्यायाधीश बनाये जाते हैं। इन्हें सभी प्रकार से निष्पक्ष और स्वतन्त्र रक्खा जाता है।

भारतीय संघ-शासन का विकास

भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष अब तक एक ही प्रदेश रहा है। इसका क्षेत्रफल लगभग १६ लाख वर्गमील और जनसंख्या ४० करोड़ के लगभग थी। राजनीतिक दृष्टि से यह देश दो टुकड़ों में विभाजित था—भारतीय रियासतें और अंग्रेजी सूबे। सूबों का क्षेत्रफल ८ लाख ६२ हजार वर्गमील और जनसंख्या ३० करोड़ के लगभग थी। रियासतों का क्षेत्रफल ७ लाख वर्ग मील और जनसंख्या ६ करोड़ से कुछ ऊपर थी। सारे हिन्दोस्तान में ६०० के लगभग रियासतें थीं। इन रियासतों को अधिकार की दृष्टि से दो श्रेणियों में बाँटा गया था। पहिली श्रेणी में वे रियासतें थीं जो सभी प्रकार से स्वतन्त्र थीं। केवल बाहरी मामलों में वे बृटिश सरकार की मातहत थीं बाकी रियासतें भीतरी और बाहरी दोनों दृष्टियों से परतन्त्र थीं।

रियासतों का संबंध सीधे सम्राट् से होता था। सम्राट् ने अपनी शक्ति गवर्नर-जनरल को वाइसराय के रूप में दे रक्खी थी। इस शक्ति को सर्वोच्च शक्ति (Paramount Power) कहा जाता था। ये अधिकार सम्राट् को विभिन्न संधियों और सुलहनामें में प्राप्त हुये थे। यद्यपि इस संबंध को स्थापित हुये लगभग १०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे परन्तु इसका स्पष्टीकरण ठीक नहीं था। बटलर कमेटी ने इसे स्पष्ट करने में अपनी असमर्थता प्रकट की थी। ये सम्बन्ध समय-समय पर बदलते रहे हैं। कभी-कभी बृटिश सरकार इनमें हस्तक्षेप की नीति चलाती रही है और कभी इन्हें स्वतन्त्र भी रक्खा है। इन रियासतों को वाह्य रक्षा का पूरा आश्वासन दिया गया था। वाइसराय को यह अधिकार था कि वह जब चाहे इनके भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करे। रियासत को यह अधिकार नहीं था कि वह किसी विदेशी राज्य से अपना सम्बन्ध जोड़े। समय पड़ने

पर बृटिश सरकार उनसे मनमानी सहायता लेती थी। अपने राज्य में शान्ति रखने के लिये ये रियासतें बाध्य थीं। आर्थिक, और राजनीतिक दृष्टि से भी इनमें बड़ा मतभेद था। ३० रियासतों में धारा सभायें थीं। ४० रियासतों में अंगरेजी ढंग के न्यायालय स्थापित किये गये थे।

भीतरी मामलों में शासन चलाने के लिये इन रियासतों को काफी स्वतन्त्रता थी। ये अपने तरीके पर अपना धन खर्च कर सकती थीं। बाहरी सम्बन्ध सम्राट् के हाथों में था। केन्द्रीय सरकार में एक रानीतिक विभाग (Political Department) स्थापित किया गया था, जो इन रियासतों की देख-रेख करता था। प्रत्येक रियासत में एक अंगरेज रेजीडेन्ट रहता था। पहिली अप्रैल सन् १९३७ ई० से सम्राट् वाइसराय द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग करने लगा था। बृटिश प्रान्तों में सम्राट् का अधिकार पहले से ही कायम था। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से हिन्दोस्तान के दोनों विभाग एक ही प्रभुता के अन्तर्गत थे। बृटिश परम्परा तथा स्वार्थ ने इन्हें एक दूसरे से अलग कर रक्खा था।

रियासतों और सूबों में चाहे जितना भी अन्तर रहा हो, दोनों का हित एक दूसरे से मिला हुआ था। दोनों एक ही पेड़ की दो शाखायें थीं। एक की उन्नति-अवनति का प्रभाव दूसरे पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। नकशे पर नजर डालने से लाल और पीले रंग एक दूसरे से भिन्न मालूम पड़ते थे, परन्तु उनके घनिष्ठ सम्बन्ध की छाया हमारी आँखों के सामने आ जाती थी। भौगोलिक दृष्टि से रियासतों और सूबों में कोई भेद नहीं था। स्थान की दृष्टि से ये दोनों एक दूसरे से लिपटे हुये थे। इनकी आबादी भी लगभग एक ही थी। दोनों ही ग्रामीण और उपजाऊ प्रदेश थे। ऊपर कहा गया है कि दोनों की प्रभुता सम्राट् के हाथों में थी। आर्थिक दृष्टि से समूचा हिन्दोस्तान एक था। देश की भलाई के सारे साधन एक दूसरे से मिले-जुले थे। राष्ट्रीयता की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतवर्ष एक ही राष्ट्र रहा है। दोनों की संस्कृति भी एक रही है। धार्मिक आचार-विचार सूबे और रियासतों में एक से थे। इतनी एकता होते हुए यदि संघ शासन की स्थापना की गई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। सभी दृष्टियों से यह देश संघ-शासन के योग्य रहा है और आज भी है।

इधर कुछ वर्षो से भारतीय रियासतें इस बात की माँग पेश कर रही थीं कि बृटिश प्रान्तों के साथ उसका व्यापारिक सहयोग स्थापित हो

जाए। बटलर कमेटी ने इस बात पर विचार किया था कि किस प्रकार रियासतें और सूबे एक प्लेटफार्म पर आ सकते हैं। मान्टेग्यू और चेम्सफोर्ड के दिमाग में यह बात पूरी तरह आई थी कि सारे हिन्दोस्तान के लिये एक शासन-विधान बनाना चाहिये। यह बात मान ली गई थी कि हिन्दोस्तान में शासन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ तभी दूर हो सकती हैं जब इस देश का शासन विधान संघ-शासन के आधार पर बना दिया जाए। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक सूबों और रियासतों में सहयोग उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस समय 'मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई उस समय रियासतें संघ-शासन के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिये तैयार न थीं। साइमन कमीशन की रिपोर्ट भी ठुकरा दी गई थी। कारण यह था कि उपरोक्त किसी भी सुधार में केन्द्रीय शासन में परिवर्तन की कोई चर्चा न थी। केवल प्रान्तों में थोड़े बहुत अधिकार देकर बृटिश सरकार हिन्दोस्तानियों को सन्तुष्ट करना चाहती थी। ऐसी दशा में संघ-शासन की बातें करना अधिकार की एक हँसी उड़ाना था।

देशी राजाओं के मन में यह बात आने लगी कि बृटिश प्रान्तों का प्रभाव उन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उन्हें यह ध्यान आया कि प्रान्तों के निवासी उनके भाई हैं। साथ ही उन्हें यह भय था कि वे हिन्दोस्तान की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से अपने को अलग नहीं रख सकते। राष्ट्रीय भावनायें रियासतों में भी काम कर रही थीं। उनकी जनता सूबों की देखा देखी जिम्मेवार शासन की माँग पेश कर रही थी। इन बातों ने राजाओं को इस बात के लिए सचेत कर दिया कि उनका राजनीतिक भविष्य प्रान्तों से अलग नही है। इसलिए उन्होंने यह फैसला किया कि वे संघ-शासन में प्रवेश करने के लिये तैयार हैं। पहली गोलमेज सभा में राजाओं ने अपने इस विचार को बृटिश सरकार के सामने रक्खा। काँग्रेस ने पहली सभा की कार्रवाइयों को स्वीकार कर लिया और १९३१ ई० की दूसरी गोलमेज सभा में महात्मा गाँधी को अपना प्रतिनिधि चुन कर भेजा। तीनों गोलमेज सभायें समाप्त हो जाने के बाद २ अगस्त सन् १९३५ ई० को संघ-शासन-विधान पास किया गया। इसके अनुसार हिन्दोस्तान में एक संघ-शासन की स्थापना की गई। १५ अगस्त १९४७ ई० के स्वतन्त्रता ऐक्ट के अनुसार कुछ रियासतें पाकिस्तान में सम्मिलित कर दी गईं। शेष, जो भारतीय संघ (Indian Union) में हैं क्रमशः अपनी रूप रेखा को बदल रही हैं। कुछ तो प्रान्तों में सम्मिलित कर दी गई हैं और शेष छोटे-छोटे संघ के रूप में बना दी गई हैं। उनके

शासक, जो अब तक निरंकुश रहे हैं, उत्तरदायी शासन बनाने में संलग्न हैं। प्रजामण्डल की मान्यता बढ़ रही है। तात्पर्य यह है कि प्रान्तों और रियासतों का भेद-भाव समाप्त कर दिया गया है। १६४८ के भारतीय सम्विधान को देखते हुये स्पष्ट है कि इस भेद-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है। एक सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण में यह अन्तर घातक है।

भारतीय संघ-शासन के गुण-दोष

भारतीय संघ-शासन-विधान संघ-शासन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। सम्पूर्ण शासन-विधान लिखित कर दिया गया था। इसमें परिवर्तन करना आसान नहीं था। केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों का विभाजन भी कर दिया गया था। एक संघ-न्यायालय की भी स्थापना की गई थी। फिर भी भारतीय संघ-शासन-विधान अपनी एक विशेषता रखता था। इस विशेषता का बहुत कुछ कारण इस देश की राजनीतिक परिस्थिति रही है। इस शासन-विधान में कुछ ऐसे दोष थे जो इसकी उपयोगिता को कम कर देते थे।

(१) संघ-शासन में आवश्यक है कि इसमें शामिल होने वाले सूबे या, रियासतें पूर्ण स्वतंत्र हों, उनकी प्रभुता उन्हीं के अन्दर मौजूद हो। किसी विशेष सामूहिक हित की दृष्टि से वे एक संघ की स्थापना करते हैं। भारतीय संघ-शासन में इन दोनों बातों का अभाव था। रियासतें और सूबे दोनों ही परतन्त्र थे। दोनों की प्रभुता सम्राट् के हाथों में थी। सूबे संघ-शासन में आने के लिये बाध्य थे। ये दोनों बातें इस बात को सिद्ध करती थीं कि यह संघ-शासन उनकी इच्छा के विरुद्ध था। इसकी स्थापना होने पर भी इस देश की प्रभुता सम्राट् और पार्लियामेंट के हाथों में थी। शासन के निर्माण में जनता की राय नहीं ली गई थी। सारी कार्रवाई स्वयं पार्लियामेंट ने किया था। इसलिए कहा जाता था कि भारतीय संघ-शासन-विधान हिन्दोस्तानियों पर 'जबरदस्ती लादा गया है।'

(२) शासन की मशीन को देखते हुये यह स्पष्ट है कि संघ-शासन एक ऊपरी ढोंग था। बृटिश सरकार की पुरानी नीति उसी प्रकार बनी हुई थी। केन्द्रीय शासन की बागडोर ढीली नहीं की गई थी। प्रान्तों के गवर्नरों तथा गवर्नर-जनरल को तरह-तरह के विशेष अधिकार देकर पार्लियामेंट ने अपने अधिकारों को कम नहीं किया था। जिस लाभ की

दृष्टि से सूबे और रियासतें एक स्थान पर आना चाहती थीं वह लाभ ही गायब था। इसका फैसला पार्लियामेंट के हाथों में छोड़ दिया गया था।

(३) संघ-शासन में यह आवश्यक है कि जो इकाइयाँ इसमें शरीक हों उनमें काफी समानता हो। उनके पद और अधिकार एक से हों। भारतीय संघ-शासन में इस नियम का अभाव था। रियासतें पद और अधिकार में सूबों से इतनी भिन्न रही हैं कि उनमें समानता का कोई भाव नहीं था। राजाओं की पुरानी निरंकुशता वैसी ही बनी रही। उनका शासन प्रजा के ऊपर इतना कड़ा था कि वह राजनीतिक अधिकारों का स्वप्न भी नहीं देखती। रियासतों में प्रजा की दशा गिरी हुई रही है। उन्हें छोटे-छोटे अधिकारों के लिये तरसना पड़ता था। कुछ रियासतों में प्रजा की दशा अच्छी रही, परन्तु प्रश्न तो ६०० रियासतों का था। इसके विपरीत सूबे किसी हद तक शासन के लिये स्वतन्त्र थे। वहाँ प्रजा को कुछ राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे। प्रान्तों को यह अधिकार दिया गया था कि वे अपना प्रतिनिधि चुन कर संघ-धारा-सभाओं में भेजें। चुनाव में केवल प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्य वोट देने के अधिकारी थे। रियासतों में प्रजा को इतना भी अधिकार नहीं दिया गया था। वहाँ से जो सदस्य संघ-धारा-सभाओं में जाते वे राजाओं द्वारा मनोनीत रहते। इस प्रकार के भेद-भाव से बृटिश सरकार ने संघ-शासन के महत्व को बिगाड़ दिया था। जनता को समान नागरिक अधिकार नहीं दिये गये थे।

(४) संघ-धारा-सभाओं द्वारा जो कानून पास किए जाते वे हिन्दोस्तान पर एक से लागू न होते। प्रान्तों में वे समान रूप से अवश्य बर्ते जाते, परन्तु रियासतों में उनका प्रभाव भिन्न भिन्न होता। प्रत्येक रियासत के साथ बृटिश सरकार की जैसी शर्त थी, कानूनों का वैसा ही असर उस पर पड़ता। यह बात राजाओं की इच्छा पर छोड़ दी गई थी कि वे कुछ विषयों में संघ-धारा-सभाओं की बातें मानें। इस प्रकार का भेद-भाव एकता के स्थान पर कटुता उत्पन्न करता। जो शक्ति सारे हिन्दोस्तान के लिये बनाई गई थी उसकी नीति सब जगह एक सी न बर्ती जाय, यह बात कुछ समझ में नहीं आती।

(५) संघ-सरकार को यह अधिकार नहीं था कि वह शासन-विधान में परिवर्तन करे। यह अधिकार केवल पार्लियामेंट को दिया गया था।

(६) ऊपर कहा गया है कि संघ-धारा-सभाओं में रियासतों के सदस्य राजाओं द्वारा मनोनीत किये जाते। इसके विपरीत प्रान्तों के सदस्य

प्रजा के प्रतिनिधि होते। लेकिन प्रजा को यह अधिकार नहीं था कि प्रत्यक्ष रूप से वह अपना प्रतिनिधि चुने। प्रान्तीय धारा-सभाओं के सदस्य इन्हें निर्वाचित करते*। निर्वाचन क्षेत्र साम्प्रदायिकता के आधार पर बनाये गये थे। प्रत्येक सम्प्रदाय को पृथक्-पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिय गया था। इससे देश में साम्प्रदायिक भावनाओं का प्रचार होता और राष्ट्रीयता में बाधा पड़ती। प्रजा और धारा-सभा के सदस्यों में सीधा सम्पर्क न होने से धारा-सभा की जिम्मेवारी कम हो जाती थी। संघ-शासनों में प्रायः छोटी धारा-सभाओं के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं और बड़ी सभायें प्रत्येक रियासत के प्रतिनिधित्व की प्रतीक होती हैं। अर्थात् बड़ी सभा में रियासतें अपने आपको औरों के बराबर समझती हैं। क्षेत्रफल या जनसंख्या में कोई छोटी हो अथवा बड़ी, परन्तु उनका दर्जा बराबर होता है। भारतीय संघ में ऐसा नहीं किया गया था।

(७) संघ-शासन-विधान जनता को कोई अधिकार प्रदान नहीं करता था। संघ-धारा-सभाओं की बनावट दोषपूर्ण थी। उसके अधिकार बहुत ही सीमित थे। कानून के क्षेत्र में धारा-सभा के अधिकार नाम मात्र के लिए थे। आय-व्यय में भी उसके अधिकार कम थे। पग-पग पर गवर्नर-जनरल के विशेष अधिकारों से वह दबी हुई थी। धारा-सभा की इच्छा के विरुद्ध वह फरमान जारी कर सकता था। उसकी अनुमति के बिना उसे कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। यदि धारा-सभा किसी मद के खर्चे को बन्द कर देती तो गवर्नर-जनरल उसे जारी कर सकता था। तात्पर्य यह है कि प्रजा के धन को उसके प्रतिनिधियों को खर्च करने का अधिकार नहीं था। शासन-प्रबन्ध में संघ-सरकार की आधी शक्ति एक मात्र गवर्नर-जरनल के हाथ में रक्खो गई थी। बाकी मामलों में भी वह जब चाहता हाथ डाल सकता था। उसकी व्यक्तिगत जिम्मेवारियाँ (Special Responsibilities) इतनी अधिक थीं कि उनकी कोई सीमा न थी। उनके सामने भारतीय मन्त्रियों के अधिकार सूर्य के सामने दीपक के समान थे।

इन तमाम कमजोरियों को एकत्र करने पर यह पता चलता है कि भारतीय संघ-शासन-विधान में 'संघ' शब्द उपयुक्त न था। पार्लियामेंट

---

* १९३५ ई० के संघ-शासन-विधान के पूरी तरह कार्यान्वित न होने के कारण ये सब बातें पुस्तकों में ही रह गईं।

के अधिकार वैसे ही थे जैसे १६१६ के पहिले थे। रियासतों में राजाओं के अत्याचार वैसे ही होते रहते जैसे पहले होते आये थे। संघ-शासन-विधान में इसकी कोई दवा नहीं की गई थी। इस शासन-विधान में प्रजा के अधिकारों की घोषणा तक नहीं की गई थी। संयुक्तराज्य अमेरिका अथवा रूस से इसकी तुलना नहीं की जा सकती थी। शासन-विधान में यह बात बार-बार कही गई थी कि हिन्दोस्तान की प्रभुता बृटिश सम्राट् के हाथ में है। संघ-शासन की मशीन को चलाने का अधिकार भारत मन्त्री के हाथ में दिया गया था। वह इंजिन के ड्राइवर की तरह जैसे चाहता चलाता। गवर्नर-जनरल के अधिकार इतने अधिक थे कि आवश्यकता पड़ने पर वह सम्पूर्ण शासन-विधान को रद्द कर सकता था। उसे अधिकार था कि स्वतन्त्र रूप से हिन्दोस्तान पर राज्य करे। सरकार की आमदनी का ८० प्रतिशत उसे खर्च करने का अधिकार था। संघ-सरकार के बजट में ⅘ हिस्से पर धारा सभा का कोई अधिकार नहीं था।

सूबों तथा रियासतों को यह अधिकार नहीं था कि वे जब चाहें संघ से अलग हो जायँ। रियासतों को सूबों से कहीं अधिक स्वतन्त्रता दी गई थी। संघ में आना और न आना उनकी इच्छा पर था। एक ऐसी संख्या निश्चित कर दी गई थी जिससे कम रियासतों के सम्मिलित होने पर संघ शासन आरम्भ नहीं किया जा सकता। संघ-धारा-सभा की बड़ी सभा में जब तक रियासतों के ५२ प्रतिनिधि न होते तब तक संघ की कार्रवाई आरम्भ नहीं की जाती। रियासतों के सम्राट् के साथ जो शर्तें हुई थीं वे उसी तरह बनी रहतीं। संघ की आमदनी में ९० प्रतिशत प्रान्तों से लिया जाता और केवल १० प्रतिशत रियासतें देतीं। प्रत्येक राजा को यह अधिकार था कि वह जब जैसे चाहता संघ शासन में सम्मिलित होता।

रेलवे तथा बैंक की कार्रवाइयाँ संघ-शासन की मातहती से अलग रक्खी गई थीं। संघ-धारा-सभा को यह अधिकार नहीं था कि वह मन्त्रियों को भर्ती करे तथा उन्हें निकाल सके। यह अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया था। वही विभागों को बाँटता और जब चाहता मन्त्रियों को निकाल सकता था। इससे स्पष्ट है कि मन्त्री अपनी कार्रवाइयों के लिए धारा-सभा के प्रति जिम्मेदार न होते। सुरक्षित विभाग (Reserved. Department) गवर्नर-जनरल की मातहती में रहता। इसके लिये

उसे मन्त्रियों और धारा-सभा के सलाह की कोई जरूरत न होती। धारा-सभा को बुलाने और स्थगित करने का अधिकार उसी को था।

शासन-विधान की १२वीं धारा में यह स्पष्ट कहा गया था कि गवर्नर-जनरल प्रान्तीय मामलों में हाथ डाल सकता है।[१] उसके विशेष अधिकार प्रान्तों में भी लागू होते। किसी भी संघ में न्यायालय का फैसला अन्तिम माना जाता है। लेकिन भारतीय संघ-शासन-विधान इससे वंचित रक्खा गया था। संघ-न्यायालय के फैसले के बाद कुछ मुकदमों की अपील प्रिवी कौंसिल में होती। बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ भारत मंत्री की इच्छा से दी जातीं। कहा जाता है कि संसार के इतिहास में इस प्रकार का संघ-शासन कहीं नहीं मिलता। इसके अन्दर अनेक वर्गों के स्वार्थ सुरक्षित रक्खे गये थे। ब्रिटिश साम्राज्य, भारतीय रियासतें धनी वर्ग आदि के हितों का विशेष ध्यान रक्खा गया था। लार्ड लोथियन लिखते हैं[२] "नया शासन-विधान तमाम बुराइयों के बावजूद हिन्दोस्तान की वर्तमान दशा के इतने अनुकूल है कि इसकी समालोचना करने वाले इसे अस्वीकार नहीं कर सकते।" हिन्दोस्तानियों की राष्ट्रीय भावनाओं के विकास और उसकी रक्षा पर थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया गया था। एक सज्जन लिखते हैं[३] "शासन के बनाने वालों ने एक ऐसा गलत रास्ता इख्तियार किया कि वे ठीक रास्ते से सही उद्देश्य पर नहीं पहुँच सके।" डाक्टर अम्बेदकर के शब्दों में[४] "शासन-विधान का सर और पैर दोनों गलत था।"

१—यह धारा १९४७ के संशोधित विधान से निकाल दी गई थी।

२—The new Act, with all its defects and anomalies corresponds far more closely to the present day realities in India than its Indian critics are willing to admit.

३—The framers, therefore, started wrongly and could not go on the right road to reach the right goal.

४—The federal constitution is wrong in its conception and wrong in its basis.

एक विद्वान् ने संघ-शासन-विधान की समालोचना करते हुए लिखा था "राजनीतिक आवश्यकताओं ने दो अजनबी आदमियों को एक ही चार-पाई पर सुला दिया है। अब यह देखना है कि कितने दिन तक इन दोनों की बनती है।" समालोचक का उद्देश्य प्रान्तों और रियासतों से था। इसकी समालोचना करते हुये श्रीयुक्त सुबास चन्द्र बोस ने लिखा था, 'भारतीय सरकारी ऐक्ट में जिस संघ-शासन की कल्पना की गई है वह एक धोखे की टट्टी है। इसमें बृटिश राजनीतिज्ञों ने हिन्दोस्तान को गुलाम रखने की तरकीबें सोची हैं। यह शासन एक प्रकार से प्रजातन्त्रवाद और फ्यूडल प्रथा दोनों को एक सूत्र में बाँधने की कोशिश करता है।"

१९१९ में बृटिश प्रान्तों में जो दोहरे शासन की नींव डाली गई थी वह सर्वथा असफल रही, हिन्दोस्तान का कोई वर्ग इससे संतुष्ट न रहा। १९३५ के संघ-शासन-विधान में प्रान्तों का दोहरा शासन दूर कर दिया गया, परन्तु केन्द्र में फिर यही स्थापित किया गया था। केन्द्रीय सरकार के कुछ विषय गवर्नर-जनरल के हाथ में और कुछ मन्त्रियों के हाथ में रक्खे गये थे। अपनी विशेष जिम्मेवारियों को चलाने के लिये उसे यह अधिकार था कि वह तीन व्यक्तियों को नियुक्त कर ले। धन सम्बन्धी मामलों में राय देने के लिये वह एक आर्थिक सलाहकार (Financial Adviser) भी नियुक्त कर सकता था। शासन-विधान में मन्त्रियों के आर्थिक अधिकारों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि हिन्दोस्तानियों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं थी।[1]

१९१९ के शासन-विधान में बृटिश सरकार ने यह वादा किया था कि १० वर्ष बाद एक कमीशन नियुक्त करके यह जाँच की जायेगी कि सुधार की योजना कहाँ तक ठीक है। इससे स्पष्ट है कि शासन के बनाने वालों ने अपनी ईमानदारी में कोई कसर बाकी न रक्खी थी। परन्तु संघ-शासन-विधान में कोई ऐसा मार्ग नहीं था। सभी चीजें भविष्य पर छोड़ दी गईं थीं। उपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की इस विधान में चर्चा तक नहीं थी। यह जिक्र कहीं नहीं था कि

१—The political swaraj will be an empty husk without the economic swaraj. India, therefore, wants economic swaraj with the political swaraj. The Government of India Act, 1935, however, does not grant that.

हिन्दोस्तान को उपनिवेशिक स्वराज्य कब दिया जाता । सर सेमुअल होर ने जो उस समय भारतमन्त्री थे, कामन सभा में कहा था, हिन्दोस्तान को अगली बार भी इसे मिलने की सम्भावना नहीं है। श्री सत्यमूर्ति ने इस शासन-विधान पर राय प्रगट करते हुये कहा था[१], "हिन्दोस्तान की बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावनाओं को देखते हुए यह शासन-विधान स्वीकार नहीं किया जा सकता।" भारत के राजनीतिक दलों में केवल हिन्दू सभा ने इसका समर्थन किया था; वह भी इसलिए कि इससे "अखंड हिन्दोस्तान" का समर्थन होता था। काँग्रेस ने इसे विदेशी कह कर ठुकरा दिया था।[२]

१९३५ का संघ-शासन अपनी निजी विशेषता रखता था। न तो हम इसे सच्चा संघ-शासन कह सकते थे और न इसमें प्रजातन्त्रवाद की कोई झलक थी। इस देश की परिस्थिति को देखते हुए इस तरह का शासन-विधान उपयोगी नहीं हो सकता था। प्रान्तों और रियासतों में इतना राजनीतिक भेद था कि दोनों एक सूत्र में नहीं बाँधे जा सकते थे। संघ-शासन का स्वरूप ऐसा विचित्र था जो कहीं सुना भी नहीं गया होगा। कारण यह है कि एक तरफ सूबों को और दूसरी तरफ रियासतों को बाँधा गया था। एक की सरकार प्रजातन्त्रवाद के आधार पर होती और दूसरे में पूर्वी एकतन्त्रवाद होता।[३]

१—Such a constitution cannot be accepted by India as suitable dwelling-place for new consciousness of nationhood.

२—The Indian National Congress has rejected it because it is not a 'Swadeshi' constitution, having been forged in London by the combined efforts of the British Imperialists.

३—"The Indian Federal System, "Writes Mr. H. B. Lees Smith, "Will be of a kind hitherto unknown, for there will be one set of federal powers for the provinces and another for each of the Indian Native States. The government of one part of the Federation will be based upon Parliamentary principles, that of the other upon oriental absolutism."

मुस्लिम लीग ने संघ-शासन की कड़े शब्दों में आलोचना की थी। २० दिसम्बर सन् १९३८ ई० को बम्बई से एक वक्तव्य देते हुये मि० जिन्ना ने कहा था, "संघ-शासन-विधान उस पौदे की तरह है जिसे लगाने की आज्ञा हमें एक रेगिस्तान में दी गई है। मेरी समझ में बृटिश सरकार ने इस शासन-विधान को बनाकर एक बहुत बड़ी विपत्ति हमारे सर पर वैसे ही लाद दी है जैसे वर्साइल की सन्धि ने योरप के ऊपर।" सांप्रदायिक दृष्टि से हिन्दुओं का यह कहना था कि संघ-धारा सभा में किसी भी प्रकार से उनका बहुमत नहीं होता। यही डर मुसलमानों को भी था। काँग्रेस स्वयं डरी हुई थी कि वह बहुमत नहीं प्राप्त कर सकती। एक वक्तव्य देते हुए सर ए० एच० गजनवी ने कहा था "छोटी सभा में काँग्रेस अधिक से अधिक ४० सीट प्राप्त कर सकती है।" अल्पसंख्यक वर्ग सभी प्रकार से असन्तुष्ट थे।

संघ-शासन के भयंकर परिणाम

संघ-शासन की योजना कुछ प्रान्तों में किसी तरह २७ महीने तक चली। अन्त में काँग्रेस को त्याग पत्र देना पड़ा। इस २७ महीने के शासन का प्रभाव राजनीतिक दृष्टि से देश पर बहुत ही बुरा पड़ा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि काँग्रेस सरकार बुरी थी, बल्कि संघ-शासन की कमजोरियाँ देश में भली भाँति स्पष्ट हो गई थीं। साम्प्रदायिक प्रश्न बढ़ने लगे थे, हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे को शत्रु समझने लगे। हिन्दू महासभा अपनी एक अलग राग अलापने लगी। स्वयं काँग्रेस में ३ दल बन गये। गाँधी जी के विचार वाले मंत्रिपद से सन्तुष्ट रहे। काँग्रेस-समाजवादी धारा सभाओं में चले तो गये किन्तु मन्त्रिपद ग्रहण नहीं किया। अग्रगामी दल प्रान्तीय स्वराज्य का विरोध करता रहा। तात्पर्य यह है कि संघ-शासन पूरी तरह लागू न होने पर भी इसके भयंकर परिणाम दिखाई पड़ने लगे थे। जो प्रश्न राष्ट्रीय उत्थान में दबे हुये थे और जिनके उभड़ने की आशा निकट भविष्य में न थी, वे इतने भयंकर रूप धारण कर लिये थे कि उन्हें हल किये बिना हमारी राष्ट्रीय उन्नति नहीं हो सकती थी। यदि संघ-शासन-विधान से यही परिणाम निकलता था तो उसे हम दूर से ही नमस्कार करते। जो शासन-विधान हमें थोड़ा भी अधिकार प्रदान नहीं करता, और जिससे देश में अनेक दल पैदा होते, उसके चलाने की चेष्टा हमें भूल कर भी नहीं करनी चाहिये थी। इसका बुरा प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि मुसलमान

हिन्दोस्तान को दो राष्ट्रों में बाटने की राग अलापने लगे। उनकी पाकिस्तान योजना देश के लिये घातक नहीं तो और क्या है ?

१९४७ का अस्थायी विधान

१५ अगस्त सन् १९४७ ई० को बृटिश सरकार ने भारतीय शासन का भार भरतवासियों को प्रदान कर दिया। संविधान सभा अपने कार्य में व्यस्त थी और उसका अनुमान था कि नवीन संविधान १९४९ ई० के मध्य तक तैयार हो जायगा। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक था कि शासन का कार्य चलाने के लिए कोई व्यवस्था की जाय। १९३५ ई० का संघ-शासन-विधान उपयुक्त नहीं था क्योंकि उसका निर्माण विदेशियों द्वारा हुआ था और स्वतन्त्रता के पश्चात् उसकी कितनी ही धारायें असामयिक हो गयी थीं। इसीलिये राष्ट्रीय सरकार ने १९३५ ई० के संघ-शासन-विधान में कुछ परिवर्तन कर शासन का कार्य चलाना आरम्भ किया। यही अस्थायी विधान २६ जनवरी १९५० ई० तक कार्य करता रहा है। २६ के पश्चात् नये संविधान को पूर्णतया लागू कर दिया गया है, परन्तु जब तक इसके अनुसार केन्द्रीय तथा राज्यों के विधान मण्डलों का निर्माण नहीं हो जाता तब तक राष्ट्रीय सरकार को अपना कार्य चलाने के लिये एक नयी व्यवस्था का निर्माण करना पड़ा है। संविधान सभा को संसद् का स्वरूप प्रदान किया गया है। यही सभा इस समय केन्द्रीय विधान मण्डल का कार्य कर रही है। राज्यों के विधान मण्डल (Provincial Legislatures) तब तक अपना कार्य करते रहेंगे जब तक इनके सदस्यों का निर्वाचन नहीं होगा। केन्द्रीय कार्यपालिका (Central Executive) में भी अगले चुनाव तक कार्य चलाने के लिए उलट-फेर किया गया है। नवीन संविधान में प्रान्तों और देशी रियासतों का भेद-भाव हटा दिया गया है। भारतीय संसद् में जो श्वेत पत्र उपस्थित किया गया है उसके अनुसार ५०० से अधिक देशी रियासतों को १५ संयुक्त अंगों में परिवर्तित किया गया है। कुछ देशी राज्य प्रान्तों में विलीन किये गये हैं। कुछ राज्य संघों में अन्तर्कालीन मन्त्रि मण्डल बनाये गये हैं। देशी रियासतों में राजप्रमुख, मन्त्रि परिषद् तथा विधान सभाओं का वही काम है जो प्रान्तों में उसी प्रकार के अधिकारियों का है। इस प्रकार निरंकुशतावादी तन्त्र ढाँचे को पूर्ण प्रजातन्त्रीय रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। प्रान्तों और रियासतों को राज्य शब्द की संज्ञा दी गयी है। अस्थायी विधान की काम चलाऊ बातें सम्भवतः १९५१ ई० तक समाप्त हो जायँगी।

भारतीय संविधान के संबंध में दो प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं। कुछ लोगों ने इसे आदर्श संविधान कहा है और इसके द्वारा भारती उत्थान की बड़ी-बड़ी आशायें प्रकट की हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने इसकी कड़ी आलोचना की है। उनका विचार है कि संविधान में कोई नवीनता नहीं है। इसका आधार १९३५ का संघ-शासन-विधान है और इसके विस्तार में अन्य शासन पद्धतियों का मिश्रण है। बहुत से आलोचकों ने यहाँ तक कहा है कि यह संविधान हमें फासिस्टवाद की ओर ले जाता है, इसमें सब शक्ति केन्द्र में ही स्थित है। कुछ लोगों ने यह भी कहा है कि हम राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं, इसलिये संविधान बनाने में योरोपीय शासन पद्धतियों से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने हुए लोगों के द्वारा इसका निर्माण नहीं हुआ है। इसके भविष्य के विषय में कहा गया है कि कुछ ही वर्षों के अन्दर यह बदल जायगा।

नवीन संविधान की आलोचना

कई शताब्दियों के बाद भारतीय जनता को यह अवसर प्राप्त हुआ है कि वह एक गणराज्य की स्थापना करे। भारतीय परम्परा आरम्भ से ही इसी प्रकार की शासन पद्धति स्थापित करने की रही है। प्रजातन्त्रीय अधिकारों की रक्षा का एक बहुत बड़ा कारण शासन की विकेन्द्रीकरण प्रणाली थी। ऊपर से देखने में भारतीय राजा की शक्ति सर्वोपरि जान पड़ती थी लेकिन वस्तुतः उसके अधिकार का क्षेत्र बहुत ही सीमित कर दिया गया था। सामाजिक संस्करण और आचार, शिक्षा, उद्योग-धन्धे, व्यापार आदि सैकड़ों विषयों में स्वतन्त्र संस्थायें जनजीवन का काम चलाती थी, जिनके दायरे में राज्यशक्ति का हस्तक्षेप प्रायः नहीं के बराबर था। इसी कारण प्राय: प्रत्येक ग्रामसंस्था एक छोटे से स्वायत्त प्रजातन्त्र का रूप रखती थी। स्वायत्त शासन की यह प्रणाली भारतीय राजनैतिक जीवन में लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक बनी रही। नवीन संविधान में इस भारतीय परम्परा की पुनरावृत्ति की गई है। जनता की सत्ता सर्वोपरि मानी गई है। सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्रदान किया गया है। १७ करोड़ स्त्री-पुरुषों को नये विधान में मताधिकार दिया गया है। किसी भी विधान का अध्ययन करते समय उसके उद्देश्य का ध्यान रखना चहिये। नवीन संविधान का लक्ष्य प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत अधिकारों के उच्चतम आदर्शों का पालन करना है। परन्तु कितना ही अच्छा विधान

क्यों न हो यदि नागरिकों में प्रजातन्त्र और देश सेवा की भावना नहीं है तो वह सफल नहीं हो सकता। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मन प्रजातन्त्र का जो शासन विधान बना था वह एक आदर्श विधान था। परन्तु वह सफल नहीं हुआ। अंग्रेज कवि पोप ने लिखा है "सरकार के ऊपरी आकार की मूर्ख लोग टीका करते हैं, असली वस्तु उसकी नीति है।"[१]

भारतीय संविधान इस प्रकार से बनाया गया है कि शान्तिकाल तथा साथ ही सब प्रकार की विपत्तियों के समय काम आ सके। इसमें यहाँ तक व्यवस्था है कि आवश्यकता पड़ने पर राज्यों का शासन सम्पूर्ण रूप से केन्द्र के हाथों में ले लिया जाय और इस प्रकार संविधान का जो आधारभूत सांघिक रूप है उसे भी अलग कर दिया जाय। सभी नागरिकों को समानता, स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सांस्कृतिक, सांपत्तिक तथा संवैधानिक प्रतिकार सम्बन्धी अधिकार समान रूप से दिये गये हैं। किसी नागरिक के विरुद्ध धर्म, जाति, लिंग तथा जन्मस्थान के कारण भेद करना निषिद्ध माना गया है। सार्वजनिक नियुक्तियों में संविधान सबके लिए समान सुविधा देता है। सामाजिक समानता की स्थापना के लिये स्थानीय तथा विदेशी पदवियों का व्यवहार उठा दिया गया है। संविधान की १८ वीं धारा में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि "सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा।" खिताबों के अतिरिक्त अस्पृश्यता का भी अन्त कर दिया गया है। संविधान ५ करोड़ अछूतों को उनकी युग युग की पतित सामाजिक अवस्था से ऊपर उठाता है। इससे भारत में सामाजिक लोकतन्त्र के एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। संविधान में साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र वाली विख्यात पद्धति समाप्त कर दी गई है, अर्थात् जो नागरिक मतदान करेगा वह हिन्दू या मुसलमान या ईसाई के रूप में न होकर व्यक्ति के रूप में होगा। कुछ आलोचकों ने यह दोषारोपण किया है कि भारतीय संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के शासन-विधान की प्रतिलिपि है। परन्तु यह दोषारोपण निराधार

---

1 For forms of Government
Let fools contest;
Whatever is best
Administered is best.

है। अमेरिका के शासन-विधान में दोहरी नागरिकता की प्रथा है, प्रत्येक व्यक्ति राज्य और संघ दोनों का नागरिक है। भारतीय संविधान में द्वैत नागरिकता का निषेध किया गया है। एक भारतीय नागरिक किसी भी राज्य में रहता हुआ भारत में सर्वत्र नागरिक है।

भारतीय संविधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रथम बार भारत की ३२ करोड़ जनता के लिये एक भाषा तथा लिपि का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। आयर्लैंड, कनाडा, स्विटजरलैंड जैसे छोटे देशों में भी २, २ और ३, ३ भाषायें राज्यभाषा का कार्य करती हैं। हमारे देश में १४ प्रान्तीय भाषायें हैं फिर भी सारे राष्ट्र के लिये एक ही हिन्दी भाषा की स्वीकृति भारतीय नागरिकता के निर्माण में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कदम है। संविधान की एक यह भी विशेषता है कि उसका स्वरूप संघात्मक होने पर भी उसमें वे सारे गुण विद्यमान हैं जिनके द्वारा विशेष परिस्थितियों में केन्द्रीय सरकार उसी प्रकार कार्य कर सकेगी जैसा वह एकात्मक रूप रखने पर कर सकती थी। हमारा इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जब जब भारतवर्ष में केन्द्रीय सत्ता ढीली पड़ी तभी तभी भारत की स्वतन्त्रता को विदेशियों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। संविधान निर्माताओं ने इसी लिए नये संविधान में संघीय तथा एकात्मक शासन की सभी अच्छाइयों को ग्रहण किया है। हमारे देश में आज कितनी ही राष्ट्र विरोधी शक्तियाँ काम कर रही हैं। कभी संकुचित प्रान्तीयता की भावना सर उठाती है; कभी देशी रियासतों के राजा अपनी खोयी हुई सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं। साम्यवादी भी देश के आर्थिक संकट का लाभ उठाकर समाज के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में भारतवासियों के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है, जिसका संविधान में पूर्ण रूप से प्रबन्ध किया गया है। कुछ विद्वान् शक्तिशाली केन्द्र निर्माण को प्रजातन्त्र विरोधी कहते हैं। उनकी राय में एक शक्तिशाली केन्द्र तानाशाही शासन का सूचक है। वे संविधान के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों की स्थिति को स्थानीय संस्थाओं से अधिक नहीं मानते। केन्द्र जब चाहे उनके काम में हस्तक्षेप कर सकता है। विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति को इस बात का भी अधिकार है कि वह एक विज्ञप्ति निकाल कर प्रान्तीय सरकारों को केन्द्रीय सरकार के अधीन कर ले। इन आरोपों में सच्चाई का अंश अवश्य है परन्तु आलोचकों को यह भूलना नहीं चाहिये कि संघीय विधान की सबसे बड़ी पहचान प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच अधिकारों का विभाजन है।

यह विभाजन भारतीय संविधान में पूर्ण रूप से विद्यमान है। इस अधिकार विभाजन के अधीन प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारें अपने अपने क्षेत्र में ही काम करेंगी। रही विशेष परिस्थितियों की बात, तो ऐसे समय में देश का कल्याण केन्द्रीय सरकार को सुदृढ़ बनाने में ही है। हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि केन्द्रीय सरकार धारा सभा के प्रति उत्तरदायी होगी जिसमें प्रान्तों द्वारा निर्वाचित सदस्य ही भाग लेंगे।

राजनीति का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि किसी देश में नागरिकों के अधिकारों का उस समय तक कोई मूल्य नहीं होता जब तक देश में एक स्वतन्त्र न्यायालय की स्थापना नहीं की जाती। भारतीय संविधान में इस प्रकार के एक स्वतन्त्र न्यायालय का प्रबन्ध किया गया है। यह नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के अतिरिक्त संविधान के संरक्षक का भी कार्य करेगा। भारत के फेडरल न्यायालय को इस बात का पूर्ण अधिकार दिया गया है कि वह नागरिकों के अधिकार की रक्षा के लिये 'बन्दी प्रत्यक्षी करण याचिक' (Habeas Corpus Petition) जारी कर सके तथा ऐसे कानूनों को संविधान विरोधी घोषित कर दे जो नागरिकों के मौलिक अधिकारों की अवहेलना करते हों। संविधान में शासन नीति तथा आदर्शों को भी प्रतिपादित किया गया है। इस सम्बन्ध में भारत ने न रूस के समाजवाद का अनुसरण किया है, और न पूँजीवाद के 'खुला छोड़ दो जैसा होता है होने दो' के सिद्धान्त का। संयुक्तराज्य अमेरिका स्विटजर लैंड, आस्ट्रेलिया, आयर्लैंड, कनाडा, फ्राँस आदि देशों में शासन विधान में परिवर्तन करने की परिपाटी बहुत ही जटिल है। इस अंश में भारत का संविधान ब्रिटेन के विधान के अधिक समीप है। भारतीय संविधान सुगमतापूर्वक परिवर्तित किया जा सकता है। संविधान में परिवर्तन सम्बन्धी कोई प्रस्ताव संसद् (Parliament) की दोनों सभाओं में पृथक् पृथक् स्वीकृत होने पर और यह स्वीकृति दोनों सभाओं के सदस्यों के बहुमत द्वारा और उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई मत द्वारा प्राप्त होनी चाहिये। अन्य सब प्रस्तावों की तरह संविधान में परिवतन सम्बन्धी प्रस्तावों के लिये भी राष्ट्रपति की सहमति आवश्यक होगी। जिन धाराओं का सम्बन्ध संघ के अन्तर्गत राज्यों से है उनमें परिवर्तन करने के लिए यह आवश्यक है कि बहुसंख्यक राज्य भी उन परिवर्तनों के पक्ष में हों।

कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न उठाया है कि नवीन संविधान कहाँ तक महात्मा गाँधी के विचारों के अनुकूल है। किसी भी संविधान के अन्तर्गत राजकीय संगठन की प्रधानता होती है। दार्शनिक विचारों का

उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। शासन सम्बन्धी नीति और विधान के उद्देश्य से यह अनुमान किया जाता है कि इसमें किस प्रकार के विचारों की प्रधानता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट है कि संविधान में महात्मा गाँधी के सिद्धान्त सम्मिलित किये गये हैं। स्वतन्त्रता संग्राम में महात्मा गाँधी ने तीन बातों पर सदैव जोर दिया, (१) खादी (२) अस्पृश्यता निवारण (३) हिन्दू मुसलिम एकता। नवीन संविधान में इन तीनों को उचित स्थान दिया गया है। विधान के ४३ वें अनुच्छेद में यह घोषित किया गया है कि यह "विशेषरूप से ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।" १७ वें अनुच्छेद के अनुसार अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। सम्मिलित निर्वाचन पद्धति को स्वीकार कर हिन्दू मुसलिम एकता का सिद्धान्त भी मान लिया गया है। गाँधी जी के सम्पूर्ण सिद्धान्तों को संविधान में स्थान देना असम्भव है। उनके कार्यों की पूर्ति उन्हीं के व्यक्तित्व से हो सकती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि महात्मा जी जीवित होते तो भारतीय संविधान का स्वरूप कुछ और ही होता। राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं में स्वार्थ और भ्रष्टाचार के स्थान पर सेवा और स्फूर्ति की नयी झलक होती। फिर भी जहाँ तक राष्ट्रीय नेताओं ने महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों को हृदयंगम किया है वहाँ तक संविधान में उसे स्थान देने का प्रयत्न किया है। महात्मा गाँधी के कार्यक्रम में देश की एकता और धर्मों की समानता को प्रथम स्थान प्राप्त था। २५ वें अनुच्छेद के अनुसार सभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। २६ वें अनुच्छेद के अनुसार अल्पसंख्यक वर्ग की रक्षा और स्वतन्त्रता का पूरा ध्यान रखा गया है। १५ वें और १६ वें अनुच्छेद में नागरिकों के धर्म, मूलवेश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि का भेद भाव दूर कर दिया गया है।

महात्मा गाँधी किसान मजदूर राज्य की स्थापना करना चाहते थे। इसी को वे रामगज्य कहते थे। ३६ वें अनुच्छेद में महात्मा गाँधी के इस सिद्धान्त को स्थान दिया गया है। संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निदेशक तत्व में भी इसे स्थान दिया गया है। महात्मा जी मद्यनिषेध, गोरक्षा तथा ग्राम पंचायत पर विशेष बल देते थे। ४८ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों की नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिये तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिये राज्य अग्रसर होगा।" ४० वें अनुच्छेद में यह वर्णन किया गया है कि "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने

के लिए अग्रसर होगा।" हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिये महात्मा जी सतत प्रयत्न करते रहे हैं। वे प्रान्तीय भाषाओं को भी आदर की दृष्टि से देखते रहे हैं। २१० वें अनुच्छेद में हिन्दी को राज्य-भाषा घोषित किया गया है,[१] परन्तु कार्य की सुविधा के लिये १५ वर्ष की अवधि तक अंग्रेजी को भी स्थान दिया गया है। अहिंसा का पुजारी होने के कारण महात्मा जी युद्ध से घृणा करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों को पंचायत द्वारा हल करना ही उन्हें श्रेयस्कर जान पड़ता था। संविधान के ५१वें अनुच्छेद में महात्मा जी के इस विचार को स्थान दिया गया है।

यद्यपि संविधान में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान फेडरल है। संसार के अन्य संघ-शासन-विधानों से यह भिन्न है। अन्य देशों में विभिन्न राज्य सामूहिक रूप से संघ-शासन का निर्माण करते हैं, परन्तु भारतीय संघ में केन्द्रीय शासन की प्रेरणा से संघ का निर्माण किया गया है। संविधान एक दृढ़ केन्द्रीय शासन का निर्माण करता है। केन्द्रीय विधान मण्डल को विधि निर्माण के अनेक अधिकार प्रदान किये गये हैं। संविधान में विषय सम्बन्धी ३ विस्तृत सूचियाँ तैयार की गई है। एक सूची के अनुसार केन्द्रीय सरकार को, दूसरी सूची के अनुसार राज्य की सरकारों को और तीसरी सूची के अनुसार दोनों सम्मिलित सरकारों को विधि निर्माण का अधिकार दिया गया है। उसी के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में केन्द्रीय तथा राज्य विधान मण्डल स्वतन्त्र हैं। कहा जाता है कि विषयों का यह विभाजन कनाडा के शासन विधान के आधार पर किया गया है। परन्तु कनाडा के संविधान की समवर्ती सूची में (Concurrent List) कृषि और देशान्तवास दो ही विषय हैं जब कि भारतीय संविधान में ४७ विषय हैं। एक दूसरे प्रकार से भी भारतीय संविधान अन्य संघ-शासन-विधानों से भिन्न है। आवश्यकता पड़ने पर फेडरल होते हुए भी एकात्मक संविधान की तरह यह कार्य कर सकता है। केन्द्रीय कार्यपालिका (Central Executive) को विशेष अधिकार देकर ऐसी व्यवस्था की गई है। विशेष स्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति अपने विशेष अधिकारों से एककों (Units) की स्वायत्तता (Autonomy) को समाप्त कर सकता है। इस तरह का नियम किसी भी देश के संविधान में नहीं पाया जाता।

नवीन संविधान में सम्पूर्ण भारत के लिए एक ही नागरिकता की व्यवस्था की गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका से इस विषय में भारतीय संविधान मतभेद रखता है। अमेरिका में राज्य और संघ दोनों की

नागरिकता मानी गई है। भारतवर्ष में इस प्रकार की दोहरी नागरिकता हानिकर समझी गई है। संयुक्तराज्य अमेरिका की केन्द्रीय कार्यपालिका विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी नहीं है। अर्थात् विधान मण्डल कार्य-पालिका को हटा नहीं सकते। भारतीय संविधान में केन्द्रीय कार्यपालिका विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी मानी गई है। विधान मण्डल उसे जब चाहे हटा सकता है। भारतीय संविधान में केन्द्रीय सरकार एक दृढ़ सरकार बनाई गई है, जिससे देश की एकता और दृढ़ता बनी रहे। संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार एक दुर्बल सरकार है। इस तुलनात्मक विवेचना की आवश्यकता इसलिये पड़ी है, जिससे संविधान निर्माताओं पर यह दोषारोपण न लगाया जाय कि उन्होंने संयुक्तराज्य अमेरिका से बहुत कुछ नकल किया है। बृटिश शासन-विधान से तुलना करने पर भी हम भारतीय संविधान को उससे भिन्न पाते हैं। भारतीय संविधान लिखित है जब कि बृटिश शासन विधान अलिखित है और सदियों की परिपाटियों द्वारा उसका विकास हुआ है। भारतीय संविधान फेडरल है जब कि बृटिश शासन-विधान एकात्मक है। बृटिश शासन-विधान में पार्लियामेंट की सत्ता सर्वोपरि मानी गई है। बृटेन में किसी न्यायालय को यह अधिकार नहीं है कि वह पार्लियामेंट के किसी अधिनियम (Act) को अवैधानिक घोषित कर सके। भारतीय संविधान में न्यायालयों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे संसद अथवा किसी भी विधान मण्डलों के अधिनियमों को अवैधानिक घोषित कर सकें।

अध्याय ३

नागरिक के मौलिक अधिकार

नागरिकता

संविधान में भारतीय नागरिकता की प्राप्ति अथवा उसकी समाप्ति का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इसके लिये पार्लियामेंट को विधि निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है। संविधान में इसी बात की व्याख्या की गयी है कि स्वतन्त्र भारत में कौन कौन नागरिक हैं। संविधान के दूसरे भाग में यह वर्णन किया गया है कि तीन शर्तों के साथ कोई भी भारतीय नागरिक होगा:—

१—जो भारत राज्य क्षेत्र में जन्मा था अथवा

२—जिसके जनकों में से कोई भारत क्षेत्र में जन्मा था। अथवा

३—जो स्वतन्त्रता प्राप्ति से ठीक पहले कम से कम ५ वर्ष तक भारत राज्य क्षेत्र में सामान्यतया निवासी रहा है।

७वें अनुच्छेद में यह स्पष्ट वर्णन किया गया है कि जो व्यक्ति १९४७ के मार्च के पहले दिन के पश्चात् भारत राज्य क्षेत्र से पाकिस्तान राज्य क्षेत्र को प्रब्रजन कर गया है वह भारत का नागरिक नहीं समझा जायगा। अनुच्छेद ९ में यह दिया गया है कि यदि किसी व्यक्ति ने स्वेच्छा से किसी विदेशी राज्य की नागरिकता अर्जित कर ली है तो वह भारत का नागरिक न होगा। संविधान के दूसरे भाग में ही नागरिकता सम्बन्धी कुछ और भी बातों का वर्णन किया गया है, परन्तु ये बातें ऐसे जटिल वाक्यों में वर्णित हैं कि उनकी व्याख्या से कोई लाभ नहीं है।

मौलिक अधिकार

संविधान के तीसरे भाग में नागरिक के मौलिक अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इस दिशा में बृटेन, अमेरिका, आयर्लैंड तथा कुछ अन्य देशों के संविधानों से सहायता ली गई है। 'राज्य' शब्द की परिभाषा करते हुए यह लिखा गया है "राज्य के अन्तर्गत भारत की सरकार और संसद, तथा राज्यों में से प्रत्येक की सरकार और विधान

मण्डल, तथा भारत राज्य क्षेत्र के भीतर अथवा भारत सरकार के नियन्त्रण के अधीन सब स्थानीय और अन्य अधिकारी भी हैं।" सम्पूर्ण मौलिक अधिकार ८ श्रेणियों में विभाजित किये गये हैं। (१) साधारण अधिकार, (२) समता अधिकार, (३) स्वातन्त्र अधिकार, (४) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (५) धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार (६) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (७) सम्पत्ति का अधिकार तथा (८) संविधानिक उपचारों के अधिकार।

साधारण अधिकार

भारतीय राज्यों में ऐसी विधियाँ (Laws) प्रचलित हैं जिनके रहते हुए नागरिक के अधिकारों का मूल्य कम हो जाता है। इसके निवारण के लिये १३ वे अनुच्छेद में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि "इस संविधान के प्रारम्भ होने से ठीक पहले भारत राज्य क्षेत्र की सब प्रवृत्त विधियाँ (Laws in force) उस मात्रा तक शून्य होंगी जिस तक वे इस भाग के उपबन्धों से असंगत हैं। राज्य ऐसी कोई विधि न बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये अधिकारों को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लंघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लंघन की मात्रा में शून्य होगी। भारत राज्य क्षेत्र में विधि के समान प्रभावी कोई अध्यादेश, आदेश, उपविधि, नियम, विनियम, अधिसूचना, रूढ़ि अथवा प्रथा विधि के अन्तर्गत होगी।" साधारण अधिकारों के अन्तर्गत नागरिक को इस बात की सान्त्वना दी गई है कि कोई भी राज्य, जो भारत क्षेत्र के अन्तर्गत है, सामाजिक कुरीतियों की रक्षा नहीं कर सकता। देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय जनता नये राजनीतिक वातावरण में प्रवेश कर रही है। यदि वह प्राचीन रुढ़ियों एवं सामाजिक कुरीतियों से जकड़ी रहती है तो उसे जीवन का वह स्तर नहीं प्राप्त हो सकता जो अन्य देशवासियों को प्राप्त है। साधारण अधिकार भारतीय नागरिकों के लिये नये वातावरण का निर्माण करते हैं। इसका अर्थ स्पष्ट है कि कोई भी राज्य बाल विवाह, अस्पृश्यता, तथा जातिभेद की रक्षा के लिये विधियाँ नहीं बना सकता। यदि थोड़े से नागरिक शिक्षा के अभाव एवं सांस्कृतिक दुर्बलताओं के कारण इन अधिकारों का मूल्य नहीं समझते तो सरकार का कर्तव्य है कि वह इन्हें कूप मंडूकता के जाल से बाहर निकाले। बृटिश शासन में कुछ इस तरह की विधियाँ प्रचलित रही हैं जिनसे सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन नहीं हो सकता। भारतीय संविधान के द्वारा ऐसी विधियों को शून्य घोषित कर दिया गया है।

समता अधिकार

१४वें अनुच्छेद में समता सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन किया गया है। न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि राज्य धनी, गरीब, ऊँच, नीच तथा जातीय भेद भाव को तिलांजलि दे दे। सरकार की दृष्टि में सभी नागरिक समान होने चाहिये। सब को उन्नति का समान अवसर भी मिलना चाहिये। समता प्रजातन्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है। भारतीय संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि "भारत राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायगा। राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।" १५ वे अनुच्छेद में सार्वजनिक वस्तुओं अथवा संस्थाओं को सभी नागरिकों के लिए समान रूप से उपयोग में लाने का अधिकार दिया गया है। दूकान, होटल, भोजनालय तथा मनोरंजनगृह में प्रवेश करने पर कोई रुकावट नहीं डाली जा सकती। कुंआ, तालाब, घाट, सड़क तथा सार्वजनिक समागम स्थानों पर सब का समान अधिकार होगा। राज्य को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि बालकों तथा स्त्रियों के लिये इस सम्बन्ध में वह कोई विशेष उपबन्ध बना सकता है। १६ वें अनुच्छेद में राज्याधीन नौकरियों या पदों का दरवाजा सभी नागरिकों के लिये समान रूप से खोल दिया गया है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि "केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान, निवास अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिये राज्याधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायगा।" राज्य को पिछड़े हुये नागरिकों (Backward class) के संरक्षण के लिये विशेष नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। संविधान सभा में श्री लोकनाथ मिश्र ने यह संशोधन रखा था कि पिछड़े वर्ग अथवा किसी के लिये भी संरक्षण नहीं मिलना चाहिये। श्री टी० डी० कृष्ण नामाचारी ने इस अनुच्छेद का विरोध किया था और कहा था कि इसे नागरिक अधिकारों में स्थान नहीं मिलना चाहिये। इस अनुच्छेद में सब से बड़ी त्रुटि यह है कि संविधान में 'पिछड़ा वर्ग' शब्द की व्याख्या कहीं नहीं की गई है। जो जाति उत्तर प्रदेश में पिछड़ी हुई मानी गई है वह बम्बई या मद्रास में पिछड़ी हुई नहीं है। संरक्षण से लाभ उठाने के लिये इस अधिकार का दुरुपयोग किया जा सकता है।

अच्छा होगा कि भारत सरकार पिछड़ी जातियों की एक सूची तैयार कर ले।

संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने यह आपत्ति की थी कि जब समस्त नागरिकों को समता अधिकार प्रदान कर दिया गया है तब इस प्रकार के संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतीय संघ में एक नागरिकता स्वीकार की गई है। संघ के अन्तर्गत राज्यों में राजकीय सेवा की नियुक्ति के लिये अधिवास का नियम है। ब्रिटिश शासन काल में भी प्रान्तों में ऐसे नियम थे। इन प्रान्तीय नियमों में भिन्नता भी थी। १६ वें अनुच्छेद द्वारा संसद् को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह सभी राज्यों में समान नियम संचालित करने की व्यवस्था करे। पं० हृदयनाथ कुंजरू का प्रस्ताव था कि 'अनुसूचित जन जाति' (Scheduled Tribes) को १० वर्षों तक संरक्षण का अधिकार दिया जाय जो स्वीकार किया गया है। अनुसूचित जन, जाति के सम्बन्ध में डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "अनुसूचित जन जाति की परिभाषा करने का अधिकार प्रत्येक स्थानीय संस्था को दे दिया गया है। 'अनुसूचित जन जाति' वही है जिसे सरकार पिछड़ा हुआ समझती है।" इसी अनुच्छेद में यह भी स्पष्ट किया गया है कि "राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिये अवसर की समता होगी।" राज्यों को यह भी अधिकार प्रदान किया गया है कि पिछड़े हुए नागरिक वर्ग के पक्ष में वह नियुक्तियों या पदों के संरक्षण का नियम बना सकते हैं। १७ वें अनुच्छेद के अनुसार स्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। उसका आचरण किसी भी रूप में निषिद्ध माना गया है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध माना गया है। महात्मा गांधी अस्पृश्यता को हिन्दू जाति पर कलंक मानते थे। जब परिगणित जातियों के लिये सितम्बर सन् १६३२ ई० में पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी तो इन्होंने आमरण अनशन किया था। 'पूना पैक्ट' के समझौते में पृथक् निर्वाचन हटा दिया गया था। उन्हीं की भावनाओं का आदर करते हुए संविधान सभा ने अस्पृश्यता का अन्त किया। संविधान में अस्पृश्यता की कहीं परिभाषा नहीं की गई है।

१८ वें अनुच्छेद के अनुसार सेना या विद्या सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा। भारत का कोई नागरिक किसी विदेशी राज्य से कोई खिताब स्वीकार नहीं करेगा।

जो व्यक्ति भारत का नागरिक है और राज्य के अधीन लाभ या विश्वास के किसी पद को धारण करता है वह किसी भी विदेशी राज्य से कोई खिताब राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार नहीं कर सकता। राज्य के अधीन लाभ पद या विश्वास पद पर आसीन कोई व्यक्ति किसी विदेशी राज्य से किसी रूप में कोई भेंट, उपलब्धि या पद राष्ट्रपति की सम्मति के बिना स्वीकार न करेगा। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में उपाधियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। इससे समाज में भेदभाव उत्पन्न होते थे। उपाधिधारी व्यक्तियों को सरकारी अधिकारी आदर की दृष्टि से देखते थे। उपाधियाँ प्राप्त करने के लिए लोग अधिकारी वर्ग की चाटुकारी करते थे। भारत सरकार ने स्वतन्त्र भारत से इस झूठे आकर्षण का अन्त कर दिया है। अब कोई भी भारतीय नागरिक अपनी योग्यता के बल पर सरकार अथवा समाज द्वारा सम्मानित होगा।

स्वातन्त्र्य अधिकार

स्वतन्त्रता नागरिक के अधिकारों में प्रमुख स्थान रखती है। समाज में पूर्ण स्वतन्त्रता (Absolute Freedom) संभव नहीं है। समाज या राज्य स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध इसलिए लगा देता है जिससे सभी व्यक्ति उचित रीति से उसका भोग कर सकें। भारतीय संविधान के १९ वें अनुच्छेद में नागरिकों को निम्न लिखित प्रकार की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है :—

१—वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य;

२—शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन की स्वतन्त्रता ;

३—संस्था (Association) या संघ बनाने की स्वतन्त्रता ;

४—भारत राज्य क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण की स्वतन्त्रता ;

५—भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता;

६—सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन की स्वतन्त्रता ;

७—कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने की स्वतन्त्रता ;

राज्यों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे अपमान लेख, अपमान वचन, मानहानि, न्यायलय अपमान अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से सम्बन्धित विधियों का निर्माण

कर सकते हैं। १६ वें अनुच्छेद के २, ३, ४, ५ तथा ६ उपखण्ड में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि आवश्यकता पड़ने पर राज्य इन स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगा सकते हैं। २० वें अनुच्छेद में यह उल्लेख दिया गया है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिये सिद्ध दोष नहीं ठहराया जायगा जब तक उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिये एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित न किया जायगा। किसी अपराध में अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिये बाध्य न किया जायगा। कोई व्यक्ति जो बन्दी किया गया है, ऐसे बन्दीकरण के कारणों से यथाशक्य शीघ्र अवगत कराये गये बिना हवालात में निरुद्ध नहीं किया जायगा। उसे अपनी रुचि के अनुसार किसी विधि व्यवसायी से परामर्श करने तथा प्रति रक्षा कराने का भी अधिकार प्रदान किया गया है। २४ घण्टे से अधिक कोई व्यक्ति हवालात में निरुद्ध नहीं किया जा सकता। ३ महीने से अधिक कालावधि के लिये कोई व्यक्ति निवारक निरोध उपबन्धित (Prevention Detention) किसी विधि के अधीन बन्दी नहीं किया जा सकता, जब तक कि ऐसे निरोध के लिये समुचित कारण उपस्थित न किये जायँ। संसद् को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह ऐसी विधि बना सकती है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति ३ महीने से अधिक के लिये निरुद्ध किया जा सके। संविधान के आलोचकों ने यह आपत्ति की है कि ३ महीने तक किसी व्यक्ति को निरुद्ध रखना नागरिक अधिकारों के विरुद्ध है। इसीलिये २१ और २२ दोनों अनुच्छेद संविधान के अन्तर्गत बहुत ही विवादग्रस्त माने गये हैं। सम्भव है, इन पर न्यायालयों में और स्पष्ट विचार प्रकट किये जायँ।

इस अधिकार से विधिवत् शासन का आभास होता है। कोई भी व्यक्ति अपने को विधि से ऊपर नहीं मान सकता। किसी भी व्यक्ति को उसके धन, जन तथा स्वातन्त्र्य से वंचित नहीं किया जा सकता। संविधान का २१ वाँ अनुच्छेद, विधान मण्डल की, न्यायालयों के ऊपर प्रधानता स्थापित करता है, इससे संविधान की आलोचना की जाती है कि जब न्यायालयों में व्यक्ति स्वातन्त्र्य की परीक्षा नहीं की जा सकती तो विधिवत् शासन की स्थापना कैसे मानी जाय। २१ वें अनुच्छेद की त्रुटियों को २२ वें अनुच्छेद में निवारण कर दिया गया है।

२३ वें अनुच्छेद में मनुष्यों के क्रय-विक्रय, बेगार तथा इसी प्रकार

शोषण के विरुद्ध अधिकार

का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम प्रतिषिद्ध किया गया है, परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि राज्य को सार्वजनिक प्रयोजन के लिये बाध्य सेवा लागू करने में रुकावट न होगी। यह अनुच्छेद भारत में प्राचीन समय से प्रचलित दो महान बुराइयों का अन्त करता है। नारी विक्रय की सामाजिक बुराई अति प्राचीन है। इससे समाज में अन्य प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। इन्हीं का अन्त करने के लिये संविधान में इसका निषेध किया गया है। दूसरी सामाजिक बुराई बेगार की है। किसी व्यक्ति से उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य लेना और उसके लिए कोई मजदूरी न देना बेगार कहलाता है। इससे करोड़ों भारतीय श्रमिकों का आर्थिक शोषण होता है। सम्पत्तिहीन अथवा निर्धन मजदूर दासता का जीवन व्यतीत करते हैं। भारतीय ग्रामों में बसने वाले ६ करोड़ हरिजन जातियों से काफी बेगार ली जाती है। राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार से इसमें कमी अवश्य हुई है, परन्तु इसका उन्मूलन नहीं हुआ है। संविधान में इसीलिये इसे स्थान दिया गया है जिससे समाज सुधारकों को शक्ति प्राप्त हो। देश की वास्तविक उन्नति तभी होगी जब प्रत्येक मनुष्य स्वावलम्बी जीवन व्यतीत करेगा। एक दूसरे का किसी के ऊपर अनुचित दबाव न होगा। २४ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "१४ वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान में नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायगा।" संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह संशोधन रखा था कि यह आयु बढ़ाकर १६ वर्ष कर दिया जाय, परन्तु यह स्वीकार नहीं किया गया।

संविधान के २५, २६, २७ तथा २८ वें अनुच्छेद में धर्म स्वातन्त्र्य की

धर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार

चर्चा की गई है। सब व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक दिया गया है। कृपाण धारण करना तथा लेकर चलना सिक्ख धर्म का अंग समझा गया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय को संस्थाओं की स्थापना और पोषण का अधिकार दिया गया है। वह अपने धार्मिक कार्यों सम्बन्धी विषयों के प्रबन्ध में जंगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व में स्वतन्त्र होगा। २७ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "कोई भी व्यक्ति ऐसे करों को देने के लिये बाध्य नहीं

किया जायगा जिनके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिये विशेष रूप से विनियुक्त कर दिये गये हों।" भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य माना गया है। इसीलिये २८ वें अनुच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, "राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा न दी जायगी।" जिन संस्थाओं की स्थापना किसी धार्मिक उद्देश्य से की गई है उन पर उपर्युक्त नियम लागू न होगा। जो संस्थायें राज्य द्वारा प्रमाणित हैं अथवा जिन्हें राजकीय सहायता मिलती है उनमें धार्मिक शिक्षा अनिवार्य न होगी। यदि विद्यार्थी अवयस्क है तो किसी धार्मिक शिक्षा के लिये उसके अभिभावक की सम्मति प्राप्त करना आवश्यक होगा। धार्मिक स्वतन्त्रता प्रायः सभी देशों में नागरिकों को प्राप्त है। सोवियट रूस धर्म विरोधी राष्ट्र कहलाता है, परन्तु १९३६ ई० के संविधान के अनुसार वहाँ भी नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। राज्यों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि हिन्दू धार्मिक संस्थाओं के सुधार तथा उन्हें समस्त हिन्दुओं के लिए खोलने के सम्बन्ध में कानून बना सकते हैं।

संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

यद्यपि भारतीय संविधान में भारतीय संघ की एकता पर पूरा बल दिया गया है फिर भी नागरिकों को अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति बनाये रखने का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान का उद्देश्य है कि वह भारतीय संस्कृति की इस परम्परा की रक्षा करे जिसने इस देश के अन्दर विभिन्नता के अन्तर्गत एकता का सृजन किया है। २९ वें और ३० वें अनुच्छेद में संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन किया गया है। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जा सकता। धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्प संख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार दिया गया है। शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। मौलाना हसरत मोहानी ने संविधान सभा में यह संशोधन रखा था कि समस्त अल्पसंख्यकों की भाषा और संस्कृति की रक्षा के लिए राज्य को

विद्यालयों की व्यवस्था करनी चाहिये। डा० अम्बेदकर ने स्वीकार किया कि प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो और प्रत्येक राज्य इसकी व्यवस्था करे। परन्तु संविधान में इसे स्थान नहीं दिया गया। केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री सभा ने यह निश्चय किया है कि यदि किसी क्षेत्र में पृथक् स्कूल खोलने के लिये छात्र छात्राओं की संख्या पर्याप्त है तो ऐसा स्कूल खोला जा सकता है और उसमें राज्य की भाषा से भिन्न भाषा में शिक्षा दी जा सकती है। उदाहरण के लिए यदि उत्तर प्रदेश के किसी नगर में एक स्कूल में हिन्दी द्वारा शिक्षा दी जाती है, किन्तु यदि ४० विद्यार्थी उर्दू भाषी हैं तो उनके लिए उस क्षेत्र में अलग स्कूल खोला जा सकता है। इसी तरह की व्यवस्था अन्य राज्यों में भी करने पर बल दिया गया है।

सम्पत्ति का अधिकार

संविधान के ३१ वें अनुच्छेद में सम्पत्ति की रक्षा सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन किया गया है। कोई व्यक्ति विधि के अधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायगा। कोई भी चल या अचल सम्पत्ति कानून के अन्तर्गत तब तक नहीं ली जायगी जब तक उसकी क्षति पूर्ति न की जाय। राज्य के विधान मण्डलों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे क्षति पूर्ति सम्बन्धी विधियों का निर्माण करें। परन्तु ऐसी विधियों के लिये राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक मानी गई है। न्यायालयों को यह अधिकार नहीं है कि वे क्षति पूर्ति सम्बन्धी बातों को उचित या अनुचित घोषित करें। राज्य विधान मण्डलों द्वारा बनाए गए नियम अन्तिम ठहराये गये हैं। कांग्रेस जमींदारी प्रथा उन्मूलन के लिये बहुत पहले से वचनबद्ध है। इस अनुच्छेद में इस बात की भी झलक है कि जमींदारी प्रथा उन्मूलन में राज्यों द्वारा की गई कार्रवाइयाँ अवैध नहीं ठहराई जा सकतीं।

संविधानिक उपचारों के अधिकार

संविधान में अधिकारों की घोषणा मात्र से कोई लाभ नहीं है। अधिकारों के उपभोग की उचित व्यवस्था भी होनी चाहिये। जब तक ये अधिकार सुरक्षित नहीं रखे जायँगे तब तक नागरिक इसका उपभोग नहीं कर सकते। संविधान के ३२, ३३, ३४ और ३५ वें अनुच्छेद में अधिकारों के रक्षा की व्यवस्था की गई है। 'उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह इन अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाही करे इसके लिये उच्चतम न्यायालय निदेश, आदेश या लेख, जारी कर सकता

है। संसद् को अधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा किसी दूसरे न्यायालय को इन अधिकारों को सुरक्षित रखने की शक्ति प्रदान करे। नवीन संविधान के पहले भी ये अधिकार मौजूद थे, परन्तु वे विधान मण्डल की कृपा पर निर्भर रहे हैं। नवीन संविधान के लागू होने पर विधान मण्डल इन अधिकारों को कम नहीं कर सकते। डा० अम्बेदकर के शब्दों में ३२ वाँ अनुच्छेद संविधान का 'हृदय और आत्मा' है। उच्चतम न्यायालय को नागरिक की स्वतन्त्रता का संरक्षक माना गया है। यदि कोई व्यक्ति किसी अपराध में बन्दी कर लिया जाता है तो उच्चतम न्यायालय यह आज्ञा जारी कर सकता है कि बन्दी किया हुआ व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित किया जाय और उसके अपराधों की जाँच की जाय। तात्पर्य यह है कि विधि के विरुद्ध कोई व्यक्ति बन्दी नहीं किया जा सकता।

अधिकार मीमांसा

कुछ विद्वानों का कहना कि है भारतीय संविधान में कुछ महत्वपूर्ण अधिकारों को सम्मिलित नहीं किया गया है। रूस के संविधान का पटतर देते हुए वे लिखते हैं कि नागरिक को काम करने का अधिकार, उसके विश्राम का अधिकार, वृद्धा तथा रोगावस्था में उसकी आर्थिक सहायता का अधिकार तथा शिक्षा प्राप्ति का अधिकार भारतीय नागरिक के मौलिक अधिकारों में नहीं दिये गये हैं। इस प्रकार की आलोचना में कोई विशेष तत्व नहीं है। कोई भी राज्य अपने नागरिकों को दो बातों का ध्यान रखते हुए अधिकार प्रदान करता है। नागरिकों की शिक्षा और उनकी सभ्यता का ध्यान रखते हुए अधिकार प्रदान किया जाता है। सरकार अपनी शक्ति के अनुसार ही अधिकारों का विधान बनाती है। यदि भारत सरकार ऐसी व्यवस्था करे कि प्रत्येक शिक्षित बेरोजगार भारतीय को कार्य मिलने तक एक सौ रुपया मासिक दिया जाय तो वह इसका निर्वाह नहीं कर सकती। यद्यपि कुछ समृद्धशाली देशों में इस तरह की व्यवस्था की गई है, परन्तु भारत की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि इस प्रकार के विधान को कार्यान्वित किया जाय। संविधान में जो अधिकार सम्मिलित नहीं किये गए हैं उनसे भारतीय नागरिक वंचित नहीं किये जा सकते। सभी बातों को लिखित रूप देना असम्भव है। नागरिक के अधिकार सम्बन्धी अनेक बातें विधान के कार्यान्वित होने पर स्पष्ट की जाती हैं। जब तक कुछ वर्षों के अनुभव से विधान का वास्तविक स्वरूप निश्चित नहीं किया जाता तब तक अनेक बातों का संदिग्ध रहना स्वाभाविक है। एक

पुष्ट विधान वर्षों के अनुभव की वस्तु है। जिस विधान का निर्माण थोड़े से व्यक्ति एक सीमित समय में करते हैं उसमें बहुत सी त्रुटियाँ होती हैं। उनका निवारण संविधान के कार्यान्वित होने पर ही हो सकता है। इतना अवश्य है कि मौलिक अधिकारों की व्याख्या अनेक स्थलों पर बहुत ही जटिल और अस्पष्ट है। कानून के पंडित जब तक उनकी व्याख्या नहीं करते तब तक राजनीति के साधारण विद्यार्थी उन्हें नहीं समझ सकते।

———

अध्याय ४

राज्य की नीति के निदेशक तत्व

(Directive Principles of State Policy)

निदेशक तत्व की उपयोगिता

भारतीय संविधान के चौथे भाग में राज्य की नीति के निदेशक तत्व का वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि इससे कोई विशेष लाभ नहीं है। संविधान में इसे इसलिए स्थान दिया गया है कि राज्यों को अपनी नीति निर्धारण में इनसे सहायता मिलेगी। भारत में गण राज्य की स्थापना की गई है। विभिन्न राजनीतिक पक्ष को शासन का कार्य चलाने का अवसर मिलेगा। कभी उग्र विचार के लोगों का शासन होगा, कभी रूढ़िवादी पक्ष के लोग शासन सूत्र धारण करेंगे और कभी किसान वर्ग शासन भार संभालेगा। इन विभिन्न पक्षों की शासन नीति अलग अलग होगी। ऐसी अवस्था में निदेशक तत्व राज्य की नीति को स्थिर रखने में सहायता प्रदान करेंगे। इन तत्वों के वर्णन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इनके पीछे कोई कानूनी बल नहीं है अर्थात् न्यायालयों में इन पर विचार नहीं किया जा सकता। यह भी आपत्ति की जाती है कि इनका मानना या न मानना राज्यों की इच्छा पर निर्भर है। श्री हुसेन इमाम ने संविधान सभा का ध्यान आकर्षित भी किया था कि, "संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है जिससे यह गारंटी हो कि सिद्धान्तों का अतिक्रमण नहीं होगा। यहाँ तक कि राष्ट्रपति तक को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वह यह देखे कि कोई सरकार इन सिद्धान्तों के विरुद्ध कार्य नहीं कर रही है। इन सिद्धान्तों के अतिक्रमण को रोकने के लिये कोई व्यवस्था होनी चाहिये।" किन्तु इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। ३८ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि, " राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। " यह अनुच्छेद अत्यन्त अस्पष्ट और अनिश्चित है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि राज्य कैसी सामाजिक

व्यवस्था स्थापित करेगा। वह व्यवस्था समाजवादी, साम्यवादी अथवा पूँजीवादी होगी।

निदेशक तत्वों के सम्बन्ध में डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में कहा था कि, "इन तत्वों के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति है। हमने राजनीतिक प्रजातन्त्र की स्थापना की है। हमारा आदर्श एक आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना करना है।" परन्तु इन निदेशक तत्वों में यह वर्णन नहीं किया गया है कि यह आर्थिक प्रजातन्त्र कैसे स्थापित होगा। आर्थिक प्रजातन्त्र की प्राप्ति के क्या साधन हैं, इसका भी कोई उल्लेख नहीं है। इसी से निदेशक तत्वों को आदर्श मात्र ही समझा जाता है। ४ नवम्बर १९४८ ई० को संविधान सभा में भाषण देते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा था, "यह कहा जाता है कि निदेशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है। मैं इसे स्वीकार करने को प्रस्तुत हूँ परन्तु मैं यह स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ कि उनके पीछे कोई बल नहीं है, और न मैं यह मानने के लिए प्रस्तुत हूँ कि वे व्यर्थ हैं। ये निदेशक तत्व उन आदेश पत्रों (Instrument of Instructions) के समान हैं जो १९३५ के संघ शासन के अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार द्वारा गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को दिये जाते थे।" वास्तव में निदेशक तत्व संविधान के उद्देश्य की पुष्टि करते हैं। वे राज्य के सम्मुख ऐसा आदर्श उपस्थित करते हैं जिन्हें कार्यान्वित करने से एक सुव्यवस्थित समाज का निर्माण होगा। प्रत्येक तत्व में लोक कल्याण की भावना छिपी हुई है।

निदेशक तत्वों की व्याख्या

३७ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि, "इस भाग में दिये गए उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी किन्तु तो भी इनमें दिए हुए तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।" इसी से स्पष्ट है कि निदेशक तत्वों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है। राज्य अपनी इच्छानुसार इनका अनुसरण कर सकते हैं। ३८ वें अनुच्छेद में जिस सामाजिक व्यवस्था की स्थापना का वर्णन किया गया है उसके साधनों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। स्वयं वह सामाजिक व्यवस्था भी स्पष्ट नहीं है। ३९ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि राज्य अपनी नीति निर्धारण में ऐसी व्यवस्था करे जिससे निम्न लिखित बातों की पूर्ति हो :—

१—समान रूप से नर और नारी सभी नागरिकों को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

२—समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।

३—आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन साधनों का सर्व साधारण के लिये अहितकारी केन्द्रण न हो।

४—पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य करने के लिए समान वेतन हो।

५—श्रमिक पुरुषों और स्त्रियों का स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हों।

६—शैशव और शक्ति के किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

४० वें अनुच्छेद में कहा गया है कि, "राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए अग्रसर होगा तथा उनको ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों।" प्राय: सभी राज्यों में ग्राम पंचायतों की स्थापना की गई है। सरकार का यह भी अनुभव है कि ये पंचायतें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। वास्तव में निदेशक तत्व के अन्दर इस अनुच्छेद की कोई आवश्यकता नहीं है। इसे राज्य सूची के अन्तर्गत सम्मिलित करना चाहिये था। निदेशक तत्व में यह कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने के शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अंग हानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्य साधक उपबन्ध करेगा। वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुरक्षित करने के लिए तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा। इसी के अन्तर्गत यह भी कहा गया है कि राज्य कृषि के उद्योग के तथा अन्य प्रकार के श्रमिकों को सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयत्न करेगा तथा विशेष रूप से ग्रामों में कुटीर उद्योगों को वैयक्तिक अथवा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा। ४४ वें अनुच्छेद के अनुसार भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए राज्य एक समान व्यवहार संहिता (Civil Code) प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। ४५ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि, "राज्य, इस

संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष की कालावधि के भीतर, सब बालकों को १४ वर्ष की अवस्था समाप्ति तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।

भारतीय समाज में आर्थिक विषमता के अतिरिक्त अन्य विषमताएँ भी पाई जाती हैं। इन्हीं के कारण सामाजिक स्तर को ऊँचा करने में कठिनायाँ होती हैं। समाज में कई करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जो बहुत ही दीन-हीन जीवन व्यतीत करते हैं। उनके पास न कोई व्यक्तिगत सम्पत्ति है और न समाज में उनको कोई स्थान प्राप्त है। राष्ट्रीय सरकार इन विषमताओं को दूर करने का यथाशक्ति प्रयत्न करती है। ४६ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि, "राज्य जनता के दुर्बलतर विभागों के विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकारों के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।" निदेशक तत्वों में स्वास्थ्य सुधार पर भी ध्यान दिया गया है। औषधीय प्रयोजन के अतिरिक्त मादक पेयों और औषधियों को उपभोग के लिए वर्जित किया गया है। जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य को सुधारने के लिये राज्य अपना प्राथमिक कर्तव्य समझेगा। ४८ वें अनुच्छेद में पशुवध को निषिद्ध ठहराया गया है। कहा गया है कि राज्य कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करने का प्रयास करेगा तथा विशेषतः गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरों के नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिये तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिये अग्रसर होगा। श्री सेठ गोविन्ददास यह संशोधन करना चाहते थे कि गोवध राज्य द्वारा सर्वथा बन्द कर दिया जाय, किन्तु उनका यह संशोधन अस्वीकार कर दिया गया।

४६ वें अनुच्छेद में कहा गया है कि "संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व वाले घोषित कलात्मक या ऐतिहासिक अभिरुचि वाले प्रत्येक स्थान या चीज का यथास्थिति लुण्ठन, विरूपन, विनाश, अपनयन, व्ययन अथवा निर्यात से रक्षा करना राज्य का आभार होगा।" ५० वें अनुच्छेद में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने की चर्चा की गई है। आरम्भ से ही काँग्रेस इस पक्ष में रही है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका को पृथक् किया जाय। इसका तात्पर्य यह है कि जिलाधीश को न्याय विभाग का कार्य न दिया जाय। इसमें अपराधी के मामले की सुनवाई स्वतन्त्र और निष्पक्ष भाव से होगी। प्रत्येक जिले में कार्यकारिणी मजिस्ट्रेट और न्यायिक मजिस्ट्रेट

अलग-अलग होने चाहिए। उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में इन दोनों विभागों को पृथक् किया गया है। निदेशक तत्व का तात्पर्य यह है कि सभी राज्यों में इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये। ५१ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि राज्य निम्नलिखित बातों का प्रयास करेगा :—

१—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का।

२—राष्ट्रों के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्ध को बनाए रखने का।

३—संघठित लोगों के, एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सन्धि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का।

४—अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के मध्यस्थता द्वारा निबटारे के लिए प्रोत्साहन देना।

भारत अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का समर्थक है। इस देश की परम्परा हिन्दू काल से ही विश्व शान्ति और विश्व बन्धुत्व की स्थापना की ओर रही है। यहाँ के साधु महात्माओं ने शान्ति का ही उपदेश दिया है। स्वतन्त्रता के जन्मदाता महात्मा गांधी शान्ति और अहिंसा के पुजारी थे। वर्तमान राष्ट्रीय सरकार पूर्ण रूप से इसी नीति में विश्वास करती है। वह संसार के किसी ऐसे गुट में सम्मिलित नहीं होना चाहती जिसका ध्येय युद्ध और अशान्ति है। पाकिस्तान में अल्पसंख्यक जातियों पर जो अनाचार हुए हैं और जिनकी करुण कहानी से दैनिक पत्र भरे हुए हैं उन्हें भारत सरकार ने बड़े धैर्य्य के साथ सहन किया है। भारतीय जनता की धैर्य्य सीमा इन कहानियों से टूट जाती, परन्तु चोटी के नेताओं ने शान्ति की नीति से अपने को विचलित नहीं किया। काश्मीर में भी इसी नीति का अनुसरण किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य होने के नाते वह विश्वशान्ति में भी विश्वास करता है। इसी शान्ति के लिए वह साम्राज्यवाद का उन्मूलन चाहता है; वह नहीं चाहता कि एक राष्ट्र दूसरे का शोषण करे।

निदेशक तत्वों की आलोचना

भारतीय संविधान में जिन निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है उनके विषय में लोगों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि संविधान एक ठोस वस्तु है, इसमें उन्हीं बातों का समावेश होना चाहिये जो अनिवार्य रूप से कार्यान्वित की जायँ। उपदेश की बातें संविधान के अन्तर्गत नहीं आतीं। यह बात निर्विवाद है कि कोई भी राज्य अपनी जनता का शोषण नहीं चाहता। उसकी नीति चाहे जो भी हो, परन्तु उसका

ध्येय अपने देश की उन्नति ही होता है। प्रत्येक राज्य अपने देशवासियों को स्वस्थ, सुसंस्कृत और सुशिक्षित बनाना चाहता है। इन बातों को संविधान में रखने से कोई विशेष लाभ नहीं है। जब तक इनकी प्राप्ति के लिये साधन नहीं बनाए जाते और लोगों को सुविधाएँ नहीं दी जातीं तब तक सेमल के फूल की तरह इनका उपयोग केवल बाहरी सौंदर्य है। यदि निदेशक तत्व संविधान में सम्मिलित न किए गए होते तो भी विधि द्वारा केन्द्रीय अथवा राज्य की सरकार इनकी व्यवस्था करती। आयर्लैंड के संविधान में इस प्रकार के तत्वों का वर्णन किया गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आयर्लैण्ड की जनता अन्य देशों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और सुखी है। ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस के संविधान में निदेशक तत्वों को स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु वहाँ की सरकारें लोक हितकारी कार्यों में किसी से पीछे नहीं हैं। सम्भव है, निदेशक तत्वों से राज्यों को अपनी नीति निर्धारण में कुछ सहायता मिले। व्यावहारिक रूप से विचार करने पर राज्यों की नीति केन्द्रीय सरकार की नीति और लोकमत पर निर्भर करती है। कुछ साधु सन्यासी विश्व शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं और कभी कभी यज्ञ-यापन भी करते हैं। निदेशक तत्वों में वही बल है जो इन कार्यों में है। सुन्दर वाक्यों और अच्छे शब्दों से किसी संविधान की अच्छाई प्रकट नहीं होती। नागरिकों के आचार विचार और सरकार की नीति राष्ट्रीय जीवन को सफल बनाते हैं।

अध्याय ५

संघ और राज्यों के सम्बन्ध

शक्ति विभाजन का सिद्धान्त

जिन देशों में एकात्मक शासन (Unitary Government) की प्रथा है उनमें शक्ति विभाजन का कोई सिद्धान्त नहीं है। केन्द्रीय सरकार अपनी शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक विषयों को अपने हाथ में रखती है। केवल थोड़े से अधिकार राज्यों को प्रदान किये जाते हैं। उन पर भी केन्द्रीय सरकार का पूरा नियन्त्रण होता है। १९३५ ई० से पहले भारत में ब्रिटिश शासकों ने जो शासन विधान चालू किया था वह एकात्मक था। १९३५ ई० के संघ शासन विधान में प्रान्तों को कुछ अधिकार दिये गये थे, परन्तु गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के विशेषाधिकार के सामने उनका कोई महत्व न था। जब काँग्रेस ने १९३७ ई० में प्रान्तीय शासन का भार ग्रहण किया था तो उसे २७ महीने शासन करने के पश्चात् यही अनुभव हुआ था। छोटे देशों में एकात्मक शासन इसीलिये उत्तम माना गया है कि केन्द्रीय सरकार सुविधापूर्वक शासन का कार्य संचालित कर सकती है। भारत ऐसे देश में एकात्मक शासन उपयुक्त नहीं है। ब्रिटिश सरकार की इस नीति से काँग्रेस सदैव असंतुष्ट थी। संघ शासन भारत के लिये सब से उपयुक्त माना गया है। इससे केन्द्रीय सरकार और राज्यों में शक्ति संतुलन होता है और स्थानीय जनता को शासन में हाथ बँटाने का अवसर मिलता है। स्वतन्त्र भारत ने संघ शासन प्रणाली को ही अपनाया है। प्रान्तों और रियासतों का भेदभाव समाप्त कर दिया गया है। सभी इकाइयों को राज्यों की संख्या दी गई है। •

संघ शासन में राज्यों के साथ सम्बन्ध का एक आधारभूत सिद्धान्त है। जिन विषयों का सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से है, जिनमें समान नीति का व्यवहार करना पड़ता है वे संघशासन के अन्तर्गत माने जाते है। जिन विषयों का प्रबन्ध स्थानीय जनता कर सकती है वे राज्यों को सौंप दिये जाते हैं। संघ सरकार इन विषयों में बहुत ही कम हस्तक्षेप करती है। आय व्यय में भी राज्यों को काफी स्वतन्त्रा होती है और उन्हें केन्द्रीय सरकार पर निर्भर नहीं

करना पड़ता। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिन पर संघ और राज्य दोनों का नियन्त्रण आवश्यक होता है। ऐसे विषय समवर्ती सूची में रखे जाते हैं। नवीन संविधान में इस सिद्धान्त का पालन किया गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि संघ सरकार ने इतने अधिक अधिकार अपने हाथों में ले रखा है कि फेडरल होते हुये भी यह संविधान एकात्मक जान पड़ता है। एकता और दृढ़ता की दृष्टि से संविधान परिषद् ने संघ सरकार को बहुत ही शक्तिशाली बनाया है, परन्तु राज्यों के अधिकार भी कम नहीं हैं। भारत की राजनीतिक स्थिति ऐसी रही है जिसमें फेडरल शासन उपयुक्त नहीं था। प्रान्तों और देशी राज्यों के आन्तरिक शासन में बहुत ही विषमता थी। प्रान्तों में किसी सीमा तक उत्तरदायी शासन था और वहाँ की जनता राजनीतिक अधिकारों को पहचानती थी। उसमें एक राष्ट्रीय जीवन था जो कांग्रेस अन्दोलन से क्रमशः बढ़ रहा था। इसके विपरीत देशी राज्यों में निरंकुश शासन था। उसमें राजनीतिक अधिकारों की कोई चर्चा न थी। किसी किसी राज्य में प्रजामण्डल की स्थापना की गई थी, परन्तु उसे कार्य करने का अवसर नहीं दिया जाता था। क्योंकि जनता राजनीतिक अधिकारों के लिए तरसती थी। राष्ट्रीय सरकार को यह भेदभाव दूर करना पड़ा है और प्रान्तों तथा राज्यों के आन्तरिक शासन में समता स्थापित करनी पड़ी है। फेडरल शासन को एकात्मक रूप देने में इसी कठिनाई का साथ रहा है। नवीन संविधान में राज्यों की स्वतन्त्र और स्वावलम्बी स्थिति है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध समानता के आधार पर स्थापित है। स्वयं संघ सरकार से उनका सम्बन्ध मित्रता के आधार पर स्थापित किया गया है। राज्यों को नीति निर्धारण के लिये संघ सरकार ने कुछ निदेशक तत्वों का निर्माण किया है। इससे स्थानीय शासन में समता होगी और सामाजिक विषमताओं का लोप होगा।

यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय सरकार ने राजनीतिक विषमता को बहुत ही शीघ्र समाप्त किया है, परन्तु सामाजिक विषमता राष्ट्रीय एकता में आज भी बाधक है। जब तक भारतीय समाज से जाति पांति और छुआछूत का भाव नहीं निकल जाता तब तक नागरिक अधिकारों में समता नहीं हो सकती। ठोस समाज का निर्माण तभी होगा जब सभी नागरिकों में अधिकारों के उपयोग की समान शक्ति पैदा होगी। शिक्षा का अभाव और ग्रामीण जनता का पिछड़ा हुआ जीवन सरकार के लिए बहुत बड़ी समस्या है। संघ सरकार ने निदेशक तत्वों में इन बातों को प्रमुख स्थान दिये है। संघ और राज्यों के सम्बन्ध एक से नहीं रह सकते। संघ सरकार के संचालन में जिन

व्यक्तियों का हाथ होगा उनकी प्रतिभा का प्रभाव इस सम्बन्ध पर सब से अधिक होगा। राज्य संघ-शासन के हस्तक्षेप को तभी सहन कर सकते हैं जब उनके उत्थान के लिए संघ-सरकार की ओर से कोई ठोस कदम उठाये जायेंगे। यदि छोटी-छोटी बातों में, जिनका अवसर संविधान में अधिक है, संघ-सरकार ने हस्तक्षेप किया तो पारस्परिक सम्बन्ध के बिगड़ने का भी भय है। सम्बन्ध के तीन प्रमुख स्रोत हैं। (१) विधायी (Legislative) सम्बन्ध, (२) प्रशासन (Executive) सम्बन्ध, तथा (३) न्यायिक (Judicial) सम्बन्ध। इन तीनों पर विचार करने के पश्चात् यह परिणाम निकाल सकते हैं कि संघ और राज्यों का सम्बन्ध कैसा है।

संविधान के ११ वें भाग में संघ और राज्यों के सम्बन्ध की चर्चा की गई है। २४५ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि संसद् भारत के सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकेगी तथा किसी राज्य का विधान मण्डल उस सम्पूर्ण राज्य के अथवा उस के किसी भाग के लिये, विधि बना सकेगा। संसद् (Parliament) द्वारा निर्मित कोई विधि इस कारण से कि उसका राज्यक्षेत्रादि परिवर्तन होगा, अमान्य नहीं समझी जायगी। संघ सूची के अनुसार संसद् को निम्नलिखित विषयों में से किसी के बारे में विधि बनाने का अधिकार है:—

विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)

१—भारत की तथा उसके प्रत्येक भाग की प्रतिरक्षा जिसके अन्तर्गत प्रतिरक्षा के लिए तैयारी तथा सारे ऐसे कार्य भी हैं, जो युद्ध काल में युद्ध को चलाने और उसकी समाप्ति के पश्चात् सफलतापूर्वक सैन्य-वियोजन में सहायक हों।

२—नौ, स्थल और विमान बल; संघ के कोई अन्य सशस्त्र बल।

३—कटक-क्षेत्रों का परिसीमन, ऐसे क्षेत्रों में स्थानीय स्वायत्त शासन, ऐसे क्षेत्रों के अन्दर कटक-पदाधिकारियों का गठन और शक्तियाँ, तथा ऐसे क्षेत्रों में गृह-वासन का विनियमन (जिसके अन्तर्गत किराये का नियन्त्रण भी है)।

४—नौ, स्थल और विमान बल की कर्मशालायें।

५—शस्त्रास्त्र, युद्धोपकरण और विस्फोटक।

६—अणुशक्ति तथा उसके उत्पादन के लिये आवश्यक खनिज सम्पत्।

७—संसद् निर्मित विधि द्वारा प्रतिरक्षा के प्रयोजनों के लिये अथवा युद्ध चलाने के लिए आवश्यक घोषित किये गये उद्योग।

८—केन्द्रीय गुप्तवाती और अनुसंधान विभाग।

९—भारत की प्रतिरक्षा, विदेशीय कार्य या सुरक्षा सम्बन्धी कारणों के निवारक निरोध; इस प्रकार निरुद्ध व्यक्ति।

१०—विदेशीय कार्य; सब विषय जिनके द्वारा संघ का किसी विदेश से सम्बन्ध, होता है।

११—राजनयिक, वाणिज्य दूतिक और व्यापारिक प्रतिनिधित्व।

१२—संयुक्त राष्ट्र संगठन।

१३—अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, संस्थाओं और अन्य निकायों में भाग लेना तथा उनमें किये गए विनिश्चयों की अभिपूर्ति।

१४—विदेशों से सन्धि और करार करना तथा विदेशों से की गई संधियों, करारों और अभिसमयों की अभिपूर्ति।

१५—युद्ध और शान्ति।

१६—विदेशीय क्षेत्राधिकार।

१७—नागरिकता देशीयकरण तथा अन्य देशीय।

१८—प्रत्यर्पण।

१९—भारत में प्रवेश और उसमें से उत्प्रवासन और निर्वासन, पार-पत्र और दृष्टांक।

२०—भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थयात्रायें।

२१—महा-समुद्र या वायु में की गई जलदस्युता और अपराध; स्थल या महासमुद्र या वायु में राष्ट्रों की विधि के विरुद्ध किये गये अपराध।

२२—रेल।

२३—राज-पथ जिन्हें संसद् निर्मित विधि के द्वारा या अधीन राष्ट्रीय राज्य-पथ घोषित किया गया है।

२४—यंत्र-चालित जलयानों के विषय में ऐसे अन्तर्देशीय जल-पथों में नौ-वहन और नौ-परिवहन जो संसद् निर्मित विधि द्वारा राष्ट्रीय जल-पथ घोषित किये गए हैं, तथा ऐसे जल पथों के पथ नियम।

२५—समुद्र-नौ वहन और नौ-परिवहन जिसके अन्तर्गत ज्वार-जल नौ वहन और नौ-परिवहन भी है; वणिक्-पोतीय शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी जाने वाली ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

२६—प्रकाशस्तम्भ, जिनके अन्तर्गत प्रकाश पोत, आकाश दीप तथा नौवहन और विमानों की सुरक्षितता के लिये अन्य उपबन्ध भी हैं।

२७—वे पत्तन जिनको संसद्-निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या आधीन महा-पत्तन घोषित किया गया है, जिसके अन्तर्गत उनका परिसीमन तथा उनमें पत्तन-प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ भी हैं।

२८—पत्तन—निरोधा, जिसके अन्तर्गत उससे सम्बद्ध चिकित्सालय भी हैं; नाविक और समुद्रीय चिकित्सालय।

२६—वायु-पथ; विमान-परिवहन, विमान-क्षेत्र के उपबन्ध; विमान यातायात और विमान-क्षेत्रों का विनियमन और संगठन; वैमानिक शिक्षा और प्रशिक्षण के लिये उपबन्ध तथा राज्यों और अन्य अभिकरणों द्वारा दी गई ऐसी शिक्षा और प्रशिक्षण का विनियमन।

३०—रेल-पथ, समुद्र या वायु से अथवा यंत्रचालित यानों में राष्ट्रीय जलपथों से यात्रियों और वस्तुओं का वहन।

३१—डाक और तार; दूरभाष, बेतार, प्रसारण और अन्य समरूप संचार।

३२—संघ की सम्पत्ति और उससे उत्थित राजस्व किन्तु प्रथम अनुसूची के भाग (क) या (ख) में उल्लिखित किसी राज्य में अवस्थित सम्पत्ति के विषय में, जहाँ तक संसद् विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे, वहाँ तक, उस राज्य के विधान के अधीन रहते हुए।

३३—संघ के प्रयोजनों के लिये सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण।

३४—देशी राज्यों के शासकों की सम्पत्ति के लिये प्रतिपालक अधिकरण।

३५—संघ का लोक ऋण।

३६—चलार्थ, टंकण और विधिमान्य; विदेशीय विनिमय।

३७—विदेशीय ऋण।

३८—भारत का रक्षित बैंक।

३६—डाकघर बचत बैंक।

४०—भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार द्वारा संघटित लाटरी।

४१—विदेशों के साथ व्यापार और वाणिज्य; शुल्क-सीमांतों को पार करने वाले आयात और निर्यात; शुल्क सीमान्तों की परिभाषा।

४२—अन्तर्राज्यिक व्यापार और वाणिज्य।

४३—व्यापारिक नियमों का, जिसके अन्तर्गत महाजनी, बीमाई और वित्तीय नियम भी हैं किंतु सहकारी संस्थायें नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन।

४४—विश्वविद्यालय को छोड़कर ऐसे निगमों का चाहे वे व्यापारिक हों या नहीं, जिनके उद्देश्य एक राज्य तक सीमित नहीं हैं, निगमन, विनियमन और समापन।

४५—महाजनी।

४६—विनिमय पत्र, चेक, वचन-पत्र तथा ऐसी अन्य लिखितें।

४७—बीमा।

४८—श्रेष्ठि-चत्वर और वादा बाजार।

४९—एकस्व: आविष्कार और रूपांकन: प्रतिलिप्यधिकार; व्यापार-चिन्ह और पण्य चिन्ह।

५०—बाटों और मापों का मान स्थापन।

५१—भारत के बाहर निर्यात की जाने वाली अथवा एक राज्य से दूसरे राज्य को भेजी जाने वाली वस्तुओं के गुणों का मान-स्थान।

५२—वे उद्योग जिनके लिये संसद् ने विधि द्वारा घोषणा की है कि लोकहित के लिये उन पर संघ का नियन्त्रण इष्टकर है।

५३—तैल-क्षेत्रों और खनिज तैल सम्पत् का विनियमन और विकास; पैट्रोलियम और पैट्रोलिय उत्पाद; संसद् से विधि द्वारा भयानक रूप से ज्वालाग्राही घोषित अन्य तरल और द्रव्य।

५४—उस सीमा तक खानों का विनियमन और खनिजों का विकास जिस तक संघ के नियंत्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोक-हित के लिये इष्टकर घोषित करे।

५५—श्रम का विनियमन तथा खानों और तैल-क्षेत्रों में सुरक्षितता।

५६—उस सीमा तक अन्तर्राज्यिक नदियाँ और नदी दूनों का विनियमन और विकास जिस तक संघ के नियन्त्रण में वैसे विनियमन और विकास को संसद् विधि द्वारा लोक-हित के लिये इष्टकर घोषित करे।

५७—जलप्रांगण से परे मछली पकड़ना और मीन-क्षेत्र।

५८—संघ-अभिकरणों द्वारा लवण का निर्माण, सम्भरण और वितरण; अन्य अभिकरणों द्वारा लवण के निर्माण, सम्भरण और वितरण का विनियमन और नियंत्रण।

५९—अफीम की खेती, निर्माण तथा निर्यात के लिये विक्रय।

६०—प्रदर्शन के लिये चल चित्रों की मंजूरी।

६१—संघ के नौकरों से संपृक्त औद्योगिक विवाद।

६२—इस संविधान के प्रारम्भ पर राष्ट्रीय पुस्तकालय, भारतीय संग्रहालय, साम्राज्यिक युद्ध संग्रहालय, विक्टोरिया स्मारक, भारतीय युद्ध स्मारक नामों से ज्ञात संस्थायें तथा भारतीय सरकार द्वारा पूर्णतः या अंशतः वित्त-पोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषति कोई तद्रूप संस्था।

६३—इस सम्विधान के प्रारम्भ पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, और दिल्ली विश्वविद्यालय नामों से ज्ञात संस्थायें तथा संसद से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की घोषित कोई अन्य संस्था।

६४—भारत सरकार से पूर्णतः वित्त-पोषित तथा संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व की संस्था घोषित वैज्ञानिक या शिल्पिक शिक्षा संस्थायें।

६५—संघ अभिकरण और संस्थाये जो—

(क) वृत्तिक, व्यावसायिक या शिल्प प्रशिक्षण, जिनके अन्तर्गत आरक्षी पदाधिकारियों का प्रशिक्षण भी है, के लिये हैं; अथवा

(ख) विशेष अध्ययनों या गवेषणा की उन्नति के लिये हैं; अथवा

(ग) अपराध के अनुसंधान या पता चलाने में वैज्ञानिक या शिल्पिक सहायता के लिये।

६६—उच्चत्तर शिक्षा या गवेषणा की संस्थाओं में तथा वैज्ञानिक और शिल्पिक संस्थाओं में एकसूत्रता लाना और मानों का निर्धारण।

६७—संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख तथा पुरा तत्वीय स्थान और अवशेष।

६८—भारतीय भूपरिमाप, भूतत्वीय, वानस्पतिक, नरतत्वीय, प्राणकीय परिमाप; अन्तरिक्ष-शास्त्रीय संस्थायें।

६९—जनगणना।

७०—संघ-लोक सेवायें, अखिल भारतीय सेवाएँ, संघ-लोक सेवा आयोग।

७१—संघ-निवृत्ति-वेतन, अर्थात् भारत सरकार द्वारा या भारत की संचित विधि में दिये जाने वाले निवृत्ति-वेतन।

७२—संसद् और राज्यों के विधान मण्डलों के लिये तथा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के पदों के लिये निर्वाचन; निर्वाचन-आयोग।

७३—संसद् के सदस्यों, राज्य परिषद् के सभापति और उपसभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते ।

७४—संसद् के प्रत्येक सदन की तथा प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, संसद् की समितियों अथवा संसद् द्वारा नियुक्त आयोगों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिये व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना ।

७५—राष्ट्रपति और राज्यपालों की उपलब्धियाँ, भत्ते, विशेषाधिकार तथा अनुपस्थिति छुट्टी के बारे में अधिकार; संघ के मंत्रियों के वेतन और भत्ते, नियंत्रक महालेखा परीक्षक के वेतन, भत्ते और अनुपस्थिति-छुट्टी के बारे में अधिकार तथा अन्य सेवा शर्तें ।

७६—संघ के और राज्यों के लेखाओं की लेखा परीक्षा ।

७७—उच्चतम न्यायालय का गठन, संघटन, क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ, (जिसके अन्तर्गत उस न्यायालय का अवमान भी है) तथा उसमें ली जाने वाली फीसें, उच्चतम न्यायालय के सामने विधि व्यवसाय करने का हक रखने वाले व्यक्ति !

७८—उच्चन्यायालयों के पदाधिकारी और भृत्यों के बारे में उपबन्धों को छोड़कर उच्च न्यायालयों का गठन और संघटन; उच्च न्यायालयों के सामने विधि-व्यवसाय करने का हक रखने वाले व्यक्ति ।

७९—किसी राज्य में मुख्य स्थान रखने वाले किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर किसी क्षेत्र में विस्तार तथा ऐसे किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का ऐसे किसी क्षेत्र से अपवर्जन ।

८०—किसी राज्य के आरक्षी बल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र पर विस्तार, किन्तु इस प्रकार नहीं कि एक राज्य की आरक्षी, उस राज्य में न होने वाले किसी क्षेत्र में बिना उस राज्य की सरकार की सम्मति के जिनमें कि ऐसा क्षेत्र स्थित है, शक्तियों और क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सके, किसी राज्य की आरक्षीबल के सदस्यों की शक्तियाँ और क्षेत्राधिकार का उस राज्य से बाहर रेल क्षेत्रों पर विस्तार ।

८१—अन्तर्राज्यीय प्रव्रजन; अन्तर्राज्यीय निरोध ।

८२—कृषि आय को छोड़ कर अन्य आय पर कर ।

८३—सीमा-शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात-शुल्क भी है ।

८४—भारत में निर्मित या उत्पादित तमाकू तथा—

(क) मानव उपभोग के मद्यसारिक पानों ;

(ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली ओषधियों तथा स्वापकों, को छोड़कर, कि ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री को अन्तर्गत कर (क) कि जिसमें मद्यसार अथवा उक्त प्रविष्टि की उपकंडिक (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओं पर उत्पादन—शुल्क।

८५—निगम-कर

८६—व्यक्तियों या समवायों की अस्ति में से कृषि भूमि को छोड़कर उसके मूलधन—मूल्य पर कर समवायों के मूल—धन पर कर।

८७—कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पति-शुल्क।

८८—कृषि-भूमि को छोड़कर अन्य सम्पति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क।

८९—रेल या समुद्र या वायु से ले जाये जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जन-भाड़े और वस्तु-भाड़े पर कर।

९०—मुद्रक-शुल्क को छोड़कर श्रेष्ठि-चत्वर और वादा बाजार के सौदों पर कर।

९१—विनिमय-पत्रों, चेकों, वचन-पत्रों, वहन-पत्रों, प्रत्यय पत्रों, बीमा-पत्रों, अंशों के हस्तान्तरण, ऋण-पत्रों, पत्र-पत्रियों और प्राप्तियों के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक-शुल्क की दर।

९२—समाचार पत्रों के क्रय या विक्रम पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर।

९३—इस सूची के विषयों में से किसी से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

९४—इस सूची के विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिए जाँच, परिमाप और सांख्यकी।

९५—उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों के इस सूची में के विषयों में से किसी के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ; नावाधिकरण क्षेत्राधिकार।

९६—किसी न्यायालय में लिये जाने वाली फीसों को छोड़कर इस सूची में के विषयों से किसी के बारे में फीस।

९७—सूची (२) या (३) में से किसी में अवर्णित किसी कर के सहित उन सूचियों में अप्रगणित कोई अन्य विषय।

राज्य विधान मण्डलों की विधायिनी शक्ति भी स्पष्ट कर दी गई है। उन्हें निम्न लिखित विषयों में विधि बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है। ये विषय राज्य सूची (State List) के अन्तर्गत रखे गये हैं :—

१—सार्वजनिक व्यवस्था (किन्तु असैनिक शक्ति की सहायता के लिये संघ के नौ, स्थल या विमान बलों या किन्हीं के अन्य बलों के प्रयोग को अन्तर्गत न करते हुए)।

२—आरक्षी जिसके अन्तर्गत रेलवे और ग्राम आरक्षी भी हैं।

३—न्याय प्रशासन: उच्चतम न्यायालय और उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का गठन और संगठन; उच्च न्यायालय के पदाधिकारी और सेवक, भाटक और राजस्व न्यायालयों की प्रक्रिया: उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों में ली जाने वाली फीसें।

४—कारागार, सुधारालय, बोरस्टल संस्थाये और तद्रूप अन्य संस्थायें और उनमें निरुद्ध व्यक्ति; कारागारों और अन्य संस्थाओं के उपभोग के लिये अन्य राज्यों से प्रबन्ध।

५—स्थानीय शासन अर्थात् नगर निगम, सुधार प्रन्यास, जिला-मंडली, खनिज-वसिति प्राधिकारियों तथा स्थानीय स्वशासन या ग्राम्य प्रशासन से प्रयोजन के लिये अन्य स्थानीय प्राधिकारियों का गठन और शक्तियाँ।

६—सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता; चिकित्सालय और औषधालय।

७—भारत के बाहर के स्थानों की तीर्थयात्राओं को छोड़कर अन्य तीर्थयात्रायें।

८—मादक पानों अर्थात् मादक पानों का उत्पादन, निर्माण, कब्जा, परिवहन, क्रय और विक्रय।

९—अंगहीनों और नौकरी के लिये अयोग्य व्यक्तियों की सहायता।

१०—शव गाड़ना और कब्रस्थान; शव दाह और श्मशान।

११—सूची १ की प्रविष्टियों ६३, ६४, और ६६, तथा सूची ३ की प्रविष्टि २५ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये शिक्षा, जिसके अन्तर्गत विश्व विद्यालय भी हैं।

१२—राज्य से नियंत्रित या वित्त-पोषित पुस्तकालय, या अन्य समतुल्य संस्थाएँ, संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न प्राचीन और ऐतिहासिक स्मारक और अभिलेख।

१३—संचार अर्थात् सड़कें, पुल, नौका घाट तथा सूची १ में अनुल्लिखित संचार के अन्य साधन; ट्राम पथ; अन्तर्देशीय जल-पथ और उन पर

यातायात, वैसे जल-पथों के विषय में सूची १ और सूची ३ उपबन्धों के अधीन रहते हुए; यंत्र चालित यानों को छोड़कर अन्य यान।

१४—कृषि, जिसके अन्तर्गत कृषि-शिक्षा और गवेषणा, मरकों से रक्षा तथा उद्भिद रोगों का निवारण भी है।

१५—पशु के नस्ल का परिरक्षण, संरक्षण और उन्नति तथा पशुओं के रोगों के निवारण; शालिहोत्री प्रशिक्षण और व्यवसाय।

१६—पश्वरोध और पशुओं के अनिचार का निवारण।

१७—सूची १ की प्रविष्टि ५६ के उपबन्ध के अधीन रहते हुये जल, अर्थात् जल सम्भरण, सिंचाई और नहरें, जल निस्सारण और बंध, जल-संग्रह और जल-शक्ति।

१८—भूमि, अर्थात् भूमि में या पर अधिकार, भूधृति जिसके अन्तर्गत भूस्वामी और किसानों का सम्बन्ध भी है, तथा भाटक का। संग्रहण, कृषि-भूमि का हस्तांतरण और संक्रामण भूमि-सुधार और कृषि सम्बन्धी उधार; उपनिवेषण।

१६—वन।

२०—वन्य प्राणियों और पक्षियों की रक्षा।

२१—मीन-क्षेत्र।

२२—सूची १ की प्रविष्टि ३४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुये प्रतिपालक अधिकरण, भारग्रस्त और कुर्क सम्पदायें।

२३—संघ के नियंत्रणाधीन विनियमन और विकास के सम्बन्ध में सूची के उपबन्धों के अधीन रहते हुए खानों का विनियमन और खनिजों का विकास।

२४—सूची १ प्रविष्टि ६४ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए उद्योग।

२५—गैस, गैस कर्मशालाएँ।

२६—सूची ३ की प्रविष्टि ३३ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के अन्दर व्यापार और वाणिज्य।

२७—सूची ३ की प्रविष्टि ३३ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए वस्तुओं का उत्पादन, सम्भरण और वितरण।

२८—बाजार और मेले।

२६—मान स्थान को छोड़कर बाट और माप।

३०—साहूकारी और साहूकार; कृषि ऋणिता का उद्धार।

३१—पान्थशाला और पान्थशाला पारन।

३२—सूची १ में उल्लिखित निगमों से भिन्न निगमों का और विश्व-विद्यालयों का निगमन, विनियमन और समापन; व्यापारिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक और अनिगमित समाजें और सन्थायें; सहकारी समाजें।

३३—नाट्यशाला, नाटक अभिनय, प्रथम अनुसूची की प्रविष्टि ६० के उपबन्धों के अधीन रहते हुए चल-चित्र, क्रीड़ा, प्रमोद और विनोद।

३४—पण लगाना और जुआ।

३५—राज्य में निहित या उसके स्ववश में की कर्मशालायें, भूमि और भवन।

३६—सूची ३ की प्रविष्टि ४२ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए संघ प्रयोजनों के अतिरिक्त सम्पत्ति का अर्जन या अधिग्रहण।

३७—संसद्-निर्मित किसी विधि के उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्य के विधान-मंडल के लिए निर्वाचन।

३८—राज्य के विधान-मंडल के सदस्यों के, विधान सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा, यदि विधान-परिषद् है तो, उसके सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते।

३९—विधान-सभा और उसके सदस्यों और समितियों की तथा, यदि विधान परिषद् हो तो, उस परिषद् और उसके सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ, राज्य के विधान-मंडल की समितियों के सामने साक्ष्य देने या दस्तावेज पेश करने के लिए व्यक्तियों की उपस्थिति बाध्य करना।

४०—राज्य के मंत्रियों के वेतन और भत्ते।

४१—राज्य-लोक सेवाएँ, राज्य-लोक सेवा-आयोग।

४२—राज्य-निवृत्ति-वेतन अर्थात् राज्य द्वारा अथवा राज्य की संचित निधि में से देय निवृत्ति वेतन।

४३—राज्य का लोक-ऋण।

४४—निखात निधि।

४५—भूराजस्व जिसके अन्तर्गत राजस्व का निर्धारण और संग्रहण भू-अभिलेखों का बनाए रखना, राजस्व प्रयोजनों के लिए और स्वत्व-अभिलेखों के लिये परिमाप और राजस्व का अन्य-संक्रमण भी है।

४६—कृषि आय पर कर।

४७—कृषि भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क।

४८—कृषि भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क।

४६—भूमि और भवनों पर कर।

५०—संसद् से, विधि द्वारा, खनिज विकास के सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज अधिकार पर कर।

५१—राज्य में निर्मित या उत्पादित तत्सम वस्तुओं पर उसी या कम दर से प्रति शुल्क—

(क) मानव उपयोग के लिये मद्यसारिक पान;

(ख) अफीम, भाँग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियाँ और स्वपाक किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय सामग्रियों को छोड़कर जिनमें मद्यसार अथवा इस प्रविष्टि की उपकंडिका (ख) में का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो।

५२—किसी स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर।

५३—विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर।

५४—समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर।

५५—समाचार पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

५६—सड़कों या अन्तर्देशीय जल-पथों पर ले जाये जाने वाली वस्तुओं और यात्रियों पर कर।

५७—सड़कों पर उपभोग के योग्य यानों पर; चाहे वे यन्त्रचालित हों या न हों तथा जिनमें सूची ३ की प्रविष्टि ३५ के उपबन्धों के अधीन ट्रामगाड़ियाँ भी अन्तर्गत हैं, कर।

५८—पशुओं और नौकाओं पर कर।

५६—पथ-कर।

६०—वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर।

६१—प्रतिव्यक्ति-कर।

६२—विलास वस्तुओं पर कर, जिनके अन्तर्गत आमोद, विनोद, पण लगाने और जुआँ खेलने पर भी कर हैं।

६३—मुद्रक-शुल्क की दरों के सम्बन्ध में सूची (१) के उपबन्धों में उल्लिखित दस्तावेजों को छोड़कर अन्य दस्तावेजों के बारे में मुद्रांक-शुल्क की दर।

६४—इस सूची में के विषयों में से सम्बद्ध विधियों के विरुद्ध अपराध।

६५—इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में उच्चतम न्यायालय को छोड़कर सब न्यायालयों का क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ।

६६—किंसी न्यायालय में लिए जाने वाले शुल्कों को छोड़कर इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में शुल्क।

संविधान में एक समवर्ती सूची भी दी गई है। इसमें वे विषय रखे गये हैं जिनके सम्बन्ध में संघ और राज्य दोनों सरकारों को विधि बनाने का अधिकार दिया गया है। ये विषय केन्द्रीय तथा स्थानीय दोनों सरकारों से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए इन पर दोनों का अधिकार माना गया है। ये विषय निम्नलिखित हैं:—

१—दंड-निधि जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारंभ पर भारत दंड-संहिता के अन्तर्गत हैं किन्तु सूची १ या सूची २ में उल्लिखित विषयों मेंसे किसी से सम्बद्ध विषयों के विरुद्ध अपराधों को छोड़ कर तथा असैनिक शक्ति की सहायतार्थ नौ, स्थल और विमान वालों के प्रयोग को छोड़ कर।

२—दंड-प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर दंड-प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं।

३—राज्य की सुरक्षा से, सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने से अथवा समुदाय के लिए अत्यावश्यक सम्भरणों और सेवाओं को बनाये रखने से संसक्त कारणों के लिए निवारक निरोध; ऐसे निरुद्ध व्यक्ति।

४—कैदियों, अभियुक्त व्यक्तियों तथा इस सूची की प्रविष्टि ३ में उल्लिखित कारणों से निवारक-निरोध में किये गए व्यक्ति का एक राज्य से दूसरे राज्य को हटाया जाना।

५—विवाह और विवाह विच्छेद; शिशु और अवयस्क; दत्तक ग्रहण; इच्छापत्र, इच्छापत्र हीनत्व और उत्तराधिकार; अविभक्त कुटुम्ब और विभाजन; वे सब विषय जिनके सम्बन्ध में न्यायिक कार्यवाहियों में पक्ष, इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहिले अपनी स्वीय विधि के अधीन थे।

६—कृषि भूमि को छोड़कर अन्य सम्पत्तियों का हस्तान्तरण; विलेखों और दस्तावेजों का पंजीयन।

७—संविदा जिनके अन्तर्गत भागिता, अभिकरण, परिवहन-संविदा और अन्य प्रकार की संविदायें भी हैं किंतु कृषि-भूमि सम्बन्धी संविदाएँ नही हैं।

८—अभियोज्य दोष।

९—दिवाला और शोधाक्षमता।

१०—न्यास और न्यासी।

११—महाप्रशासक और राजन्यासी।

१२—साक्ष्य और शपथें; विधि, सार्वजनिक कार्यों और अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों का अभिज्ञान।

१३—व्यवहार प्रक्रिया जिसके अन्तर्गत वे सब विषय हैं जो इस संविधान के प्रारम्भ पर व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता के अन्तर्गत हैं, परिसीमाएँ और मध्यस्थ निर्णय।

१४—न्यायालय-अवमान किंतु जिसके अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय का अवमान नहीं है।

१५—आहिण्डन, अस्थिर वासी और प्रव्राजी आदिम जातियाँ।

१६—उन्माद और मनोवैकल्य जिसके अन्तर्गत उन्मत्तों और मनो विकलों के रखने या उपचार के स्थान भी हैं।

१७—पशुओं के प्रति निर्दयता का निवारण।

१८—खाद्य पदार्थ और अन्य वस्तुओं में अपमिश्रण।

१९—अफीम विषयक सूची १ के प्रविष्टि ५९ में के उपबन्धों के अधीन रहते हुए औषधि और विष।

२०—आर्थिक और सामाजिक योजना।

२१—वाणिज्यिक और औद्योगिक एकाधिपत्य, गुट्ट और न्यास।

२२—व्यापार संघ; औद्योगिक और श्रमिक विवाद।

२३—सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक बीमा, नौकरी और बेकारी।

२४—श्रमिकों का कल्याण जिसके अन्तर्गत कार्य की शर्तें, भविष्य-निधि, नियोजक-उत्तर वादिता कर्मकार-प्रतिकर, असमर्थता और वार्धक्य-निवृत्ति-वेतन और प्रसूति सुविधाएँ भी हैं।

२५- श्रमिकों का व्यावसायिक और शिल्पी-प्रशिक्षण।

२६—विधि-वृत्तियाँ और अन्य वृत्तियाँ।

२७—भारत और पाकिस्तान की डोमीनियनों के स्थापित होने के कारण अपने मूल निवास-स्थान से स्थानान्तरित हुए व्यक्तियों की सहायता और पुनर्वास।

२८—पूर्त और पूर्त संस्थाएँ पूर्त और धार्मिक धर्मस्व और धार्मिक संस्थाएँ।

२९—मानवों, पशुओं और उद्भिदों पर प्रभाव डालने वाले सांक्रामिक और सांसर्गिक रोगों और मारकों के एक राज्य से दूसरे में फैलने का निवारण।

३०—जीवन सम्बन्ध सांख्यकी, जिसके अन्तर्गत जन्म और मृत्यु का पंजीयन भी है।

३१—संसद् निर्मित विधि या वर्तमान विधि के द्वारा या अधीन महापत्तन घोषित पत्तनों से भिन्न पत्तन।

३२—राष्ट्रीय जल-पथों के विषय में सूची १ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए अन्तर्देशीय जल-पथों पर यन्त्र-चालित यानों विषयक नौ-परिवहन तथा ऐसे जल पथों पर पथ-नियम, अन्तर्देशीय जल-पथों पर यात्रियों और वस्तुओं का परिवहन।

३३—जहाँ संसद् से विधि द्वारा किन्हीं उद्योगों का संघ द्वारा नियंत्रण लोक हित में इष्टकर घोषित किया गया है उन उद्योगों में व्यापारिक और वाणिज्य तथा उनका उत्पादन, सम्भरण और वितरण।

३४—मूल्य-नियंत्रण।

३५—यंत्र-चालित यान, जिनके अन्तर्गत वे सिद्धान्त भी हैं जिनके अनुसार ऐसे यानों पर कर लगाया जाता है।

३६—कारखाने।

३७—वाष्पयंत्र।

३८—विद्युत्।

३९—समाचार-पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय।

४०—संसद् से विधि द्वारा राष्ट्रीय महत्व के घोषित से भिन्न पुरातत्व सम्बन्धी स्थान और अवशेष।

४१—विधि द्वारा निष्क्राम्य घोषित सम्पत्ति की कृषि भूमि सहित अभिरक्षा प्रबन्ध और व्ययन।

४२—संघ के या राज्य के या किसी अन्य सार्वजनिक प्रयोजन के लिये अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिये प्रतिकर निर्धारण करने के सिद्धान्त तथा वैसे प्रतिकर के दिए जाने का रूप और रीति।

४३—किसी राज्य में, उस राज्य से बाहर पैदा हुए कर विषयक दावों तथा अन्य सार्वजनिक अभियाचनाओं की, जिसके अन्तर्गत भूराजस्व बकाया और इस प्रकार वसूल की जाने वाली बकाया भी है, वसूली।

४४—न्यायिक मुद्रांकों द्वारा संग्रहीत शुल्कों या फीस को छोड़कर अन्य मुद्रांक-शुल्क, किन्तु इसके अन्तर्गत मुद्रांक-शुल्क की दरें नहीं हैं।

४५—सूची २ या सूची ६ में उल्लिखित विषयों में से किसी के प्रयोजनों के लिये जाँच और सांख्यकी।

४६—उच्चतम न्यायालय को छोड़कर अन्य न्यायालयों की इस सूची के विषयों में से किसी के बारे में क्षेत्राधिकार और शक्तियाँ।

४७—इस सूची में के विषयों में से किसी के बारे में फीसें, किन्तु इनके अन्तर्गत किसी न्यायालय में ली जाने वाली फीसें नहीं हैं।

जो विषय 'राज्य-सूची' और 'समवर्ती-सूची' में दिये गये हैं उनमें भी संसद् को विधि बनाने का अधिकार है। संसद्-निर्मित विधियों के, जो संघ-सूची में प्रगणित विषय के बारे में हैं, अधिक अच्छे प्रशासन के लिए संसद् किन्हीं अपर न्यायालयों की स्थापना का विधि द्वारा उपबन्ध कर सकती है। जब तक आपात (Emergency) की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिये 'राज्य सूची' में प्रगणित विषयों में से किसी के बारे में विधि बनाने का अधिकार है। राज्यों द्वारा निर्मित कोई विधि संसद् द्वारा निर्मित विधि के प्रतिकूल हो तो राज्य की विधि विरोध की मात्रा तक प्रवर्तन-शून्य (Ineffective) होगी। संसद् को किसी अन्य देश या देशों के साथ की हुई किसी सन्धि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, संस्था या अन्य निकाय में किये गये किसी विनिश्चय के परिपालन के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बनाने का अधिकार है।

संघ और राज्य सरकार की शक्तियों का विभाजन दो सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता है। कुछ देशों में संघ सरकार को कुछ निश्चित शक्ति प्रदान कर दी जाती है और शेष विषय राज्य की सरकारों के हाथ में छोड़ दिये जाते हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के संविधान में यहीं सिद्धांत माना गया है। कुछ देशों में राज्य की सरकार की शक्ति निश्चित कर दी जाती है और विधि बनाने के शेष विषय संघ सरकार को दे दिये जाते हैं। यह सिद्धांत कनाडा के संविधान में वर्ता गया है। भारतीय संविधान में कनाडा के ही सिद्धांत का अनुकरण किया गया है। परन्तु इसकी कुछ और भी विशेषतायें हैं। विधि बनाने के सम्पूर्ण विषय ३ सूचियों में रखे गये हैं, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उन्हें देखने से स्पष्ट है कि संसद्

के अधिकार बहुत ही व्यापक हैं। संघ-सूची और समवर्ती सूची के अतिरिक्त उसे, आवश्यकता पड़ने पर, उन विषयों में विधि बनाने का अधिकार है जो राज्य-सूची में वर्णित किये गये हैं। यदि कोई राज्य स्वेच्छा से सम्पूर्ण शक्ति संसद् को प्रदान कर देता है तो उस राज्य के लिए संसद् सभी प्रकार की विधि बना सकती है। जो राज्य-क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप से संघ के आधीन रखे गये हैं उनके लिए संसद् को सभी प्रकार की विधि बनाने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। संघ और राज्य दोनों को अपनी सीमा के अन्तर्गत कार्य करने के लिये उच्चतम न्यायालय की व्यवस्था की गई है।

अन्य संघ-शासन विधानों से तुलना

यद्यपि भारतीय संविधान पर अन्य संघ शासन विधानों का प्रभाव है फिर भी यह कई बातों में औरों से भिन्न है। शक्ति का केन्द्रीकरण भारतीय संविधान में सबसे अधिक है। संघ-सरकार इतनी शक्तिशाली बनाई गई है कि राज्यों की स्थिति कठपुतली की तरह हो गई है। यद्यपि इस कथन में कुछ अत्युक्ति है फिर भी संसद् की विधायी शक्ति इसकी बहुत कुछ पुष्टि करती है। संघ शासन में केन्द्रीय सरकार का यह विशेषाधिकार भारतीय संविधान में ही पाया जाता है। विशेष स्थिति के लिए जो व्यवस्था भारतीय संविधान में की गई है वह भी औरों से भिन्न है। संसार के किसी भी संघ-शासन में ऐसी व्यवस्था नहीं पायी जाती। वह व्यवस्था संघीय संविधान को एकात्मक-संविधान में परिवर्तित कर देती है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने यह अनुभव किया कि संघीय संविधान विशेष स्थिति में कुशलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। इस स्थल पर आस्ट्रेलिया और अमेरिका के संविधान भारतीय संविधान से सर्वथा भिन्न हैं। विषयों के विभाजन में भी भारतीय संविधान औरों से भिन्न है। किसी भी देश के संविधान में विषयों का इतना विस्तृत वर्णन नहीं है। इससे राज्य तथा संघ-सरकार के संघर्ष की सम्भावना बहुत कुछ कम हो जाती है। संयुक्तराज्य-अमेरिका (U. S. A.) के संविधान में केन्द्रीय विधान-मंडल (Congress) को केवल १८ विषयों में विधि बनाने का अधिकार प्राप्त है। भारतीय संविधान में संसद् के अधिकार उससे कहीं अधिक हैं। आस्ट्रेलिया के संघ-शासन में केन्द्रीय विधान मण्डल को बहुत ही कम अधिकार दिये गये हैं। केवल ६ विषयों में उसे एकाधिकार प्राप्त है। राज्यों को जो शक्ति और स्वतन्त्रता वहाँ दी गई है वह भारतीय राज्यों को प्राप्त नहीं है। आस्ट्रेलिया में कोई भी राज्य अपने वैधानिक ढाँचे को बहुत कुछ बदल सकता है, परन्तु भारतीय राज्य ऐसा नहीं कर सकते।

कनाडा के संविधान में राज्यों की विधायी शक्ति निर्धारित कर दी गई है और शेष विषय केन्द्रीय सरकार के हाथों में दे दिये गये हैं। कृषि आयात (Agriculture and immigration) केवल दो विषय समीवर्ती सूची में रखे गये हैं। भारतीय संविधान में समवर्ती-सूची के विषयों की संख्या ४७ है। कनाडा और भारत दोनों में संघ सरकार को बहुत ही शक्तिशाली बनाया गया है। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना कितने ही विधेयक (Bills) राज्य विधान मण्डलों में नहीं रखे जा सकते। कुछ लोगों की धारणा है कि दक्षिण-अफ्रीका का संविधान संघीय है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। वहाँ शक्तियों का विभाजन नहीं किया गया है। थोड़े से विषयों के अतिरिक्त केन्द्रीय विधान-मंडल को विधि बनाने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

प्रशासन सम्बन्ध (Administrative Relations)

संविधान में कहा गया है कि राज्यों की कार्यपालिका (Executive) अपनी शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार करेगी जिससे संसद् द्वारा निर्मित किसी विधि का अथवा संघ की कार्यपालिका शक्ति का उल्लंघन न हो। इस दिशा में राज्यों को संघ की ओर से समय समय पर आदेश दिये जाँयगे। राष्ट्रीय महत्व के आवागमन के साधनों की वृद्धि के लिये जो आदेश संघ सरकार द्वारा राज्यों को दिये जाएँगे उनका पालन उन्हें करना होगा। राज्य के अन्तर्गत रेलों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व राज्यों के ऊपर है। संविधान में यह भी व्यवस्था की गई है कि राज्यों को संघ सरकार की आज्ञा पालन में जो अधिक व्यय पड़ेगा उसका भार संघ सरकार वहन करेगी। राज्य की सरकार की सम्मति से राष्ट्रपति राज्य के अधिकारियों को उन कामों का भार दे सकता है जो संघ कार्यपालिका के अधिकार में रखे गये हैं। संसद् विधि द्वारा राज्य के किसी पदाधिकारी के अधिकार और कर्तव्यों में वृद्धि कर सकती है। इस सम्बन्ध में भी अतिरिक्त व्यय का भार संघ सरकार को वहन करना होगा। २५६ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का, इस प्रकार प्रयोग होगा, कि जिससे संसद् द्वारा निर्मित विधियों का, तथा किन्हीं वर्तमान विधियों का, जो उस राज्य में लागू हैं, पालन सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिये आवश्यक दिखाई दे। प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि जिससे संघ की

कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न हो तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिये आवश्यक दिखाई दे।

संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को किसी ऐसे संचार-साधनों के निर्माण करने और बनाये रखने के लिये निदेश देने तक भी विस्तृत होगा जिनका राष्ट्रीय या सैनिक महत्व का होना उस निदेश में घोषित किया गया हो। तात्पर्य यह है कि भारत सरकार नौ-बल, स्थल-बल और विमान-बल की वृद्धि के लिये राज-पथों या जल-पथों को राष्ट्रीय राज-पथ या राष्ट्रीय जल-पथ घोषित कर सकती है। जम्मू और काश्मीर, निवांकुर-कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य-संघ, मध्य भारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद के सशस्त्र बलों (Armed Forces) पर संघ सरकार का आधिपत्य मान लिया गया है। संसद् विधि द्वारा इस सम्बन्ध में कोई दूसरा उपबन्ध जब चाहे कर सकती है। जब तक संसद् इनके लिये किसी विधि का निर्माण नहीं करती तब तक इन्हें राष्ट्रपति के आदेशों के अनुसार कार्य करना होगा। भारत सरकार को अपनी राष्ट्रीय सीमा से बाहर अन्य देशों से किसी प्रकार का करार करने का अधिकार नहीं है। भारत के राज्य क्षेत्र में सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों और न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता प्रदान की गई है। इन क्रियाओं की व्यावहारिक रीति का निर्धारण संसद् निर्मित विधि द्वारा होगा। राज्यों में न्यायालयों की कार्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में संसद् को विधि बनाने का अधिकार है। संघ और राज्यों के प्रशासन सम्बन्ध को देखते हुए यह स्पष्ट है कि संघ की कार्यपालिका शक्ति सर्वोपरि है।

राज्यों के बीच समन्वय

यदि राज्यों में नदी के जलों के प्रयोग, वितरण, या नियंत्रण के सम्बन्ध में कोई विवाद उत्पन्न हो तो उसका निवारण संसद् विधि द्वारा करेगी। उच्चतम न्यायालय अथवा किसी अन्य न्यायालय को इस सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार के प्रयोग करने का अधिकार नहीं है। निम्नलिखित कार्यों की सिद्धि के लिये राष्ट्रपति को एक परिषद् की स्थापना करने का अधिकार है :—

१—राज्यों के बीच जो विवाद उत्पन्न हो चुके हों उनकी जाँच करने और उन पर मंत्रणा देने के लिये।

२—कुछ या सब राज्यों के, अथवा संघ और एक या अधिक राज्यों

के, पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयों के अनुसंधान और चर्चा करने के लिये।

३—ऐसे किसी विषय पर सिपारिश करने, और विशेषतः उस विषय के बारे में नीति और कार्यवाही के अधिकतर अच्छे समन्वय के हेतु सिपारिश करने के लिये।

राष्ट्रपति को इस प्रकार की परिषद् स्थापित करने का अधिकार इसलिये दिया गया है कि राज्यों में विवाद-ग्रस्त विषय भयंकर रूप धारण न कर सकें। परिषद् लोक हित का ध्यान रखते हुए राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध में सहयोग और सद्भाव की वृद्धि करेगी। परिषद् का संगठन, इसकी कार्य-विधि और इसके कर्त्तव्यों को निश्चित करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। इतनी सावधानी बर्तने पर भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है कि कोई राज्य संघ सरकार की आज्ञाओं का उल्लंघन करे अथवा अपनी कोई स्वतन्त्र नीति बनाने का प्रयत्न करे। इसलिये ३६५ वें अनुच्छेद में इस बात की व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति उस राज्य को असफल घोषित कर दे और उसके सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथों में ले ले। संघ कार्यपालिका की इस शक्ति से भयभीत होकर कोई भी राज्य भारत सरकार की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता। इससे राज्यों में समन्वय (Co-ordination) की भावना बनी रहेगी। संघ और राज्यों में आर्थिक सम्बन्ध की भी व्यवस्था की गई है, जिसका वर्णन आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है।

अध्याय ६

राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति

राष्ट्रपति का निर्वाचन

संविधान के ५ वें भाग में इस बात का उल्लेख किया गया है कि भारत का एक राष्ट्रपति होगा। संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। इस शक्ति का प्रयोग वह संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा कर सकता है। संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित किया गया है। इसका निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से न होकर एक निर्वाचक-गण (Electoral-College) द्वारा होगा। निर्वाचकगण के सदस्य निम्नलिखित होंगे :—

१—संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य; तथा

२- —राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य।

राष्ट्रपति का निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व-पद्धति (Proportional Representation) के अनुसार एकल संक्रमणीय मत (Single Transferable vote) द्वारा होगा तथा ऐसे निर्वाचन में मतदान गढ़ शलाका (Secret Ballot) द्वारा होगा। जहाँ तक व्यवहार्य हो, उसके निर्वाचन में भिन्न भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व एक ही मापमान (Uniformitv) से होगा। राज्यों में आपस में ऐसी एक रूपता तथा समस्त राज्यों और संघ में समतुल्यता प्राप्त कराने के लिये संसद् तथा प्रत्येक राज्य की विधान सभा का निर्वाचित सदस्य इस निर्वाचन में जितने मत देने का हकदार है उनकी संख्या नीचे लिखे प्रकार से निर्धारित की गई है :—

१—किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होंगे, जितने कि १००० से गुणित, उस भागफल में हों जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से, भाग देने से आये। १००० के उक्त गुणितों को लेने के बाद यदि शेष ५०० से कम न हो तो प्रत्येक सदस्य के मतों की संख्या में एक और जोड़ दिया जायगा।

२—संसद् के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वही होगी जो उपर्युक्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के लिये नियत सम्पूर्ण मत संख्या को, संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आए, जिसमें आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायगा तथा अन्य भिन्नों की उपेक्षा की जायगी।

कोई व्यक्ति जो भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियंत्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुए है, राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र नहीं है। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उपराजप्रमुख या संघ अथवा किसी राज्य के मंत्री अपवाद माने गये हैं। राष्ट्रपति के लिये वही व्यक्ति खड़ा हो सकता है जिसमें निम्नलिखित योग्यता हो :—

१—जो भारत का नागरिक है।

२—जिसकी आयु ३५ वर्ष से ऊपर है।

३—जो लोक-सभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता है।

कोई व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है अथवा कर चुका है, उस पद के लिये पुनर्निर्वाचन का पात्र माना गया है। जिन देशों में राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रणाली है वहाँ भी पुनर्निर्वाचन के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह प्रथा चल पड़ी थी कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति न चुना जाय, परन्तु रूजवेल्ट ने १९४० ई० में तीसरी बार राष्ट्रपति होकर इस प्रथा को तोड़ दिया। प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति, जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है, अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के प्राप्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्नलिखित रूप में शपथ लेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।

"मैं ·····अमुक······ ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठ से प्रतिज्ञान करता हूँ
कि मैं श्रद्धा पूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का
कार्य पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का—

निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से
संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण
और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं भारत की जनता
की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

वेतन और कार्यकाल

राष्ट्रपति को १०००० रुपया मासिक वेतन देने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त उन्हें ऐसे भत्ते भी दिये जायँगे, जैसे भारत के गवर्नर जनरल को इस संविधान के प्रारम्भ के ठीक पहले दिये जाते थे। उनके निवास के लिए बिना किराये के सरकारी भवन की व्यवस्था की गई है। स्वतन्त्रता के पहले भारत के वाइसराय को २ करोड़ ५० लाख रुपया वार्षिक वेतन मिलता था। इसकी तुलना में भारत के राष्ट्रपति का वेतन बहुत कुछ कम कर दिया गया है। फिर भी भारत की आर्थिक दशा का ध्यान रखते हुए यह वेतन अधिक है। गत महायुद्ध से पहले रूस के प्रधान शासक स्टालिन को केवल २०० रुपया माहवार वेतन दिया जाता था। जापान में अधिक से अधिक वेतन ४५० रुपया है। तुर्किस्तान में सबसे बड़े अधिकारी को ३२० रुपया दिया जाता है। महात्मा गाँधी का विचार था कि भारत में ५०० रुपये मासिक से अधिक वेतन नहीं होना चाहिये। अधिक वेतन से देश की रहन-सहन का स्तर अवश्य बढ़ता है, परन्तु इसका भार किसान और श्रमिकों पर पड़ता है। वेतन के लोभ से पढ़े लिखे लोग नौकरी करना अधिक चाहते हैं। वेतन कम होने से लोगों की रुचि स्वतन्त्र व्यवसाय की ओर होगी और नौकरी का आकर्षण जाता रहेगा। राष्ट्रपति का वेतन और भत्ते उसके पद की अवधि में घटाये नहीं जा सकते। भारतीय गवर्नर जनरल श्री राजगोपालाचारी को १००० रुपये माहवार पेंशन दी गई है। राष्ट्रपति को भी सम्भवतः इस प्रकार की व्यवस्था की जा सकती है, यद्यपि संविधान में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

राष्ट्रपति पाँच वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता है। एक ही व्यक्ति कई बार राष्ट्रपति पद के लिये निर्वाचित किया जा सकता है। निर्वाचित होने के पश्चात् वह लाभ का कोई दूसरा पद ग्रहण नहीं कर सकता। यदि कोई लाभ का पद ग्रहण किये हुए है तो उसे उसका परित्याग करना होगा। पाँच वर्ष की निश्चित अवधि के पहले वह दो दशाओं में अपने पद से हट सकता है :—

१—उपराष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकता है।

२—संविधान का अतिक्रमण करने पर महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।

अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने तक वह पद धारण करेगा। कुछ आलोचकों ने इस पाँच वर्ष की अवधि को अधिक ठहराया है। परन्तु अन्य देशों की तुलना में यह अवधि उपयुक्त जान पड़ती है। निर्वाचन में सरकार को बहुत सी कठिनाइयाँ आती हैं और अधिक धन व्यय करना पड़ता है। राष्ट्रपति का निर्वाचन कम समय के लिये होने से ये दोनों कठिनाइयाँ बढ़ जायेंगी। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का निर्वाचन ४ वर्ष के लिये होता है। फ्रांस का राष्ट्रपति ७ वर्ष के लिये निर्वाचित किया जाता है। जर्मनी में राष्ट्रपति के लिये ५ वर्ष की अवधि निर्धारित की गई थी। ५ वर्ष की अवधि में भारत के राष्ट्रपति को इस बात का पूरा अवसर प्राप्त होगा कि वह राष्ट्रनिर्माण में अपने विचारों का प्रयोग करे। एक ही व्यक्ति के कई बार राष्ट्रपति होने की प्रणाली अच्छी नहीं है। देश में कितने ही प्रतिभाशाली और अद्वितीय व्यक्ति होते हैं। सब को क्रम से अवसर मिलना चाहिये। इसीसे राष्ट्रीय जीवन में नवीनता उत्पन्न होगी और उपयुक्त समय पर उपयुक्त व्यक्तियों को चुनने का जनता को अवसर मिलेगा।

राष्ट्रपति के अधिकार

ऊपर कहा गया है कि राष्ट्र की सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। इस शक्ति का प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अपने अधीन प्राधिकारियों द्वारा विधि के अनुसार उसे करने का अधिकार है। संविधान में यह कहा गया है कि, "राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधान-मन्त्री होगा।" क्या मंत्रियों ने राष्ट्रपति को कोई मंत्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच न की जायगी। तात्पर्य यह है कि संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को अपने मंत्रियों से सलाह लेनी होगी। प्रश्न यह है कि क्या वह मंत्रियों की सलाह की उपेक्षा कर सकता है? इसी प्रश्न के अधीन राष्ट्रपति के पद की मर्यादा भरी हुई है। संविधान में इसका कहीं वर्णन नहीं है कि मंत्रियों की सलाह मानने के लिये वह बाध्य

है। वह केवल राष्ट्र की मर्यादा के लिये वैधानिक प्रधान होगा: इसका भी उल्लेख नहीं है। अर्थात् भारत का राष्ट्रपति कार्य रूप में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग कर सकता है। इस शक्ति की क्या सीमा है और संविधान में इसके लिये क्या प्रतिबन्ध है, यह एक दूसरा जटिल प्रश्न है। साधारण स्थिति में वह मंत्रियों के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। लोक-सभा में जनता के ही प्रतिनिधि होंगे। यह स्वाभाविक है कि लोकसभा का मंत्रि-परिषद् में विश्वास होगा, तभी वह कार्य कर सकती है। यदि राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् के सलाह की उपेक्षा करता है तो मन्त्रियों को बाध्य होकर त्याग पत्र देना होगा। राष्ट्रपति को जब दूसरी मन्त्रि-परिषद् बनानी होगी तो लोक-सभा उसके कार्यों में कठिनाई उत्पन्न करेगी। इसीलिये यह सम्भव नहीं है कि राष्ट्रपति मंत्रियों के दैनिक कार्यों में हस्तक्षेप करेगा।

असाधारण परिस्थिति में राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद् की सलाह से बाध्य नहीं है। वह भी मंत्रियों की भाँति जनता द्वारा निर्वाचित किया गया है। उसका कर्तव्य है कि कोई गम्भीर स्थिति उत्पंन्न होने पर अपनी विवेक बुद्धि से कार्य करे। परिस्थिति का अनुमान कर वह सब कुछ करने का अधिकारी है। उसने पद ग्रहण के समय इस बात की शपथ ली है कि "अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।" मान लीजिये मंत्रि-परिषद लोक-सभा को विघटन (Dissolve) करने के लिए उसे सलाह देती है। वह इस सलाह को अस्वीकार कर सकता है। उसकी दृष्टि में इस कार्य से राष्ट्र का अहित हो सकता है। जिन जिन देशों में लोक-सभा जनता का प्रतिनिधित्व करती है वहाँ इसके विघटन का अधिकार राष्ट्र के प्रधान को ही दिया गया है। विशेष स्थिति में वह अध्यादेश (ordinance) भी प्रख्यापन कर सकता है। उसके विशेषाधिकारों को देखते हुए कुछ आलोचकों का कहना है कि उसकी शक्ति किसी तानाशाह (Dictator) से कम नहीं है। परन्तु यह आलोचना निराधार है। संसद् को उसके ऊपर महाभियोग लगाने का भय है। इस भय से वह संविधान की विधियों का उल्लंघन नहीं कर सकता। संसद् के निर्णय के विरुद्ध वह कहीं अपील भी नहीं कर सकता। उसकी तानाशाही प्रवृत्तियों पर संविधान का यह प्रतिबन्ध कम नहीं है। प्रत्येक दशा में जनता के अधिकारों की रक्षा की गई है, और यही प्रजातंत्र का मूल सिद्धान्त है।

यह बात निर्विवाद है कि कोई भी प्रतिभाशाली व्यक्ति राष्ट्रपति के पद को ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव मंत्रि-परिषद् और संसद् दोनों पर डाल सकता है। यह भी सम्भव है कि उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ये दोनों सभाएँ उसके सभी कार्यों का समर्थन करें। उसके अधिकारों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि वह संविधान के अन्तर्गत कार्य करते हुये भी अपने व्यक्तित्व से राष्ट्र को प्रभावित कर सकता है। वह जिसे चाहे प्रधान मंत्री नियुक्त कर सकता है। उसकी शक्तियों को सुचारु रूप से समझने के लिए हम उन्हें ५ श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—कार्यपालिका शक्ति, विधायिनी शक्ति, न्यायिक शक्ति, वित्तीय शक्ति और आपात शक्ति।

कार्यपालिका शक्ति (Executive Powers)

राष्ट्रपति राष्ट्र का सर्वोच्च प्राधिकारी है। उसे किसी अन्य राष्ट्र से विग्रह और सन्धि करने की शक्ति प्राप्त है। राष्ट्र का सम्पूर्ण शस्त्र बल, विमान-बल, नौ-बल तथा स्थल-बल राष्ट्रपति के अधिकार में रखा गया है। जहाँ तक संसद् को विधि बनाने की शक्ति प्राप्त है उस सीमा तक राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति कार्य करेगी। मंत्रियों के कार्य का विभाजन तथा मंत्रि-परिषद् की कार्य-प्रणाली को निर्धारित करने का अधिकार उसी को दिया गया है। यद्यपि सम्पूर्ण सरकारी कार्य मंत्रीगण करेंगे और उसमें अनेक अधिकारियों तथा प्राधिकारियों का हाथ होगा, किंतु सब कुछ राष्ट्रपति के नाम से किया जायगा। भारतीय संविधान सर्वथा नवीन है, अभी सरकारी कार्यों में इसके अनुकूल परिपाटियाँ नहीं हैं, इसलिए राष्ट्रपति के पद की कितनी ही उपयोगिता का वर्णन नहीं किया जा सकता। कहा जाता है कि प्रत्येक संविधान के दो अंग होते हैं। एक अंग क्रियाशील होता है और उसी से कार्य सम्पादन किया जाता है। दूसरे अंग कार्य की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं। राष्ट्र की मर्यादा की वृद्धि के लिये अथवा संविधान में आदर्शवादिता लाने के लिये इस अंग की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से राष्ट्रपति भारतीय राष्ट्र का सब से प्रतिष्ठित एवं आदर्शवादी व्यक्ति है। राष्ट्र के नागरिक उसके जीवन से कितनी ही उपयोगी बातें ग्रहण कर सकते हैं। विदेशों में भारतीय राष्ट्र को जो स्थान प्राप्त होगा उसका बहुत कुछ कारण राष्ट्रपति का व्यक्तित्व है। वह एक ऐसी शक्ति है जो राष्ट्र को उन्नति पथ पर अग्रसर करेगी। राष्ट्र को उसकी विचार शक्ति पर गर्व होगा।

विधि बनाने का अधिकार संसद् को दिया गया है, परन्तु संसद् के दोनों

विधायिनी शक्ति (Legislative Powers)

सदनों द्वारा स्वीकृत कोई विधेयक तब तक विधि नहीं कहला सकता जब तक राष्ट्रपति की उस पर स्वीकृति न ले ली जाय। धन-विधेयक (Money Bills) को छोड़ कर वह सभी विधेयक को स्वीकृति देने से कुछ समय के लिए रोक सकता है। यदि आवश्यकता हुई तो उसे अस्वीकार भी कर सकता है। यदि उसी विधेयक को संसद् पुनः पास करती है तो राष्ट्रपति उसे दूसरी बार नहीं रोक सकता। कोई भी धन-विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना संसद् में उपस्थित नहीं किया जा सकता। उस समय को छोड़कर जब कि संसद् के दोनों सदन सत्र (Session) में हैं, यदि किसी समय राष्ट्रपति को समाधान हो जाय कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिये उसे बाधित करने वाली परिस्थिति वर्तमान है तो वह ऐसे अध्यादेशों (Ordinances) का प्रख्यापन कर सकेगा जो उसे परिस्थितियों से अपेक्षित हों। प्रख्यापित अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो संसद् के अधिनियम (Act) का होता है, परन्तु ऐसा प्रत्येक अध्यादेश संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखा जायगा तथा संसद् के पुनः समवेत (Assemble) होने से ६ सप्ताह की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगा। कोई भी अध्यादेश राष्ट्रपति द्वारा किसी समय लौटा लिया जा सकता है। राज्यों के विधान-मण्डल जिन विषयों में विधि का निर्माण करेंगे, उनके सम्बन्ध में भी राष्ट्रपति को विधि बनाने का कुछ अधिकार प्राप्त है। जिन विषयों में संसद् को विधि बनाने का अधिकार नहीं है उनके सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति नहीं है। यदि ऐसा कोई अध्यादेश प्रख्यापित किया गया है तो वह अवैध होगा।

कुछ लोगों का विचार है कि अध्यादेश प्रख्यापित करने की परम्परा प्रजातंत्र की भावना के प्रतिकूल है। इस शक्ति को पाकर राष्ट्रपति विधान-मण्डल से ऊपर हो जाता है। ब्रिटिश काल में गवर्नर जनरल अथवा गवर्नरों द्वारा जो अध्यादेश प्रख्यापति किये जाते थे भारतीयों द्वारा उनकी कड़ी आलोचना की जाती थी। कारण यह है कि इनमें कुछ के अनुसार सैकड़ों भारतीय नागरिकों को बिना अपराध सिद्ध किये ही जेलों में बन्द कर दिया जाता था और वे महीनों उनमें पड़े रहते थे। १६३५ के भारतीय संविधान में ४२ और ४३ अनुच्छेद गवर्नर जनरल को अध्यादेश प्रख्यापित करने का अधिकार देते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए शान्ति और सुव्यवस्था के नाम पर इन दोनों अनुच्छेदों का उपयोग

किया जाता था। राष्ट्र के स्वतन्त्र हो जाने पर कोई भारतीत राष्ट्रपति अध्यादेशों का दुरुपयोग इस प्रकार नहीं कर सकता। राष्ट्रपति को यह शक्ति किसी विशेष स्थिति के लिए प्रदान की गई है। वह इसका प्रयोग बहुत ही सावधानी से करेगा।

न्यायिक शक्ति (Judicial Powers)

किसी अपराध के लिए सिद्ध-दोष किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रतिलंभन, विराम या परिहार करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्राप्त है। वह मृत्यु दण्ड को भी क्षमा कर सकता है। राष्ट्र के प्रधान को इस प्रकार की शक्ति प्रायः सभी देशों में दी गई है। परन्तु इसका उपयोग किंचित्‌मात्र किया जाता है। इस प्रकार की शक्ति प्रायः राष्ट्रपति को शोभा के लिए ही प्रदान की जाती है। नवीन संविधान में न्यायालयों को स्वतन्त्र और निष्पक्ष रहने की व्यवस्था की गई है। उनके कार्यों में राष्ट्रपति कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। शासन के सभी क्षेत्रों में राष्ट्रपति के अधिकार व्याप्त हैं और उसकी स्थिति को सर्वोपरि सिद्ध करने के लिये उसे कुछ न्यायिक अधिकार भी प्रदान कर दिये गए हैं। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संघ के सशस्त्र बलों के किसी पदाधिकारी की, सेना न्यायालय द्वारा दिये गए दण्डादेश के विलम्बन, परिहार तथा लघूकरण की विधि द्वारा दी गई शक्ति पर राष्ट्रपति की न्यायिक शक्ति कोई प्रभाव नहीं डालेगी। राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा दिये गये मृत्यु दण्ड के विलम्बन, परिहार या लघूकरण की शक्ति पर भी उसकी शक्ति का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। यह अपवाद इसीलिए रखा गया है कि सैनिक मर्यादा (Discipline) बनी रहे और राज्य की प्रधान कार्यपालिका शक्ति अपने सम्मान की रक्षा कर सके।

वित्तीय शक्ति (Financial Powers)

राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रतिवर्ष वित्तीय वर्ष के आरम्भ में संघ के सम्पूर्ण आय व्यय का विवरण संसद् के सामने उपस्थित करे। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना धन सम्बन्धी कोई भी माँग संसद् में नहीं की जा सकती। मंत्रि-परिषद् के सदस्य अपने अपने विभाग के आय-व्यय का विवरण राष्ट्रपति को देंगे, जिन्हें वह संसद् में रखेगा। संघ और राज्य की सरकारों में आय कर को विभाजित करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। आयकर का १६ प्रतिशत जो उत्तर प्रदेश को प्राप्त हुआ है वह राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किया गया है। जूट के निर्यात कर से जो आय होगी उसे आसाम,

पश्चिमी बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में विभाजित करने का अधिकार उसी को दिया गया है। राष्ट्रपति को वित्त-आयोग (Finance Commissoin) नियुक्त करने का अधिकार है। प्रजातंत्र सिद्धान्त के अनुसार प्रजा का धन व्यय करने का अधिकार उसके प्रतिनिधियों को ही है। इसीलिए लोकसभा की वित्तीय शक्तियाँ बहुत ही व्यापक हैं। राष्ट्रपति उनमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। किसी माँग को घटाने बढ़ाने में भी उसकी कोई विशेष अभिरुचि न होगी।

आपात शक्ति (Emergency Powers)

राष्ट्रपति को विशेष स्थिति में बहुत बड़ी आपात शक्ति प्रदान की गई है। संविधान के १८ वें भाग में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है। यदि उसे समाधान हो जाय कि गम्भीर आपात (Emergency) विद्यमान है, जिससे युद्ध या वाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह उद्घोषणा द्वारा उस आशय की घोषणा कर सकेगा। ऐसी उद्घोषणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जायगी। यदि संसद् के दोनों सदन उसका अनुमोदन न करें तो दो मास की समाप्ति पर वह प्रवर्तन में न रहेगी। यदि राष्ट्रपति को समाधान हो जाय कि युद्ध या वाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति का संकट सनिकट है तो चाहे वास्तव में युद्ध अथवा ऐसा कोई आक्रमण या अशान्ति नहीं हुई हो तो भी भारत की अथवा भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा इस प्रकार से संकट में है, ऐसा घोषित करने वाली आपात की उद्घोषणा की जा सकेगी। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निदेश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। राष्ट्रपति की आपात शक्ति ३ श्रेणियों में विभाजित की जा सकती है :—

१—युद्ध, आक्रमण अथवा अशान्ति आपात।

२—वित्तीय आपात।

३—संविधान तंत्र के विफल हो जाने की अवस्था में आपात शक्ति।

युद्ध, आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति के समय राष्ट्रपति अपनी आपात शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। ऐसी अवस्था में भारतीय संविधान

का स्वरूप ही बदल दिया जायगा। संघ शासन, एकात्मक शासन के रूप में परिवर्तित हो जायगा। जब तक आपात की घोषणा प्रवर्तन में रहेगी तब तक संसद् को किसी भी विषय में विधि बनाने का पूरा अधिकार होगा। राज्य में दिए गए किसी भी विषय के सम्बन्ध में वह विधि बना सकती है। यदि राज्य के विधान मंडल द्वारा निर्मित किसी विधि का इससे विरोध होता हो तो संसद् की ही विधि मान्य होगी। आपात की स्थिति में प्रत्येक राज्य का संरक्षण करना, तथा प्रत्येक राज्य की सरकार इस संविधान के उपबन्धो के अनुसार चलाई जाय, यह सुनिश्चित करना राष्ट्रपति का कर्तव्य होगा। यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर या किसी और प्रकार से राष्ट्रपति को समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमें कि उस राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा उस राज्य की सरकार की सब या कुछ शक्ति अपने हाथ में ले लेगा। वह यह भी घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान-मंडल की शक्तियाँ संसद् के अधीन कार्य करेंगी। उस राज्य के शासन को चलाने के लिये वह आवश्यक या वांच्छनीय उपबन्ध करेगा। परन्तु उसे यह अधिकार न होगा कि वह उच्चन्यायालय में निहित शक्तियों को अपने हाथ में ले ले। आपात के उद्घोषित होने पर नागरिकों के निम्नलिखित मौलिक अधिकार स्थगित समझे जाँयगे :—

वाक् स्वतन्त्रता, स्पष्टीकरण स्वातन्त्र्य, शान्ति पूर्वक एकत्र होने की स्वतन्त्रता, संस्था (Association) निर्माण की स्वतन्त्रता, भारत के किसी क्षेत्र में बस जाने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति के क्रय विक्रय की स्वतन्त्रता किसी उद्योग धंधे अथवा व्यापार करने की स्वतन्त्रता। न्यायालयों को भी राष्ट्रपति इन मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में प्रेरणा दे सकता है। संघ और राज्य सरकारों में राजस्व (Revenue) सम्बन्धी बटवारे को भी उसे स्थगित करने का अधिकार है।

संकट कालीन अवस्था का निवारण करने के लिये संघ कार्यपालिका अथवा राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ प्रदान की गई हैं वे बहुत ही तीक्ष्ण हैं। राष्ट्रपति इन शक्तियों का उपयोग मंत्रि-परिषद् की सलाह से ही करने का प्रयत्न करेगा। परन्तु संविधान में इसका कोई वर्णन नहीं है कि वह मन्त्री-परिषद् की सलाह से वाध्य होगा। यदि चाहे तो अपनी स्वतन्त्र विधि से अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है। संकटकालीन अवस्था की कल्पना

करने में उसे कोई रुकावट नहीं है। इस शक्ति के द्वारा वह प्रजातंत्रीय भावना को समूल नष्ट कर सकता है। आपात की शक्ति को देखते हुए संविधान का प्रजातन्त्रीय रूप बहुत कुछ बदल जाता है। जब नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर प्रहार किया जा सकता है तो और अधिकारों की बात ही क्या है। इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि राष्ट्र की सुरक्षा व्यक्ति की स्वतंत्रता से बढ़कर है। यदि विशेष स्थिति में जहाँ राष्ट्र पर आक्रमण का भय है, नागरिकों के अधिकार थोड़े समय के लिये छीन लिये जाते हैं तो इसके लिये सरकार की टीका टिप्पणी नहीं होनी चाहिये। राज्य नागरिक अधिकारों का संरक्षक है। जब उसी की स्वतन्त्रता संकट में है तो वह अपने कर्तव्यों का पालन कैसे कर सकता है। पिछले ५० वर्षों के संसार के इतिहास को देखते हुए यह बात स्पष्ट है कि वाह्य आक्रमणों से राष्ट्र को सुरक्षित रखने की भावना बढ़ रही है। पिछले दो महायुद्धों के कारण सभी राष्ट्रों को यह भय रहता है कि उसकी स्वतन्त्रता संकट में न पड़ जाय। इसलिये सरकार अपनी आय का एक बड़ा अंश अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिकों पर व्यय करती है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए संकटकालीन अवस्था में राष्ट्रपति को आपात शक्तियाँ प्रदान की गई हैं और नागरिकों को अपने अधिकारों से वंचित किया गया है। इस तरह की आपात शक्तियाँ ब्रिटेन तथा अमेरिका के संविधान में पायी जाती हैं। ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा अमेरिका की कांग्रेस संकटकालीन अवस्था में अपने नागरिकों को अधिकारों से वंचित कर सकती हैं।

एक विद्वान् ने राष्ट्रपति की उपमा भरी बंदूक से दी है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति बन्दूक का उपयोग आत्मरक्षा के लिये कर सकता है अथवा इसका दुरुपयोग दूसरों को हानि पहुँचाने के लिए कर सकता है, उसी प्रकार राष्ट्रपति इन शक्तियों का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों कर सकता है। लोगों का अनुमान है कि जर्मनी के पिछले संविधान में हिटलर को इसी तरह की शक्ति दी गई थी, जिसका दुरुपयोग करके उसने जर्मन राष्ट्र को हानि पहुँचायी। जब यह विषय भारतीय संविधान में उपस्थित किया गया तो कुछ सदस्यों ने इस पर आपत्ति की थी। उनका कहना था कि यह विषय संविधान में सब से निन्दनीय है।

जहाँ राष्ट्र को बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति का भय रहता है वहाँ आर्थिक स्थिति के बिगड़ने का भी कम भय नहीं रहता। जब देश की आर्थिक स्थिति संकट में हो जाती है तो सरकार के लिए एक समस्या

उत्पन्न हो जाती है। जब तक वह कड़े उपायों का अवलम्बन नहीं करती तब तक इस दशा में कोई सुधार नहीं होता। आर्थिक स्थिति राज्य का प्राण है। युद्ध के समय सभी आर्थिक साधनों को सरकार अपने हाथ में कर लेती है। कन्ट्रोल तथा राशनिंग आदि की व्यवस्था इसीलिए की जाती है। विशेष स्थिति में नये नये कर लगाये जाते हैं तथा उपयोग की कितनी ही आवश्यक वस्तुएँ सरकार के अधिकार में कर ली जाती हैं। नागरिकों के कष्ट का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा निवास स्थान तक से नागरिकों को वंचित कर दिया जाता है। यह सब कुछ राष्ट्र के हित में किया जाता है। भारतीय सविधान में राष्ट्रपति को वित्तीय आपात शक्ति (Financial Emergency Power) भी दी गई है। यदि उसे समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत अथवा उसके राज्यक्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व (Financial Stability) संकट में है तो वह उद्घोषणा द्वारा उस बात की घोषणा कर सकता है। जब तक यह उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब तक संघ की कार्यपालिकाशक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी आदेश दे सकती है। राज्य के कर्मचारियों का वेतन भी कम किया जा सकता है। राज्य के विधान-मण्डल द्वारा स्वीकृत वित्तीय विधेयक को राष्ट्रपति विचार करने के लिये रोक सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि संघ के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग का वेतन और भत्ता कम कर दे। उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का भी वेतन कम किया जा सकता है।

वित्तीय आपात की यह घोषणा यदि संसद् द्वारा स्वीकृत नहीं है तो इसकी अवधि केवल २ महीने की होगी। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रपति आर्थिक स्थिति को ठीक करने के लिए सब कुछ करने का अधिकारी है। इस बात की प्रायः सम्भावना रहती है कि प्रबन्ध की भूल से अथवा किन्हीं विशेष कारणों से किसी राज्य की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो जाय। इससे राज्य में जो अराजकता फैलेगी उसका प्रभाव दूसरे राज्यों पर भी पड़ेगा। केन्द्रीय सरकार की आय पर भी इसका प्रभाव होगा। ऐसी स्थिति में शासन-सूत्र ढीला हो जाने का भय रहता है। यदि इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को आपात शक्ति प्रदान न की जाय तो सरकार अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकती। नागरिकों का जीवन भी संकट ग्रस्त हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर राष्ट्रपति को समाधान हो जाय कि अवस्था संकट ग्रस्त है तो वह आपात की उद्घोषण कर सकता है। ऐसी स्थिति में उस राज्य का विधान स्थगित कर दिया जायगा और सम्पूर्ण शक्ति संसद् एवं मन्त्रि-परिषद् को दे दी जायगी। संविधान सभा में जब यह अनुच्छेद स्वीकृति के लिए उपस्थित किया गया तो कुछ सदस्यों ने इस पर आपत्ति की। पं० हृदयनाथ कुँजरू ने कहा था कि, "यदि उत्तरदायी शासन का निर्माण करना है तो मतदाताओं को यह अनुभव करा देना चाहिये कि यदि शासन प्रबन्ध कोई कुप्रबन्ध हुआ तो उसके समुचित उपाय का दायित्व भी उन्हीं पर है। यह उन्हीं पर निर्भर है कि वे ऐसे प्रतिनिधियों को चुनें जो उनके सर्वश्रेष्ठ हित में कार्य कर सकें। यदि संघ सरकार या संसद् को राज्य के विषयों में हस्तक्षेप का अधिकार दे दिया जाय, तो इस बात का भय रहेगा कि जब कभी राज्य में किसी प्रकार का असन्तोष होगा, तो संघ सरकार से रक्षा करने की माँग की जायगी। राज्य के नागरिक अपने दायित्व को संघ सरकार पर लाद देंगे। इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना उचित नहीं है। उत्तरदायी शासन अत्यन्त कठिन ढंग की शासन पद्धति है और इसके लिए धैर्य तथा साहस की आवश्यकता है। यदि जनता में गुण नहीं हैं, तो संविधान वास्तव में मृत बना रहेगा।" इससे प्रगट होता है कि राष्ट्रपति के इस आपात अधिकार से राज्य के नागरिकों के दायित्वहीन हो जाने की सम्भावना है। राज्यपाल अथवा राजप्रमुख की सूचना के बिना भी राष्ट्रपति अपनी आपात शक्ति द्वारा राज्य के विधान को स्थगित कर सकता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह अनुच्छेद १९३५ के संघ शासन में गवर्नरों के विशेषाधिकारियों की याद दिलाता है। फिर भी दोनों में अन्तर है। नवीन संविधान में विशेष स्थिति में भी राज्य के विधान मण्डल के अधिकार कार्यपालिका को प्रदान नहीं किये जायेंगे। उसके अधिकार संसद् को प्राप्त होंगे, जिनमें प्रजा के ही प्रतिनिधि होंगे। संसद् अपनी शक्ति को राष्ट्रपति को प्रदान कर सकती है। संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य है कि किसी राज्य का शासन बिगड़ने पर राष्ट्रपति पहले उसे सावधान कर देगा। इसका कुछ प्रभाव न पड़ने पर वह साधारण निर्वाचन (General Election) का आदेश देगा। जब उसका भी कोई प्रभाव न होगा और निर्वाचित सदस्य स्थिति को संभालने में असमर्थ होंगे तब राष्ट्रपति राज्य की शासन शक्ति अपने हाथ में ले लेगा।

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

विधान में राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया बनाई गई है। जिन आलोचकों ने उस पर निरंकुश होने का दोषारोपण किया है, उनकी शंकाओं का इस प्रक्रिया से कुछ समाधान हो जाता है। महाभियोग के भय से वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो राष्ट्रीय हित के विरुद्ध हो। अपने विशेषाधिकारों के प्रयोग में भी वह बहुत ही संयम से कार्य करेगा। संविधान के ६१ वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि जब कभी वह संविधान का अतिक्रमण करेगा तो संसद् का कोई सदन उस पर महाभियोग चला सकता है। इस प्रकार का दोषारोपण लगाने के लिए कम से कम १४ दिन की लिखित सूचना उस सदन के एक चौथाई सदस्यों के हस्ताक्षर द्वारा आनी चाहिए। जब इस तरह का प्रस्ताव किसी सदन में उपस्थित होगा तो उस सदन के समस्त सदस्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत से वह पारित (Pass) होना चाहिये। जब दोषारोप संसद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार किया जा चुके तब दूसरा सदन उस दोष का अनुसंधान करेगा या करायेगा। इस अनुसंधान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का राष्ट्रपति को अधिकार होगा। दोषारोप के अनुसंधान करने या कराने वाले सदन के सदस्यों के कम के कम दो तिहाई बहुमत से दोषारोप का संकल्प पारित हो जाय तो उसी तिथि से राष्ट्रपति को अपने पद से हट जाना होगा। उसका स्थान रिक्त हो जाने पर उसकी पूर्ति के लिए शीघ्र से शीघ्र नये राष्ट्रपति का निर्वाचन कर लिया जायगा।

६२ वें अनुच्छेद में कहा गया है कि, "राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, या पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन, रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथासंभव शीघ्र और हर अवस्था में ६ मास बीतने के पहले किया जायगा।" रिक्तता पूर्ति के लिए निर्वाचित व्यक्ति अपने पद ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष की पूरी अवधि के लिए पद धारण करने का हकदार होगा। संविधान सभा में कुछ सदस्यों ने यह आपत्ति की थी कि इस वाक्यांश को स्पष्ट कर देना चाहिये कि, 'संविधान के अतिक्रमण' से क्या आशय है। परन्तु इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में यह स्पष्ट किया गया है कि देशद्रोह, घूसखोरी तथा असद्व्यवहार के कारण राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाया जा सकता है। भारतीय संविधान में यह बात संदिग्ध है कि यदि राष्ट्रपति भेंट के रूप में एक बड़ा कोष घूस में ले ले तो यह

संविधान का अतिक्रमण कहलायेगा अथवा नहीं। इसीलिए संविधान सभा में एक सदस्य ने यह प्रस्ताव रखा था कि, "राष्ट्रपति या उसके परिवार के सदस्य अपने कार्यकाल में जो भेंट आदि प्राप्त करें वह राष्ट्र की सम्पत्ति मानी जाय।" यह प्रायः देखा जाता है कि धनी मानी सेठ साहूकार बड़े पदाधिकारियों को किसी बहाने से लाख दो लाख रुपये दे देते हैं और उनकी सहायता से करोड़ों रुपये के सरकारी ठेके प्राप्त कर लेते हैं। इस अप्रत्यक्ष घूसखोरी को रोकने के लिये संविधान में कोई उल्लेख होना चाहिये।

उपराष्ट्रपति

संविधान में एक उपराष्ट्रपति की भी व्यवस्था की गई है। वह पदेन राज्य परिषद् का सभापति होगा तथा अन्य किसी लाभ का पद धारण न करेगा। परन्तु जिस किसी कालावधि में वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा तब वह राज्य परिषद् के कर्तव्यों को न करेगा। राष्ट्रपति की मृत्यु, पद त्याग अथवा पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से उसके पद में हुई रिक्तता की अवस्था में उपराष्ट्रपति उस तारीख तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा जिस तारीख को निर्वाचित नया राष्ट्रपति अपने पद को ग्रहण कर ले। अनुपस्थिति, बीमारी अथवा अन्य किसी कारण से जब राष्ट्रपति अपने कृत्यों को करने में असमर्थ हो, तब उपराष्ट्रपति उसके कृत्यों का निर्वहन उस तारीख तक करेगा जिस तारीख को राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों को फिर से संभाल ले। उपराष्ट्रपति को उस कालावधि में जब कि वह राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन करता है, राष्ट्रपति की सब शक्तियाँ (Powers) और उन्मुक्तियाँ (Immunity) प्राप्त होंगी। उस कालावधि में उसे वही उपलब्धियाँ, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त होंगे जो राष्ट्रपति को प्राप्त हैं। संसद् विधि द्वारा इसमें परिवर्तन भी कर सकती है।

संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद् के दोनों सदनो के सदस्यों द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (System of Proportional Representation) के अनुसार एकल संक्रमणीय मत (Single Transferable vote) द्वारा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन होगा। ऐसे निर्वाचन में मतदान गूढ़ शलाका (Secret Ballot) द्वारा होगा। उपराष्ट्रपति न तो संसद् के किसी सदन का, और न किसी राज्य के विधान-मण्डल का, सदस्य होगा। यदि इनमें से किसी का वह सदस्य निर्वाचित हो जाय तो यह समझा जायगा कि उसने उपराष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण करने

की तारीख से उसे रिक्त कर दिया है। पदेन वह राज्य परिषद् का सभापति होगा। उसकी कालावधि राष्ट्रपति के समान ५ वर्ष की होगी। संविधान का अतिक्रमण करने पर उस पर भी राष्ट्रपति के समान महाभियोग लगाया जायगा। अपने पद से पृथक् होने के लिए राष्ट्रपति के सम्बन्ध में जो जो उपबन्ध बनाये गये हैं वे उपराष्ट्रपति पर भी लागू होंगे। ऊपर कहा गया है कि राष्ट्रपति के पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए नये राष्ट्रपति का निर्वाचन यथाशीघ्र किया जायगा। प्रत्येक दशा में यह निर्वाचन ६ मास के भीतर अवश्य करना होगा। यदि उपराष्ट्रपति अपनी इच्छा से अपना पद त्याग करना चाहेगा तो वह इस आशय का एक त्याग पत्र अपने हस्ताक्षर से राष्ट्रपति को देगा। राज्य-परिषद् बहुमत से अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे पृथक् कर सकती है, परन्तु यह प्रस्ताव लोक सभा द्वारा भी स्वीकृत होना चाहिये।

उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए पात्रता का भी प्रतिबन्ध लगाया गया है। इसकी पात्रता के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक ठहराई गई हैं :—

१—उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।

२—उसकी आयु कम से कम ३५ वर्ष की होनी चाहिये।

३—उसमें राज्य परिषद् का सदस्य होने के लिए सभी योग्यतायें होनी चाहिये।

कोई व्यक्ति, जो भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियंत्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए है, उपराष्ट्रपति होने का पात्र न होगा। राष्ट्रपति, राज्यपाल, राजप्रमुख उपराजप्रमुख, संघ के मन्त्री तथा राज्य के मन्त्री उपराष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित किए जा सकते हैं। यद्यपि वैतनिक होने के कारण ये लाभ का पद धारण किये होते हैं, फिर भी संविधान में इन्हें अपवाद ठहराया गया है। अपने कार्यकाल के समाप्त हो जाने पर भी उपराष्ट्रपति उस समय तक अपने पद पर बना रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले। उपराष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन अवधि समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण कर लिया जायगा। उसकी मृत्यु, पदत्याग, या पद से हटाये जाने अथवा अन्य कारण से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन रिक्तता होने की तारीख के पश्चात्

यथा सम्भव शीघ्र किया जायगा तथा रिक्तता पूर्ति के लिए निर्वाचित व्यक्ति अपने पद ग्रहण की तारीख से ५ वर्ष की पूरी अवधि के लिये पद ग्रहण करने का हकदार होगा। प्रत्येक उपराष्ट्रपति अपने पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ ग्रहण करेगा जिसमें वह संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने तथा अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करने की प्रतिज्ञा करेगा। राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में यदि कोई शंका या विवाद उत्पन्न हो तो उच्चतम न्यायालय इसका निर्णय करेगा। इस निर्णय के फलस्वरूप इनमें से कोई पृथक् किया जाय तो पृथक होने की तारीख तक का किया हुआ कार्य अमान्य नहीं ठहराया जायगा। इसके निर्वाचन सम्बन्धी नियम बनाने का अधिकार संसद् को प्रदान किया गया है।

अध्याय ७

संघ का मन्त्रि-परिषद्

मंत्रि-परिषद की प्रणाली

मंत्रि-परिषद् की पद्धति प्रजातंत्र का एक अंग है। यह कदापि सम्भव नहीं है कि राष्ट्रपति अकेले कार्यपालिका शक्ति का निर्वहन करे। वह कितनी भी असाधारण प्रतिभा रखता हो और शासन सम्बन्धी कार्यों में पारंगत हो, कुछ सहयोगियों के बिना उसका कार्य नहीं चल सकता। भारत एक विशाल-काय देश है, इसमें २८ छोटे बड़े राज्य हैं, इसकी आर्थिक और सामाजिक समस्यायें बहुत जटिल हैं। कोई एक व्यक्ति इसका निर्वहन नहीं कर सकता। सभी प्रजातंत्रीय देशों में मन्त्रि-परिशद की व्यवस्था की गई है। शासन का सम्पूर्ण कार्य परिषद् के सदस्य ही संचालित करते हैं। राष्ट्रपति इनके कार्यों की पुष्टिमात्र करता है। ब्रिटिश काल में जब जब भारतीय संविधान बना, मन्त्रि-परिषद् की उसमें व्यवस्था की गई थी। यद्यपि वह मन्त्रि-परिषद् जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी और उसका उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल के प्रति होता था फिर भी कार्य के संचालन में उसे आवश्यक ठहराया गया था। ब्रिटेन में मन्त्रि-परिषद् प्रणाली (Cabinet systm) सुचारु रूप से शासन का कार्य संचालित करती है। उसी के द्वारा कार्यपालिका शक्ति विधान मन्डल के साथ मिली हुई है। वर्तमान समय में सरकार के कार्य बढ़े हुये हैं। समाज की समस्यायें इतनी अधिक हैं कि सरकार को नये नये विभाग खोलने पड़ते हैं और कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ानी पड़ती है। मन्त्रि-परिषद् सरकारी नीति को निर्धारित करती है। उसी से विधान मण्डल को विधि बनाने की प्रेरणा मिलती है। इसीलिये कार्य-पालिका विभाग कुछ अंश में सरकार का सबसे आवश्यक विभाग माना गया है। साधारणतया कार्यपालिका के कार्य निम्नलिखित ठहराये गये हैं :—

१—राजनीतिक कार्य (Diplomatic work)—इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का संचालन होता है।

२—प्रशासनीय कार्य (Administrative work)—इसके अन्तर्गत विधियों का संचालन तथा सरकारी शासन होता है।

३—सैनिक कार्य (Military work)—इसके अन्तर्गत शस्त्र बल का संगठन और युद्ध का संचालन होता है।

४—न्यायिक कार्य (Judicial work)—इसके अन्तर्गत अपराधों का क्षमा दान तथा मृत्यु दंड स्थगित किया जाता है।

५—विधायी कार्य (Legislative work)—इसके अन्तर्गत विधेयक की रूप रेखा तैयार की जाती है, जिससे विधि का निर्माण हो।

विधान मण्डल अच्छी से अच्छी विधियों का निर्माण क्यों न करे, उनसे जनता को लाभ तभी हो सकता है जब उन्हें भली प्रकार कार्यान्वित किया जाय। यह कार्य कार्यपालिका को दिया गया है। कार्यपालिका से दो तात्पर्य हैं। व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य उन सभी कर्मचारियों से है जो सेना, आरक्षक (Police) तथा शासन सम्बन्धी कार्यों में लगे हुए हैं। गाँव के एक चौकीदार से लेकर राष्ट्रपति तक कार्यपालिका शक्ति के अन्तर्गत आते हैं। संकुचित अर्थ में इसका तात्पर्य उन व्यक्तियों से है जो शासन विभाग के प्रधान होते हैं। उन्हीं को मन्त्री और उनकी सभा को मन्त्रि-परिषद् कहते हैं। मन्त्रि-परिषद् के निर्माण के प्रसंग में आगे इस बात का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार इसके सदस्यों को विधान-मण्डल का विश्वास प्राप्त है। मन्त्री गण जनता के विश्वास पात्र प्रतिनिधि होते है और इनका कार्यकाल तभी तक रहता है जब तक वे इस विश्वास के साथ कार्य करते हैं। जनता के शासन का तात्पर्य इन्हीं के शासन से है।

शासन को दृष्टि से कार्यपालिका दो प्रकार की मानी गई है—पार्लियामेण्टरी कार्यपालिका और प्रेसीडेन्सियल कार्यपालिका। पहले प्रकार की कार्यपालिका ब्रिटेन में है। इसमें मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति विधान-मण्डल के बहुमत पक्ष से की जाती है। इसका उत्तरदायित्व विधान-मण्डल के प्रति होता है। दूसरी प्रणाली में मन्त्रि-परिषद् का विधान मण्डल से कोई सम्बन्ध नहीं होता है और न मन्त्रियों को उसकी कार्यवाही में भाग लेने का अधिकार होता है। यह प्रणाली संयुक्तराज्य अमेरिका में पायी जाती है। वहाँ राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति करता है जो राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होती है। विधान मण्डल मन्त्रि-परिषद् को पदच्युत नहीं कर सकता। भारतीय मन्त्रि-परिषद् का निर्माण ब्रिटिश कैबिनेट के

ढग पर किया गया है। मन्त्रि-परिषद् प्रणाली के कुछ आधार भूत सिद्धान्त हैं। राष्ट्र का प्रधान चाहे वह राष्ट्रपति हो अथवा राजा मन्त्रि-परिषद् में सम्मिलित नहीं होगा। मन्त्रीगण अपना कर्तव्य समझ कर उससे परामर्श कर सकते हैं, परन्तु वह स्वयं उसकी बैठकों में कोई भाग नहीं लेता। मन्त्रि-परिषद् पर वह कितना प्रभाव रखता है, यह उसके व्यक्तित्व पर निर्भर है। दूसरा सिद्धान्त मन्त्रि-परिषद् और विधान-मण्डल में सहयोग का है। शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए इनका सहयोग आवश्यक है। मन्त्रीगण विधान मण्डल के सदस्य होते हैं और वे जनता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि वे विधान मण्डल के बहुमत के अनुसार कार्य करें। तीसरा सिद्धान्त मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों में विचारों की साम्यता है। यह आवश्यक है कि मन्त्री एक ही पक्ष के सदस्य हों जिससे उनकी नीति में मत भेद न हों। कभी कभी अल्प संख्यक पक्ष से भी एक दो मन्त्रियों को मन्त्रि-परिषद् में सम्मिलित कर लिया जाता है, परन्तु उनसे आशा की जाती है कि परिषद् की नीति में वे साम्य रखेंगे। चौथा सिद्धान्त मन्त्रि-परिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) है। यद्यपि प्रत्येक मन्त्री का उत्तरदायित्व अपने विभाग से सम्बन्ध रखता है फिर भी एक की भूल सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् की भूल मानी जाती है। एक मन्त्री के हटने से पूरा मन्त्रि-परिषद् भग किया जा सकता है। इसीलिए मन्त्रियों को समय समय पर अपने विभाग की आवश्यक बातें सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् के सामने रखनी होती हैं। पाँचवाँ सिद्धान्त प्रधान मन्त्री का नियंत्रण है। सभी मन्त्री प्रधान मन्त्री के नियंत्रण में रहते हैं। यदि कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री से भिन्न अपनी कोई नीति रखता है तो प्रधान मन्त्री उसे त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है।

प्रधान मन्त्री की स्थिति

मन्त्रि-परिषद् का प्रधान, प्रधान मन्त्री होता है। वही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है तथा मन्त्रियों को एक सूत्र में बाँधकर रखता है। किसी मन्त्री के स्वतन्त्र विचार के कारण जब मन्त्रि-परिषद् की नीति में साम्य नहीं होता तो वह उसे त्याग पत्र देने के लिये वाध्य करता है। आवश्यकता पड़ने पर वह सब मन्त्रियों को त्याग पत्र देने के लिए वाध्य कर सकता है। मन्त्रि-परिषद के अतिरिक्त विधान मण्डल का भी वह नेता होता है। राष्ट्रपति उसी व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है जो विधान मण्डल में बहुमत पक्ष का नेता होता है। ब्रिटेन

के प्रधान मन्त्री के सम्बन्ध में एक विद्वान ने लिखा है, "प्रधान मन्त्री वह कार्य कर सकता है, जिसे जर्मन सम्राट्, अमेरिका का राष्ट्रपति और अमेरिका विधान मण्डल के अध्यक्ष भी नहीं कर सकते। वह विधियों में परिवर्तन कर सकता है, उन्हें रद्द कर सकता है तथा प्रजा पर कर लगा सकता है। राज्य की सेना का संचालन भी वह कर सकता है।" लास्की ने भी इसी तरह का विचार प्रकट किया है। उसके कथनानुसार प्रधान मन्त्री 'शासन की धुरी' है।

प्रधान मन्त्री मन्त्रि-परिषद की बैठकों में सभापति का आसन ग्रहण करता है। यह स्वाभाविक है कि मन्त्रीगण उसके विचारों का अधिक आदर करें। वह सभी सरकारी विभागों का निरीक्षण करता है। नीति सम्बन्धी कोई निर्माण उसकी अनुमति के बिना नहीं किया जाता। वैदेशिक विभाग का वह स्वयं प्रधान होता। जब दो विभागों में कोई मतभेद उत्पन्न होता है तो वही उसका निपटारा करता है। राष्ट्रपति तक मन्त्रि परिषद के निर्णय को वही पहुँचाता है। प्रधान मन्त्री के त्यागपत्र दे देने पर सम्पूर्ण मन्त्रि परिषद भंग कर दी जाती है और राष्ट्रपति दूसरे मन्त्रि परिषद का निर्माण करता है। प्रधान मंत्री मंत्रियों तथा उपमन्त्रियों की नियुक्ति करता है। उसके इन कार्यों को देखते हुए यह आवश्यक है कि उसमें कार्य संचालन की अपूर्व योग्यता हो। यदि यह व्यक्ति राष्ट्र का नेता है तो और भी अच्छा होगा। भारतीय शासन में जो सफलता प्राप्त हुई है उसका बहुत कुछ श्रेय प्रधान मन्त्री को है। स्वतंत्रता के पश्चात् इतनी कठिन परिस्थिति तथा कम समय में भारत के गौरव को बढ़ाने का श्रेय उसी को है। शासन सम्बन्धी परम्परायें अधिक समय में बनती हैं। स्वतंत्र भारत का संविधान अभी अभी आरम्भ हुआ है। परन्तु प्रधान मन्त्री ने अपने पद की जिस परिपाटी का श्रीगणेश किया है उससे स्पष्ट है कि वह जो कार्य कर सकता है वह भारत का राष्ट्रपति भी नहीं कर सकता।

मंत्रि-परिषद का संगठन

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को अपने कृत्यों का सम्पादन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद की व्यवस्था की गई है। प्रधान मन्त्री इसका प्रधान बनाया गया है। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है तथा अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मंत्रणा से करता है। मन्त्री अपने पद पर तब तक कार्य कर सकते हैं जब तक राष्ट्रपति उनमें विश्वास करता है। इसी विश्वास की पुष्टि के लिये प्रत्येक मन्त्री को राष्ट्रपति के सामने दो प्रकार

की शपथ लेनी पड़ती है। पहली पद-शपथ कहलाती है, जिसमें मन्त्री यह प्रतिज्ञा करता है कि वह संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखेगा; मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अन्तःकरण से निर्वहन करेगा; तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करेगा। दूसरी गोपनीयता-शपथ कहलाती है, जिसमें वह प्रतिज्ञा करता है कि जो विषय संघ-मन्त्री के रूप में उसके विचार के लिये लाया जायगा अथवा उसे ज्ञात होगा, उसे वह किसी व्यक्ति से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में सूचित या प्रकट नहीं करेगा। मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन के लिये जहाँ ऐसा करना अपेक्षित होगा, वहीं वह इसे प्रकट करेगा। राष्ट्रपति यह आशा करता है कि इन दोनों शपथों के बाद मन्त्री शासन कार्य को सुचारु रूप से संचालित करेंगे। मन्त्री के लिये यह आवश्यक है कि वह संसद् के किसी सदन का सदस्य हो। यदि संसद् के सदस्यों के अतिरिक्त कोई बाहरी व्यक्ति मन्त्री नियुक्त कर लिया जाता है तो उसे ६ महीने के भीतर किसी सदन का सदस्य होना अनिवार्य है।

कभी कभी योग्य व्यक्ति संसद् के सदस्य निर्वाचित नहीं हो पाते। राष्ट्रपति उनकी प्रतिभा और योग्यता से लाभ उठाना चाहता है। ऐसे ही व्यक्तियों में से जब वह किसी को मन्त्री नियुक्त कर लेता है तो इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि उसे संसद् का सदस्य बनाया जाय, क्योंकि संविधान के अनुसार मन्त्रियों को संसद् के किसी सदन का सदस्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में संसद् के किसी सदस्य का स्थान रिक्त होने पर उसके निर्वाचन क्षेत्र से मन्त्री को सदस्य निर्वाचन करा लिया जाता है। यदि कोई स्थान रिक्त नहीं है और ६ महीने की अवधि समाप्त हो रही है तो संसद् का कोई सदस्य त्याग पत्र दे देता है और स्थान रिक्त हो जाता है। संसद् के पहले सदन अर्थात् लोक-सभा की कालावधि ५ वर्ष ठहरायी गई है। मन्त्रीगण प्रायः लोक सभा के सदस्यों में से लिये जायँगे क्योंकि इसी सदन के बहुमत पक्ष के हाथ में सरकार की बागडोर है। यदि मन्त्रीगण सुचारु रूप से कार्य करते रहें तो एक ही मन्त्रि-परिषद् ५ वर्ष तक बनी रह सकती है। मन्त्रियों के वेतन और भत्ता आदि निर्धारित करने की शक्ति संसद् को है।

मन्त्रियों की संख्या का संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। संविधान सभा में एक सदस्य ने यह प्रस्ताव किया था कि मन्त्रियों की संख्या १५ निर्धारित कर दी जाय, परन्तु ऐसा नहीं किया गया। यह संख्या कार्य पर

निर्भर है। यदि ८ मन्त्रियों से कार्य हो सकता है तो इतने ही रखे जायेंगे। यदि २० की आवश्यकता होगी तो उनकी संख्या २० भी कर दी जायगी। संविधान में यह कहा गया है कि मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रपति को मन्त्रणा देगी। क्या मन्त्रियों ने राष्ट्रपति को कोई मन्त्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नही की जा सकती। वास्तव में देश का शासन-प्रबन्ध चलाना प्रधान मन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों का कार्य है। राष्ट्रपति को उनके परामर्श की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि आवश्यकता हुई तो वह स्वयं उन्हें परामर्श दे सकता है। मन्त्रियों में कार्य का बटवारा राष्ट्रपति करता है। परन्तु इसमें भी वह प्रधान मन्त्री की राय के विरुद्ध नही जा सकता। कार्य रूप में प्रशासन का कार्य कोई भी व्यक्ति अथवा सभा करे परन्तु भारत सरकार की समस्त कार्यवाही राष्ट्रपति के नाम से की हुई कही जायगी।

संविधान के ७८ वें अनुच्छेद में प्रधान मन्त्री के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। उसके निम्नलिखित कर्तव्य ठहराये गये हैं:—

१—संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त निश्चयों तथा विधान के लिये प्रस्थापनायें (Proposals) राष्ट्रपति को पहुँचाना।

२—संघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी तथा विधान विषयक प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राष्ट्रपति मँगावे, उसको देना।

३—किसी विषय को, जिस पर किसी मन्त्री ने निश्चय कर दिया हो, किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार न किया हो, राष्ट्रपति की अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचार के लिये रखना।

मन्त्रि-परिषद् की शक्तियाँ

साधारण स्थिति में मन्त्रि-परिषद् के अधिकार बहुत ही अधिक हैं। राष्ट्रपति वैधानिक प्रधान है, इसलिये शासन कार्य चलाना मन्त्रि-परिषद् का ही कार्य है वह विभागों द्वारा अपने कार्यों का संचालन करती हैं। वाह्य और राजनीतिक, सेना, गृह, विधि, रेलवे और व्यापार उद्योग-धन्धे तथा मजदूर, शिक्षा स्वास्थ्य और भूमि, अर्थ आदि विभाग होते हैं। शासन की नीति यही निर्धारित करती है। विभागों में सहयोग रखना इसी का कार्य है। विधान मण्डल किस प्रकार की विधियों का निर्माण करे—इसका निर्णय वही करती है। सरकार की ओर से जो आवश्यक विधियाँ बनती हैं उनका विधेयक यही तैयार करती है। विधियों को पारित

कराने में उसे इसलिये कठिनाई नहीं होती कि लोकसभा में उसी के पक्ष का बहुमत होता है। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी विधि पारित नहीं हो सकती। मन्त्रि-परिषद् की वित्तीय शक्ति भी कम नहीं है। सरकार के आय-व्यय का वार्षिक विवरण वही तैयारी करती है। राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना कोई भी वित्तीय विधेयक लोकसभा में नहीं रखा जा सकता। इसका आशय यही है कि सभी वित्तीय विधेयक मन्त्रि-परिषद् की इच्छा से ही संसद् में रखे जाते हैं। राष्ट्र की वैदेशिक नीति का निर्णय यही करती है। तात्पर्य यह है कि शासन को संचालित करने में प्रधान केन्द्रीय शक्ति मन्त्रि-परिषद् है। मंत्री सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। लोक-सभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मन्त्रि-परिषद् को भंग कर सकती है।

सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) का अर्थ यह है कि एक मंत्री की त्रुटियों के लिये सम्पूर्ण मन्त्रि-परिषद् उत्तरदायी है। यदि लोक-सभा में एक मन्त्री की पराजय हो जाती है तो पूरा मन्त्रि-परिषद् पराजित समझा जाता है। एक मंत्री की आलोचना पूरे मंत्रि-परिषद् की आलोचना समझी जाती है। जब एक मंत्री कोई प्रस्थापना (Proposal) रखता है तो वह सरकार की प्रस्थापना समझी जाती है। मंत्रि-परिषद् उस प्रस्थापना को भले ही स्वीकार न करे, किन्तु उसकी गुरुता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। मंत्रि-परिषद् के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये सभी मंत्री सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं। यदि कोई मंत्री उस निर्णय से सहमत नहीं है तो उसे त्याग पत्र देना होगा। जब तक वह त्याग पत्र नहीं देता है तब तक उस निर्णय के विरुद्ध अपना विचार प्रकट नहीं कर सकता और न उसके विरुद्ध लोक-सभा में मत दे सकता है। सरकार की ओर से जो भी प्रस्थापन आता है, कोई मन्त्री उसके विरुद्ध मत नहीं दे सकता। सरकारी नीति के विरुद्ध कोई मंत्री वक्तव्य नहीं दे सकता। मत्रि-परिषद् के अन्य सदस्यों की मंत्रणा के बिना वह कोई ऐसा वक्तव्य नहीं दे सकता जिससे सरकार किसी भी प्रकार से वचन बद्ध होती है। सामूहिक उत्तरदायित्व का यह तात्पर्य नहीं है कि किसी मंत्री की भूल अथवा उसके अपने विभाग के कुशासन को मंत्रि परिषद् अपनी भूल स्वीकार करेगी। यदि एक या दो मंत्री घूसखोरी अथवा किसी अन्य बुराई के कारण कलंकित किये जाते हैं तो उनका दोषारोपण मंत्रि-परिषद् अपने ऊपर नहीं ले सकती। इसके लिये उन मंत्रियों को त्याग पत्र देने के लिये बाध्य किया जायगा। सामूहिक उत्तरदायित्व से एक बहुत बड़ा लाभ

है। सरकार का कार्य चाहे जितने व्यक्तियों द्वारा सम्पादित होता हो, सुशासन और व्यवस्था के लिये जनता के हित में किया जाता है। यदि दो चार सरकारी पदाधिकारियों की भूल अथवा दुर्बलताओं से सरकारी कार्य को क्षति पहुँचती है तो सरकार उन व्यक्तियों को ही पृथक् करेगी। शासन पर उनकी दुर्बलताओं का प्रभाव नहीं पड़ने देगी। भारतीय संविधान में सामूहिक उत्तरदायित्व की प्रणाली सर्वथा नवीन है। शासन की दृष्टि से यह प्रणाली बहुत ही उपयोगी है। जिन जिन देशों में इसका चलन है वहाँ की शासन व्यवस्था दृढ़ है।

उत्तरदायी शासन

जिस देश की कार्यपालिका विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है वहाँ का शासन उत्तरदायी कहलाता है। केन्द्रीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रि-परिषद् केन्द्रीय मन्त्रि-मंडल के प्रति और राज्य मन्त्रि-परिषद् राज्य के विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होती है। मन्त्रि-परिषद् के सदस्य विधान-मण्डल के सदस्य होते हैं। भारतीय संविधान में मन्त्रि-परिषद् की जो व्यवस्था की गई है वह बहुत ही स्पष्ट है। ब्रिटेन के शासन में कैबिनेट प्रथा जो भारतीय मन्त्रि-परिषद् से बहुत कुछ मिलती जुलती है, बहुत ही प्राचीन है। १९३७ ई० तक ब्रिटेन के संविधान में कैबिनेट का कोई उल्लेखन नहीं किया गया था और न वैधानिक दृष्टि से उसका कोई स्थान था। १९०५ ई० तक वहाँ प्रधान मन्त्री की पद्धति नहीं थी। जब यह पद निर्धारित किया गया तब उसके लिये कोई वेतन की व्यवस्था न थी। उसे ५ हजार पौंड जो वार्षिक वेतन दिया जाता था वह किसी दूसरे पद (First Lordship of the Treasury) के नाम से दिया जाता था। १९३७ में ही एक विधि द्वारा उसका वेतन १०००० पौंड वार्षिक निश्चित किया गया। तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन में कैबिनेट प्रथा अवैधानिक रूप से विकसित हुई है। भारतीय संविधान में इस प्रथा को आरम्भ से ही वैधानिक माना गया है। कनाडा के संविधान में भी,[1] जो भारतीय संविधान से बहुत कुछ मिलता जुलता है, मन्त्रियों का कोई उल्लेख नहीं है। केन्द्रीय तथा राज्य के विधान मंडलों के प्रति मंत्रियों के उत्तरदायित्व का भी कोई उल्लेख नहीं है। आस्ट्रेलिया तथा दक्षिण अफ्रीका के संविधान में मंत्रियों का उल्लेख किया गया है, परन्तु विधान मंडल के प्रति उनके उत्तरदायित्व की कोई चर्चा नहीं है। ब्रिटेन की तरह वहाँ भी मंत्रि-परिषद् की प्रथा अवैधानिक ही रखी गयी है। आयर्लैंड तथा फ्रांस के शासन विधान में मंत्रियों तथा विधान मंडल के प्रति उनके उत्तरदायित्व का उल्लेख किया गया है। अर्थात् भारतीय मंत्रि-परिषद्

बहुत कुछ इन्हीं दोनों देशों से मिलती जुलती है। ब्रिटेन के शासन की आलोचना करते हुए एक लेखक ने लिखा है कि, 'जो कुछ हमें संविधान में दिखाई पड़ता है वह वास्तविकता से भिन्न है।' भारतीय संविधान में इस तरह का कोई दोष नहीं है। मंत्रि-परिषद् की उपयोगिता और उसके उत्तरदायित्व की सीमा स्पष्ट रूप से उल्लिखित है।

भारतीय संविधान में मंत्रि-परिषद् के निर्माण की जो व्यवस्था की गई है उसमें एक बहुत बड़ा दोष है। संसद् के दूसरे सदन अर्थात् राज्य परिषद् में कुछ सदस्यों को मनोनीत करने की व्यवस्था की गई है। संसद् के पहले सदन अर्थात् लोक-सभा में संविधान के आरम्भ होने से १० वर्ष की कालावधि तक दो ऐंग्लोइन्डियन मनोनीत किये जायँगे। मंत्रि-परिषद् के सदस्य संसद् के सदस्यों में से ही नियुक्त होंगे। बहुत सम्भव है कि एक या दो मनोनीत सदस्य भी मंत्रि-परिषद् में सम्मिलित कर लिये जायँ। मनोनीत सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होंगे, इसलिये उनमें जनता का विश्वास न रहना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में यदि वे अपने उत्तरदायित्व को लोक-सभा के प्रति न समझे तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। इससे प्रजातंत्र के उद्देश्य में बाधा होगी और सामूहिक उत्तरदायित्व का धेय असफल होगा। यह आवश्यक नहीं है कि मनोनीत सदस्य मंत्री नियुक्त होने पर अन्य मंत्रियों के समान जनता के प्रीतिभाजन होंगे। इस प्रकार की कठिनाई आने पर क्या व्यवस्था होगी और इससे कौन सी परिपाटी बनेगी—इसका निर्णय संविधान के कुछ समय कार्यान्वित होने पर ही किया जा सकता है। सम्भव है मंत्रि-परिषद् में यही परिपाटी चलाई जाय कि मनोनीत सदस्यों को मंत्रि नियुक्त न किया जाय। इससे कठिनाई की कोई सम्भावना नहीं है और मत्रि परिषद् की लोकप्रियता बनी रहेगी।

अध्याय ८

संसद्

(Parliament)

भारतीय संविधान में केन्द्रीय विधान मंडल का नाम संसद् है। संसद् का संगठन और इसकी कार्य प्रणाली क्या है, इस पर विचार करने के पहले हमें यह भी जानना चाहिये कि वर्तमान समय में विधान मण्डल का कार्यक्षेत्र क्या है। उसे किन किन कार्यों को करने का अधिकार दिया गया है और वह अपने उत्तरदायित्व को किस प्रकार पूरा करता है। समय के प्रवाह में सरकारी संगठन का कार्य-क्षेत्र व्यापक होता गया है। एक साधारण पढ़ा लिखा व्यक्ति सरकारी कामों को देखकर यह परिणाम निकाल सकता है कि सरकार के कार्य बढ़े हुए हैं। सरकारी कर्मचारियों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ती जा रही है। नये नये विभाग खुलते हैं। कार्य की इस वृद्धि को पूरा करने के लिए सरकार ने अपने सभी कार्यालयों का समय एक घंटा और बढ़ा दिया है। न्यायालय, आरक्ष, शिक्षा कृषि, यातायात, निर्माण तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सरकारी कार्यों की वृद्धि की कोई सीमा नहीं है। सरकार अपना प्रत्येक कार्य विधान के अनुसार करती है। किसी कार्य को करने के पहले उस सम्बन्ध में विधि का निर्माण करना पड़ता है और उसे कार्यान्वित करने की व्यवस्था भी करनी पड़ती है। सरकारी कार्यों में विलम्ब होने का यह भी एक कारण है। विधि का निर्माण सरकार का एक प्रमुख कार्य है। इसी के बल पर कार्यपालिका शक्ति शासन की देख रेख करती है इसी के अनुसार न्यायालयों में अपराधियों को दंड दिया जाता है। इसी से सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार निश्चित किये जाते हैं। दो व्यक्तियां अथवा दो राज्यों में जब कोई संघर्ष होता है तो उसे शान्त करने का साधन भी यही है।

विधान मंडल का कार्यक्षेत्र

सरकारी कार्यों के मूल में सरकारी नियम अथवा विधियाँ हैं। इन्हीं का निर्माण करने के लिये विधान मण्डल की स्थापना की गई है। जब सामाजिक समस्याएँ कम थीं और सरकारी संगठन बहुत ही सरल था, उस

समय अन्य विभागों के अनुसार विधान मण्डल के कार्य भी सीमित थे। आवश्यकता पड़ने पर थोड़े से नियम बनाने के अतिरिक्त उसका कोई और कार्य न था। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के समय से लेकर भारत में ब्रिटिश राज्य की समाप्ति तक के वैधानिक विकास को देखते हुये यह ज्ञात होता है कि आरम्भ में विधान मण्डल कोई स्वतन्त्र विभाग न था। कार्यपालिका विधि-निर्माण का भी कार्य करती थी। कुछ समय पश्चात् एक विधि-सदस्य इस कार्य को करने लगा। जब विधियों का कार्य और बढ़ा तो गवर्नर जनरल कुछ व्यक्तियों को इस कार्य के लिये मनोनीत करने लगा। जब जनता में राजनीतिक चेतना बढ़ने लगी तब विधि बनाने का कार्य जनता के प्रतिनिधियों को दिया गया। तभी से विधान मण्डल का महत्व बढ़ने लगा है। प्रायः सभी स्वतन्त्र देशों में विधियों का निर्माण जनता के प्रतिनिधि ही करते हैं। भारत भी आज स्वतन्त्र है। इसके संविधान में जिस विधान मण्डल का निर्माण किया गया है वह जनता का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। समयानुसार उसका कार्य क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। विधान मण्डलों की यह शक्ति प्रायः सभी देशों मे समान रूप से बढ़ी है। आधुनिक युग में सरकार को विधियों की आवश्यकता अधिक पड़ती है। विधान मण्डल के सदस्यों को विधि निर्माण में अधिक समय लगाना पड़ता है। इसीलिये साधारण भत्ते के अतिरिक्त उन्हें मासिक वेतन देने की भी व्यवस्था की गई है। कहने के लिए ब्रिटेन में कामन सभा के सदस्यों को कोई वेतन नहीं दिया जाता, परन्तु प्रत्येक सदस्य की इच्छा पर है कि वह प्रति वर्ष ६००० रुपया ले ले। यह व्यवस्था इसीलिए की गई है कि सदस्य अधिक समय देकर विधि निर्माण का कार्य करें।

यद्यपि विधान मण्डल की स्थापना विधि निर्माण के लिये की गई है, परन्तु इसके अतिरिक्त उसके और भी कार्य हैं। राज्य के आय-व्यय पर उसका पूर्ण अधिकार होता है। जनता पर जब कोई कर लगाना होता है तो इसकी आज्ञा आवश्यक है। सरकार के विभिन्न मदों में जो सहायता दी जाती है, उसकी स्वीकृति यही देती है। मंत्रियों को नियुक्त करने, उन्हें निकालने तथा उनके कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार इसी को है। यद्यपि शासन के छोटे छोटे कार्यों को विधान मण्डल नहीं करता, परन्तु शासन की नीति यही निर्धारित करता है। प्रजातन्त्र देशों में यह सरकार को अपने अधिकार में रखता है। कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए इसी के प्रति उत्तरदायी होती है। वर्तमान समय में विधान मण्डल के कार्य इतने बढ़े हुये हैं कि हम उन्हे ३ श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :—

१—विधि निर्माण कार्य।

२—प्रशासन की नीति निर्धारित करना।

३—सरकारी आय-व्यय पर अधिकार रखना।

इन कर्तव्यों की पूर्ति के लिये उसे व्यापक अधिकार दिये गये हैं। विधान मण्डल का प्रत्येक सदस्य सरकार से शासन सम्बन्धी कोई प्रश्न पूछ सकता है। जब सरकार को यह किसी बात के लिये सावधान करना चाहता है तो उसी विषय से सम्बन्धित कोई प्रस्ताव पास करता है। यदि मंत्रि-परिषद् इसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करती है और उसकी टीका-टिप्पणी पर कोई ध्यान नहीं देती तो वह इसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है। जब कभी देश में कोई विशेष घटना उपस्थित हो जाती है और विधान मण्डल सरकार का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करना चाहता है तो वह सरकार को उस पर विचार करने के लिए बाध्य कर सकता है। विधान मण्डल की बैठक में पहला घंटा प्रश्न पूछने के लिये निर्धारित किया गया है। विधान मण्डल के सदस्य सरकार से इन प्रश्नों को पूछते हैं और मंत्रिगण इनका उत्तर देते हैं। यह प्रश्न सरकारी कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। इन्हीं के द्वारा सरकारी पदाधिकारियों के कार्यों की जाँच-पड़ताल की जाती है। इससे सरकारी पदाधिकारी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं। भारतीय विधान मण्डल को ये सभी अधिकार प्राप्त हैं। प्रशासन तथा अनुशासन की पूरी शक्ति इसे प्रदान की गई है। इसके संगठन से हम अनुभव करते हैं कि पूर्ण रूप से यह जनता का प्रतिनिधित्व करता है।

संसद् की विशेषता

भारतीय संविधान में जिस संसद् की व्यवस्था की गई है वह अपनी एक विशेषता रखती है। इसके निर्माण की व्यवस्था १९५१ ई० के बसन्त ऋतु में की जा रही है। इसके सदस्यों के निर्वाचन में भारत के सभी वयस्क स्त्री पुरुष को मतदान (Vote) का अधिकार दिया गया है। १७ करोड़ से भी कुछ अधिक व्यक्ति निर्वाचन में भाग लेंगे। यह सख्या अमेरिका तथा कनाडा की संयुक्त जनसंख्या से अधिक है। सोवियट रूस तथा अमेरिका में क्रम से १० करोड़ तथा ६ करोड़ मतदाता हैं। चीन की जनसंख्या भारत से अधिक है परन्तु वहाँ के नागरिकों को वयस्क मताधिकार प्राप्त नहीं है। मतदाताओं की इतनी बड़ी संख्या किसी भी देश में नहीं मिलती। संसद् का निर्वाचन विश्व का सबसे बड़ा निर्वाचन होगा। इतनी बड़ी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद् कोई दूसरी नहीं है।

इसके निर्वाचन की तैयारी इस वर्ष के आरम्भ से ही हो रही है । प्रमुख निर्वाचन कमिश्नर नियुक्त कर दिये गये हैं । मतदाता सूची तैयार करने के कार्य में शीघ्रता की जा रही है । संसद् का निर्वाचन भारतीय जनतंत्र के लिये सर्वथा नवीन है । कई शताब्दी के पश्चात् भारतीय जनता को यह अवसर प्राप्त हुआ है कि वह अपनी इच्छानुसार अपने शासकों का निर्वाचन करे । निर्वाचन का समय जितना ही निकट आरहा है, जनता में नवीन उत्साह और राजनीतिक भावना बढ़ रही है । गम्भीर विचारक यह सोचने लगे हैं कि शासन की बागडोर किन लोगों के हाथ में दी जाय, जिससे भारतीय समस्यायें हल हों ।

संसद् का संगठन

संसद् में दो सदनों का विधान बनाया गया है । राष्ट्रपति भी उसके साथ सम्मिलित किया गया है । कारण यह है कि दोनों सदनों की बैठक बुलाने, उसे स्थगित करने तथा पहले सदन को भंग करने का अधिकार उसी को प्रदान किया गया है । पहले सदन का नाम लोक-सभा (House of the People) और दूसरे सदन का नाम राज्य-परिषद् (Council of States) रखा गया है । दोनों सदनों की वर्ष में दो बैठक आवश्यक हैं । दो बैठकों के बीच में ६ महीने से अधिक का समय व्यतीत नहीं होना चाहिये ।

लोक-सभा (House of the People)

लोक सभा में अधिक से अधिक ५०० सदस्य होंगे । ये प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित किये जायँगे । निर्वाचन के लिये भारत के राज्यों का प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजन, वर्गीकरण या निर्माण किया जायगा । निर्वाचन क्षेत्र इस प्रकार बनाये जायेंगे, जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७५०००० जनसंख्या के लिये एक से कम सदस्य तथा प्रति ५००००० जनसंख्या के लिये एक से अधिक सदस्य न हो । विधि मंत्री डा० अम्बेदकर ने गत १२ अप्रैल को संसद् में जो जन प्रतिनिधित्व विधेयक उपस्थित किया था उसमें संसद् की लोक-सभा के लिए सीटों के निर्धारण की व्यवस्था दी गई है । उसमें यह कहा गया है कि ७२०००० जनता के लिये एक प्रतिनिधि के आधार पर सीटों का वितरण होगा । लोक-सभा की कुल सदस्य संख्या ४८८ निश्चित की गई है । लोक-सभा में विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या नीचे लिखे प्रकार से निर्धारित की गई है—उत्तर प्रदेश ८६, आसाम १२, बिहार ५५, बम्बई ४५, मध्य प्रदेश २६, मद्रास ७५, उड़ीसा २०,

पंजाब १८, पश्चिमी बंगाल ३४, हैदराबाद २५, जम्मू और काश्मीर ६, मध्यभारत ११, मैसूर ११, पटियाला संघ ५, राजस्थान २०, सौराष्ट्र ६, तिरुवांकुर कोचीन १०, विन्ध्य प्रदेश ५, दिल्ली ३, हिमांचल प्रदेश २, तथा अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, कच, मणिपुरत्रिपुरा तथा अंडमन नीकोबार में से प्रत्येक को १ सीट मिलेगी।

भारत राज्य क्षेत्र में समाविष्ट किन्तु किसी राज्य के अन्तर्गत न होने वाले राज्य-क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व लोक-सभा में वैसा होगा जैसा संसद् विधि द्वारा उपबन्धित करे। प्रत्येक जन गणना की समाप्ति पर लोक-सभा में विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति से और ऐसी तारीख से प्रभावी होने के लिये पुनः समायोजन किया जायगा जैसा संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे। लोक-सभा, यदि पहले ही विघटित न कर दी जाय तो, अपने प्रथम अधिवेशन के लिये नियुक्त तारीख से ५ वर्ष तक चालू रहेगी और इससे अधिक नहीं। ५ वर्ष की उक्त कालावधि समाप्त हो जाने पर इसका विघटन होगा। परन्तु उक्त कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है (During the period of Emergency), संसद्, विधि द्वारा, किसी कालावधि के लिये बढ़ा सकेगी, जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी। किसी भी अवस्था में उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् ६ मास की कालावधि से वह अधिक विस्तृत न होगी।

ऊपर कहा गया है कि लोक-सभा के सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के अनुसार होगा। जिसकी आयु २१ वर्ष से ऊपर है और जिसमें अपराध, मस्तिष्क विकार अथवा निवास सम्बन्धी अनर्हतायें (Disqualifications) नहीं हैं वह नागरिक मतदाता का अधिकारी होगा। अल्प संख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिये विशेष उपबन्ध बनाये गये हैं। अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes) के लिये, आसाम के आदिम जाति क्षेत्रों में की अनसूचित आदिम जातियों को छोड़कर आदिम जातियों के लिये तथा आसाम के स्वायत्त शासी जिलों में की अनुसूचित आदिम जातियों (Scheduled Tribes) के लिये लोक-सभा में स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। यदि राष्ट्रपति की राय में लोक-सभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो वह लोक-सभा में उस समुदाय के अधिक से अधिक दो सदस्य नाम-निर्देशित (Nominate) कर सकता है। किसी वर्ग के लिये यह विशेष संरक्षण संविधान के आरम्भ होने से केवल १० वर्ष तक प्रख्यापित रहेगा।

लोक-सभा का सदस्य होने के लिये कुछ अर्हतायें (Qualifications) भी निश्चित की गई हैं। सर्वप्रथम उस व्यक्ति को भारत का नागरिक होना चाहिये। कम से कम उसकी २५ वर्ष की आयु होनी चाहिये। संसद् समय समय पर विधि द्वारा और भी अर्हतायें निश्चित कर सकती है। जो व्यक्ति भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण किये हुए है, वह लोक-सभा का सदस्य नहीं हो सकता। यह प्रतिबन्ध इसलिये लगाया गया है, जिससे सरकारी कर्मचारी अपने पद पर रहते हुये निर्वाचन आदि के झगड़े में न पड़ें। इससे उनके कार्य में बाधा पड़ेगी। यदि वे विधान-मंडल का सदस्य बनना चाहते हैं तो अपने पद से त्यागपत्र देकर ऐसा कर सकते हैं। जो न्यायालय द्वारा विकृत चित्त घोषित किया गया है, अनुन्मुक्त दिवालिया है, किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर चुका है अथवा जिसकी अर्हतायें संसद् निमित्त किसी विधि के प्रतिकूल पड़ती हों, लोक-सभा का सदस्य नहीं हो सकता। संघ तथा राज्य के मंत्रियों को लाभ का पद धारण करने वाली अनर्हता से मुक्त कर दिया गया है। यदि लोक-सभा के किसी सदस्य के विषय में अनर्हता संबंधी कोई प्रश्न उठ जाय तो इसका निश्चय राष्ट्रपति करेगा और उसका निर्णय अन्तिम माना जायगा। ऐसे किसी प्रश्न पर विनिश्चय देने से पूर्व वह निर्वाचन आयोग (Election Commission) की राय लेगा और इसी के अनुसार कार्य करेगा। यदि वह अयोग्य सिद्ध हो जाता है तो उसे हटाकर उसका स्थान रिक्त कर दिया जायगा।

कोई व्यक्ति संसद् के दोनों सदनों का सदस्य न होगा। जो व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हुआ है उसके एक या दूसरे सदस्य के स्थान को रिक्त करने के लिये संसद् विधि द्वारा उपबन्ध बनायेगी। कोई व्यक्ति संसद् तथा किसी राज्य के विधान मंडल के किसी सदन का सदस्य न होगा। यदि कोई इन दोनों का सदस्य निर्वाचित कर लिया गया है तो किसी एक से त्यागपत्र देना होगा। अध्यक्ष को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा लोक-सभा का सदस्य अपने स्थान का त्याग कर सकता है। यदि लोक-सभा का कोई सदस्य ६० दिन की कालावधि तक इसकी अनुज्ञा के बिना उसके सब अधिवेशनों से अनुपस्थित रहे तो लोक-सभा उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगी। परन्तु ६० दिन की कालावधि की गणना में किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित न किया जायगा, जिसमें लोक-सभा सत्रावसित (Prorogue) अथवा निरन्तर ४ से अधिक दिनों के लिये स्थगित रही है। यदि लोक-सभा में इसके सदस्यों के अतिरिक्त

कोई अन्य व्यक्ति बैठता या मतदान करता है, तो वह प्रत्येक दिन के लिये, जब कि वह इस प्रकार बैठता है या मतदान करता है, ५०० रुपये के दंड का भागी होगा।

लोक-सभा का प्रत्येक सदस्य अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व, राष्ट्रपति के अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति के समक्ष शपथ लेगा या प्रतिज्ञान करेगा तथा उस पर हस्ताक्षर करेगा। इसमें वह भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने की प्रतिज्ञा करेगा। लोक-सभा यथा संभव शीघ्र अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) चुनेगी तथा जब जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तब तब सभा किसी अन्य सदस्य को यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी। अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि लोक-सभा का सदस्य नहीं रह जाता तो उसे अपना पद रिक्त कर देना होगा। अध्यक्ष उपाध्यक्ष को सम्बोधित करके तथा उपाध्यक्ष अध्यक्ष को सम्बोधित करके अपना पद त्याग सकते हैं। लोक-सभा के सदस्य बहुमत से पारित संकल्प द्वारा इन्हें अपने पद से अलग कर सकते हैं। इस अभिप्राय की सूचना कम से कम १४ दिन पहले दे देनी होगी। जब कभी लोक-सभा का विघटन किया जायगा तो विघटन के पश्चात् होने वाले लोक-सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त न करेगा। जब कि अध्यक्ष का पद रिक्त हो, तब उपाध्यक्ष, अथवा यदि उपाध्यक्ष का भी पद रिक्त हो तो, लोक-सभा का ऐसा सदस्य, जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। लोक-सभा की किसी बैठक से अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष, अथवा यदि वह भी अनुपस्थित हो तो, ऐसा अन्य व्यक्ति, जो सभा की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया जाय, अथवा, यदि ऐसा कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं हो तो, ऐसा अन्य व्यक्ति, जिसे सभा निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। लोक-सभा की किसी बैठक में, जब अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब अध्यक्ष, अथवा जब उपाध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब उपाध्यक्ष, उपस्थित रहने पर भी पीठासीन न होगा। जब अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प लोक-सभा में विचाराधीन हो तब उसको लोक-सभा में बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा किन्तु ऐसे संकल्प पर अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर उसे प्रथमतः ही मत देने का हक्क होगा किन्तु

मतसाम्य होने की दशा में न होगा। अध्यक्ष अथवा उसके रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति लोक-सभा में प्रथमतः मत न देगा, किन्तु मत साम्य की अवस्था में उसका निर्णायक मत होगा और वह उसका प्रयोग करेगा।

संसद् के दूसरे सदन का नाम राज्य-परिषद् है। राज्य-परिषद् एक स्थायी सदन होगा। इसका कभी विघटन (Dissolution) न होगा। इसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर यथासम्भव शीघ्र निवृत्त (Retire) हो जायँगे। राज्य-परिषद् में अधिक से अधिक २५० सदस्य होंगे। इन सदस्यों में से २३८ विभिन्न राज्यों से निर्वाचित होकर आयेंगे और शेष १२ को राष्ट्रपति नाम निर्देशित (Nominate) करेगा। राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित किये जाने वाले सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा के विषय में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनभव है। आसाम, उड़ीसा, पजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तरप्रदेश, जम्बू और काश्मीर, तिर्वांकुर-कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब संघ, मध्य भारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद के प्रतिनिधि प्रत्येक राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यो द्वारा अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा निर्वाचित होंगे। अजमेर, कच्छ, कूचबिहार, कुर्ग, त्रिपुरा, दिल्ली, बिलासपुर, भोपाल, मनीपुर तथा हिमांचल प्रदेश के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायेगे जैसी संसद् विधि द्वारा विहित करे। इन राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या नीचे लिखे प्रकार से निश्चित की गई है। आसाम-६, बिहार-२१, बम्बई-१७, मध्यप्रदेश-१२, मद्रास-२७, उड़ीसा-६, पंजाब-८, उत्तरप्रदेश-३१, पश्चिमी बंगाल-१४, हैदराबाद-११, जम्मू और काश्मीर-४, मध्य भारत-६, मैसूर-६, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य-संघ-३, राजस्थान-६, सौराष्ट्र-४, तिर्वांकुर-कोचीन-६, विन्ध्य प्रदेश-४, अजमेर और कुर्ग-१, भोपाल-१, बिलासपुर और हिमाचल प्रदेश-१, कूचबिहार-१, दिल्ली १, कच्छ-१, मनीपुर और तिपुरा-१।

राज्य-परिषद्
(Council of States)

भारत का उपराष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद् का सभापति (Chairman) होगा। राज्य-परिषद् यथा संभव शीघ्र अपने किसी सदस्य को अपना उपसभापति (Deputy Chairman) चुनेगी और जब जब उपसभापति का पद रिक्त हो तब तब किसी अन्य सदस्य को उपसभापति चुनेगी। उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि परिषद् का

सदस्य नहीं रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा। सभापति को सम्बोधित कर किसी भी समय अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा वह अपना पद त्याग सकता है। परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित परिषद् के संकल्प द्वारा वह अपने पद से हटाया जा सकता है। परन्तु उसे पृथक् करने का संकल्प कम से कम १४ दिन पहले प्रस्तावित होना चाहिये। जबकि सभापति का पद रिक्त हो, अथवा किसी कालावधि में जबकि उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो अथवा उसके कृत्यों का निर्वहन कर रहा हो, तब उपसभापति अथवा, यदि उपसभापति का भी पद रिक्त हो तो, राज्य-परिषद् का ऐसा सदस्य जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। राज्य-परिषद् की किसी बैठक में, सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति, अथवा यदि वह अनुपस्थित है तो, ऐसा व्यक्ति, जो परिषद् की प्रक्रिया के नियमों द्वारा निर्धारित किया जाय, अथवा, यदि ऐसा कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं है तो, ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे परिषद् निर्धारित करे, सभापति के रूप में काम करेगा। राज्य-परिषद् की किसी बैठक में, जब उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब सभापति, अथवा जब उपसभापति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब उपसभापति, उपस्थित रहने पर भी, पीठासीन न होगा। जब उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प राज्य-परिषद् में विचाराधीन हो तब सभापति को परिषद् में बोलने तथा दूसरी प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा, किन्तु ऐसे संकल्प पर, अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर, उसे मत देने का बिल्कुल हक न होगा।

राज्य-परिषद् के सभापति और उपसभापति को, तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को, ऐसे वेतन और भत्ते दिये जाँयगे जैसे संसद् विधि द्वारा नियत करे। जब तक संसद् ऐसा नहीं करती है तब तक उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जाँयगे जैसे कि भारत डोमीनियन की संविधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले दिये जाते थे। लोक-सभा के सदस्यों की तरह राज्य-परिषद् के सदस्यों के लिये भी कुछ अर्हतायें निश्चित की गई हैं। उसे भारत का नागरिक होना चाहिये। उसकी आयु कम से कम ३० वर्ष की होनी चाहिये तथा उसमें वे सब योग्यतायें होनी चाहिये, जिसे संसद् समय समय पर निश्चित करे। इसके सदस्यों के लिये वही अनर्हताएँ होंगी जो लोक सभा के सदस्यों के लिये

ठहराई गई हैं। राज्य-परिषद् की कार्य प्रणाली उसी प्रकार की होगी जैसी लोक सभा की। अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व राज्य-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रपति के अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति के समक्ष शपथ ग्रहण करनी होगी।

संसद् का सचिवालय

संसद् के प्रत्येक सदन का अपना पृथक् साचिविक कर्मचारी वृन्द होगा। संसद्, विधि द्वारा संसद् के प्रत्येक सदन के साचिविक कर्मचारी वृन्द के भर्ती का, तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकेगी। जब तक संसद् उपबन्ध नहीं करती तब तक राष्ट्रपति, यथास्थिति, लोक सभा के अध्यक्ष से या राज्य-परिषद् के सभापति से परामर्श करके लोक सभा के या राज्य-परिषद् के साचिविक कर्मचारी वृन्द में भर्ती के, तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों के, विनियमन के लिये नियमों को बना सकेगा।

संसद् के सदस्यों को सुविधायें

संसद् के नियमों और स्थायी आदेशों के अधीन रहते हुए संसद् में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। संसद् या उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिये हुए मत के विषय में संसद् के किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध, संसद् के किसी सदन के प्राधिकार के द्वारा या अधीन किसी प्रतिवेदन, पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के विषय में इस प्रकार की कोई कार्यवाही चल सकेगी। अन्य बातों में संसद् के प्रत्येक सदन की तथा प्रत्येक सदन के सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ विशेषाधिकार और उन्मुक्तिया ऐसी होंगी जैसी, संसद्, समय-समय पर, विधि द्वारा परिभाषित करे। जब तक वे इस प्रकार परिभाषित नहीं की जातीं, तब तक वे ही होंगी जो इस संविधान के प्रारम्भ पर ब्रिटिश पार्लियामेंट के कामन सभा की तथा उसके सदस्यों और समितियों की हैं। संसद् के प्रत्येक सदन के सदस्यों को ऐसे वेतन तथा भत्ते दिये जायँगे जिन्हे संसद् समय समय पर विधि द्वारा निर्धारित करे। जब तक वह ऐसा उपबन्ध नहीं करती तब तक भत्तों की दर और शर्तें वही होंगी जैसी कि भारत डोमीनियन की संविधान सभा के सदस्यों को इस संविधान के प्रारंभ से ठीक पहले लागू थी। संसद् के सदस्यों को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वे उन व्यक्तियों को भी प्राप्त होंगे जो उसके सदस्य नहीं होंगे, किन्तु जो उसकी समितियों में विशेषज्ञ के रूप में भाग लेंगे।

संसद् की कार्य पद्धति

धन-विधेयक तथा अन्य वित्तीय विधेयक के अतिरिक्त कोई विधेयक संसद् के किसी सदन में आरम्भ हो सकेगा। धन-विधेयक अथवा अन्य कोई भी वित्तीय विधेयक केवल लोक-सभा में आरम्भ होगा। कोई विधेयक संसद् के सदनों द्वारा तब तक पारित न समझा जायगा जब तक कि, या तो बिना संशोधन के या केवल ऐसे संशोधनों के सहित, जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर लिये गये हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो। संसद् में लम्बित (Pending) विधेयक सदनों के सत्रावसान (Prorogue) के कारण व्यपगत (Lapse) न होगा। राज्य-परिषद् में लम्बित विधेयक, जिसको लोक-सभा ने पारित (Pass) नहीं किया है, लोक-सभा के विघटन पर व्यपगत न होगा। कोई विधेयक, जो लोकसभा में लम्बित है, अथवा, जो लोक-सभा से पारित होकर राज्य-परिषद् में लम्बित है, लोक-सभा के विघटन पर व्यपगत हो जायगा। यदि किसी विधेयक के एक सदन में पारित होने तथा दूसरे सदन को पहुँचाये जाने के पश्चात्—

(क) दूसरे सदन द्वारा वह विधेयक अस्वीकृत कर दिया जाता है;

(ख) अथवा विधेयक में किये जाने वाले संशोधनों पर दोनों सदन अन्तिम रूप से असहमत हो चुके हैं; अथवा

(ग) विधेयक-प्राप्ति की तारीख से, बिना इसको पारित किये, दूसरे सदन को ६ मास से अधिक बीत चुके हैं,

तो लोक-सभा के विघटन होने के कारण यदि विधेयक व्यपगत नहीं हो गया है, तो विधेयक पर पर्यालोचन (Deliberation) करने और मत देने के प्रयोजन के लिये संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिये आहूत करने के अभिप्राय की अधिसूचना (Notification) सदनों को, यदि वे बैठक में हैं तो सन्देश द्वारा, अथवा यदि बैठक में नहीं हैं तो लोक अधिसूचना द्वारा, राष्ट्रपति देगा। परन्तु यह बात किसी धन-विधेयक को लागू न होगी। ६ मास की कालावधि की गणना में किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित न किया जायगा जिसमें उपर्युक्त (ग) खण्ड में निर्दिष्ट सदन सत्रावसित अथवा निरन्तर ४ से अधिक दिनों के लिये स्थगित रहता है। जब राष्ट्रपति सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशन के लिये आहूत करने के अभिप्राय को अधिसूचित कर चुका हो, तो कोई सदन विधेयक पर आगे कार्यवाही न करेगा। यदि सदनों की संयुक्त बैठक में विधेयक ऐसे संशोधनों सहित, जिनको संयुक्त बैठक में स्वीकार कर लिया

गया है, दोनों सदनों के उपस्थित तथा मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है, तो इस संविधान के प्रयोजनों के लिये वह दोनों सदनों से पारित समझा जायगा। परन्तु संयुक्त बैठक में यदि विधेयक एक सदन से पारित होकर दूसरे सदन द्वारा संशोधनों सहित पारित नहीं किया गया है तथा उस सदन को, जिसमें वह आरम्भित हुआ था, लौटा नहीं दिया गया है तो ऐसे संशोधनों के सिवाय, जो विधेयक के पारण में देरी के कारण आवश्यक हो गये हैं, विधेयक पर कोई और संशोधन प्रस्थापित न किया जायगा। यदि विधेयक इस प्रकार पारित और लौटाया जा चुका है तो विधेयक पर केवल ऐसे संशोधन, जैसे ऊपर कथित हैं, तथा ऐसे अन्य संशोधन, जो उन विषयों से सुसंगत हैं जिन पर सदनों में सहमति नहीं हुई है, प्रस्थापित किये जायेंगे। पीठासीन व्यक्ति का विनिश्चय, कि इस खण्ड के अधीन कौन से संशोधन प्रवेश्य हैं, अंतिम होगा। सदनों को संयुक्त बैठक में अधिवेशित होने के लिये आहूत करने के अभिप्राय की राष्ट्रपति की अधिसूचना के पश्चात्, यद्यपि लोक-सभा का विघटन बीच में हो चुका है तो भी, संयुक्त बैठक हो सकेगी तथा उसमें विधेयक पारित हो सकेगा।

संसद् का प्रत्येक सदन अपनी प्रक्रिया के, तथा अपने कार्य संचालन के, विनियमन के लिये नियम बना सकेगा। राज्य-परिषद् के सभापति और लोक-सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति दोनों सदनों की संयुक्त बैठकों सम्बन्धी, तथा उनमें परस्पर संचार सम्बन्धी, प्रक्रिया के नियम बना सकेगा। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में लोक-सभा का अध्यक्ष अथवा उसकी अनुपस्थित में ऐसा व्यक्ति पीठासीन होगा जिसका राष्ट्रपति द्वारा बनाई प्रक्रिया के नियमों के अनुसार निर्धारण हो। संसद् अपना सब कार्य हिन्दी या अँग्रेजी में करेगी। परन्तु यथास्थिति राज्य-परिषद् का सभापति या लोक-सभा का अध्यक्ष अथवा ऐसे रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को, जो हिन्दी या अँग्रेजी में अपना विचार स्पष्ट नहीं कर सकता, अपनी मातृभाषा में सदन को सम्बोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को हटाने की चर्चा के अतिरिक्त कोई और चर्चा संसद् में ऐसे किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्य पालन में किये गये आचरण के विषय में न होगी। प्रक्रिया में किसी कथित अनियमिता के आधार पर संसद् को किसी कार्यवाही को मान्यता पर कोई आपत्ति न की जायगी। संसद् का कोई पदाधिकारी या सदस्य, जिसमें इस संविधान के द्वारा या अधीन संसद् में प्रक्रिया को,

या कार्य संचालन को, विनियमन करने की, अथवा व्यवस्था रखने की, शक्तियाँ निहित हैं, उन शक्तियों के अपने द्वारा किये गये प्रयोग के विषय में किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन न होगा। अर्थात् किसी न्यायालय को संसद् की कार्यवाहियों की जाँच करने का अधिकार नहीं है।

वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure)

वित्तीय प्रक्रिया अन्य विषयों से कुछ भिन्न है। राज्य-परिषद् में धन विधेयक पुरःस्थापित (Introduce) न किया जायगा। लोक-सभा से पारित हो जाने के पश्चात्, धन विधेयक, राज्य-परिषद् को उसकी सिफारिशों के लिये पहुँचाया जायगा। राज्य-परिषद् विधेयक की अपनी प्राप्ति की तारीख से १४ दिन की कालावधि के भीतर, विधेयक को अपनी सिपारिशों सहित लोक-सभा को लौटा देगी। लोक-सभा को अधिकार होगा कि वह राज्य-परिषद् की सिपारिशों में से सब को या किसी को स्वीकार या अस्वीकार करे। यदि राज्य-परिषद् की सिपारिशों में से किसी को लोक-सभा स्वीकार कर लेती है तो धन-विधेयक राज्य-परिषद् द्वारा सिपारिश किये गये तथा लोक-सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा। यदि राज्य-परिषद् की सिपारिशों में से किसी को भी लोक-सभा स्वीकार नहीं करती है तो धन-विधेयक, राज्य-परिषद् द्वारा सिपारिश किये गये संशोधनों में से किसी के बिना उस रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा जिसमें कि वह लोक-सभा द्वारा पारित किया गया था। यदि लोक-सभा द्वारा पारित तथा राज्य-परिषद् को उसकी सिपारिशों के लिये पहुँचाया गया धन-विधेयक १४ दिन की कालावधि के भीतर लोक-सभा को लौटाया नहीं जाता तो उक्त कालावधि की समाप्ति पर यह दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जायगा जिसमें लोक-सभा ने उसको पारित किया था।

इस विषय में सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि अमुक विधेयक वित्तीय है अथवा नहीं। इसके निवारण के लिये कुछ विशेष उपबन्ध बनाये गये हैं। जिस विधेयक में निम्नलिखित बातें पायी जायँ वह धन-विधेयक माना जायगा :—

१—किसी कर का आरोपण, उत्सादन (Abolition) परिहार, बदलना या विनियमन ;

२—भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का, अथवा कोई प्रत्याभूति (Guarantee) देने का, अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गये

अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारों से सम्बद्ध विधि के संशोधन करने का, विनियमन ;

३—भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से धन का निकालना ;

४—भारत की संचित निधि में से धन का विनियोग (Appropriation);

५—किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की शक्ति को बढ़ाना ;

६—भारत की संचित निधि के या भारत के लोक-लेखे (Public Account) के मध्ये धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना अथवा संघ या राज्य की लेखाओं का लेखा-परीक्षण (Audit) ; अथवा

७—उपर्युक्त विषयों में से किसी का आनुषंगिक कोई विषय।

कोई विधेयक केवल इस कारण से धन विधेयक न समझा जायगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थ-दण्डों के आरोपण का, अथवा अनुज्ञप्तियों के लिये फीसों की, अथवा की हुई सेवाओं की फीसों की अभियाचना या देने का, उपबन्ध करता है, अथवा इस कारण से कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय (Body) द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिये किसी कर के आरोपण, उत्सादन, परिहार, बदलने या विनियमन का उपबन्ध करता है। यदि यह प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक-सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा। जब कोई धन-विधेयक राज्य-परिषद् को भेजा जाता है तथा जब वह अनुमति के लिये राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जाता है तब प्रत्येक धन-विधेयक पर लोक-सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाण अंकित रहेगा कि वह धन-विधेयक है। जब संसद् के सदनों द्वारा कोई विधेयक पारित कर दिया गया हो तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जायगा और राष्ट्रपति घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है। राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह उस विधेयक को, यदि वह धन-विधेयक नहीं है तो, सदनों को संदेश के साथ पुनः विचार के लिये शीघ्र लौटा दे। यदि विधेयक सदनों द्वारा संशोधन सहित या रहित पुनः पारित हो जाता है तथा राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिये रखा जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति न रोकेगा।

वार्षिक वित्त विवरण

बृटिश पद्धति के अनुसार वित्तीय वर्ष पहली अप्रैल से आरम्भ होता है और ३१ मार्च को समाप्त होता है। यही पद्धति अभी तक स्वतन्त्र भारत में भी चालू है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में संसद् के दोनों सदनों के समक्ष राष्ट्रपति भारत सरकार की उस वर्ष के लिये प्राक्कलित प्राप्तियों (Estimated Receipts) और व्यय का विवरण रखवायेगा जिसे संविधान में "वार्षिक-वित्त-विवरण" कहा गया है। इस विवरण में भारत की संचित निधि पर भारित व्यय तथा अन्य प्रस्थापित व्यय की राशियाँ पृथक् पृथक् दिखाई जायँगी तथा राजस्व लेखे पर होने वाले व्यय का अन्य व्यय से भेद किया जायगा। निम्नलिखित व्यय भारत की संचित निधि पर भारित व्यय होगा :—

१—राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय ;

२—राज्य-परिषद् के सभापति और उपसभापति तथा लोक-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते ;

३—ऐसे ऋण भार जिनका दायित्व भारत सरकार पर है, जिनके अन्तर्गत व्याज, निक्षेप-निधि भार (Sinking Fund Charges) और मोचन भार (Redemption Charges) तथा उधार लेने और ऋण-सेवा (Raising of loans and the Services) और ऋण-मोचन (Redemptions of debt) सम्बन्धी अन्य व्यय भी हैं ;

४—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृत्ति-वेतन (Pension) ;

५—फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले निवृत्ति-वेतन;

६—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को दिये जाने वाले निवृत्ति-वेतन ;

७—भारत के नियंत्रक—महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) को दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और निवृत्ति-वेतन ;

८—किसी न्यायालय या मध्यस्थ—न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति (Decree), या पंचाट (Award) के भुगतान के लिये अपेक्षित कोई राशियाँ ;

९—इस संविधान द्वारा, अथवा संसद् से विधि द्वारा, इस प्रकार भारित घोषित किया गया कोई अन्य व्यय।

भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से सम्बद्ध प्राक्कलनें (Estimates) संसद् में मतदान के लिये न रखी जायँगी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि संसद् के किसी सदन में इन प्राक्कलनों पर कोई चर्चा ही न होगी। उपर्युक्त प्राक्कलनों में से जितनी अन्य व्यय से सम्बद्ध हैं वे लोक-सभा के समक्ष अनुदानों (Grants) की माँगों के रूप में रखी जायँगी तथा लोक-सभा को शक्ति होगी कि किसी माँग को स्वीकार या अस्वीकार करे अथवा किसी माँग को, उसमें उल्लिखित राशि को कम करके स्वीकार करे। राष्ट्रपति की सिपारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग न की जायगी। लोक-सभा द्वारा अनुदान किये जाने के बाद यथासंभव शीघ्र भारत की संचित निधि में से व्यय की पूर्ति के लिये अपेक्षित सब धनों के विनियोग (Appropriation) के लिये विधेयक पुरःस्थापित (Introduce) किया जायगा। इस प्रकार किये गये किसी अनुदान की राशि में फेर फार करने अथवा उसके लक्ष्य को बदलने वाला कोई संशोधन संसद् के किसी सदन में प्रस्थापित न किया जायगा। संसद् में इस प्रकार पारित विधि द्वारा किये गये विनियोग के अधीन निकालने के अतिरिक्त भारत की संचित निधि में से कोई और धन निकाला न जायगा।

यदि किसी विधि द्वारा किसी विशेष सेवा पर चालू वित्तीय वर्ष के लिये व्यय किये जाने के लिये प्राधिकृत (Authorised) कोई राशि उस वर्ष के प्रयोजनों के लिये अपर्याप्त पाई जाती है अथवा जब उस वर्ष के वार्षिक-वित्त-विवरण में अपेक्षित न की गई किसी नई सेवा पर अनुपूरक (Supplementary) अथवा अपर (Additional) व्यय की चालू वित्तीय वर्ष में आवश्यकता पैदा हो गई है; अथवा किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर, उस सेवा और उस वर्ष के लिये, अनुदान (Grant) की गई राशि से अधिक कोई धन व्यय हो गया है, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों के समक्ष उस व्यय की प्राक्कलित (Estimate) की गई राशि को दिखाने वाला दूसरा विवरण रखवायेगा अथवा लोक-सभा में ऐसी अधिकाई के लिये माँग उपस्थित करायेगा। जो अनुदान जिन प्रयोजनों के लिये किये गये हैं उनके लिये भारत की संचित निधि में से धन निकालना विधि द्वारा प्राधिकृत करने की शक्ति ससद् को होगी। जिस विधेयक के अधिनियमित किये जाने और प्रवर्तन में लाने पर भारत की संचित निधि से व्यय करना पड़ेगा वह विधेयक संसद् के किसी सदन द्वारा तब तक पारित न किया जायगा जब तक कि ऐसे विधेयक पर विचार करने के लिये उस सदन से राष्ट्रपति ने सिपारिश न की हो।

उपसंहार

भारतीय संविधान में नागरिक के मौलिक अधिकारों को हर प्रकार से सुरक्षित रखा गया है। जनता के प्रतिनिधियों तक को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वे किसी ऐसी विधि का निर्माण करें जो उन अधिकारों के विरुद्ध हो। संसद् द्वारा निर्मित विधि को न्याय की कसौटी पर कसने के लिये न्यायालयों को अधिकार दिया गया है। भारतीय न्यायालय संसद् के किसी अधिनियम (Act) को अवैधानिक घोषित कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी इसी तरह की व्यवस्था की गई है। इससे संसद् के सदस्य अपने बहुसंख्या पक्ष का अनुचित लाभ नहीं उठा सकते। कोई भी विधि बनाने में वे बहुत ही सोच विचार से कार्य करेंगे। कार्यपालिका विभाग के अधिकारी संसद् के बहुमत पक्ष का सहारा लेकर नागरिक स्वतन्त्रता पर कुठाराघात नहीं कर सकते। बृटेन के शासन विधान में न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त नहीं है। वह पार्लियामेंट के किसी नियम को अवैधानिक घोषित नहीं कर सकता। भारतीय संविधान का निर्माण हुए अभी कुछ ही महीने हुए हैं, परन्तु इसके कुछ अनुच्छेद उच्च न्यायालयों द्वारा अवैधानिक घोषित कर दिये गये हैं। कुछ व्यक्तियों की नजरबन्दी को लेकर उनमें यह प्रश्न उठाया गया है कि यह वैधानिक नहीं है। यदि उच्चतम न्यायालय ने भी अपना यही निर्णय दिया तो संविधान के इस विषय में परिवर्तन करना होगा।

आर्थिक क्षेत्र में राज्य-परिषद् के अधिकार बहुत ही सीमित हैं। किसी अनुदान के सम्बन्ध में वह अपनी प्रभावी राय नहीं दे सकती। लोक-सभा को पूर्ण अधिकार है कि धन-विधेयक (Money Bill) में किये गये उसके सभी संशोधनों को अस्वीकृत कर दे। राज्य-परिषद् किसी धन-विधेयक को अधिक दिन विचाराधीन नहीं रख सकती। उसकी यह शक्ति भी सीमित कर दी गई है। ऐसे विधेयक को वह १४ दिन से अधिक नहीं रोक सकती। दोनों सदनों का संगठन इस सिद्धान्त के आधार पर किया गया है जिससे राज्य और राष्ट्र दोनों के प्रतिनिधि इनमें आ जायँ। लोक-सभा के सदस्य राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं। अर्थात् जनता प्रत्यक्ष रूप से उनका निर्वाचन करेगी। कम से कम ७५०००० जनसंख्या के लिये एक प्रतिनिधि अवश्य होगा। राज्य-परिषद् में राज्यों के प्रतिनिधि होंगे। इसके सदस्य राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा निर्वाचित किये जायँगे। विभिन्न राज्यों के सदस्यों की संख्या उनकी जनसंख्या के आधार पर निश्चित की गई है। राज्य-परिषद के सीमित अधिकारों की तुलना ब्रिटेन

की लार्ड-सभा से की जा सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पहले (House of Representative) और दूसरे (Senate) सदन को आर्थिक क्षेत्र में समान शक्ति प्रदान की गई है।

आर्थिक विषयों को छोड़कर शेष बातों में राज्य-परिषद् और लोक-सभा के अधिकार समान हैं। जब कभी दोनो सदनों में किसी विषय पर मतभेद होगा तो दोनों की सम्मिलित बैठक की व्यवस्था की गई है। सम्मिलित बैठक में बहुमत का निर्णय मान्य होगा। लोक-सभा के सदस्यों की संख्या अधिक होने के कारण उसका पक्ष सम्मिलित निर्वाचन में सदैव विजयी होगा। प्राय. सभी प्रजातन्त्र देशों में प्रधान कार्यपालिका शक्ति को विधान-मंडल के किसी भी विधान को रद्द (Veto) करने का अधिकार प्राप्त है। ब्रिटेन के संविधान में सम्राट् को यह अधिकार दिया गया है। वह पार्लियामेंट द्वारा निर्मित किसी भी विधि को रद्द कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को भी यह अधिकार दिया गया है। परन्तु उसकी यह शक्ति सीमित कर दी गई है। उसके द्वारा रद्द की गई किसी विधि को वहाँ का केन्द्रीय विधान-मंडल (Congress) दो तिहाई बहुमत से पुनः पारित (Pass) कर सकता है। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति को विधियों के रद्द करने की जो शक्ति दी गई है वह अमेरिका के राष्ट्रपति से भी कम है। यदि भारतीय राष्ट्रपति किसी विधि को रद्द कर देता है तो वह संसद् द्वारा साधारण बहुमत से पुनः पारित किया जा सकता है। इससे राष्ट्रपति की यह शक्ति नगण्य है। यहाँ संसद् की प्रधानता स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

अध्याय ९

राज्यों का निर्माण

ब्रिटिश शासन में

मध्यकाल के भारतीय इतिहास को देखने से पता चलता है कि सम्पूर्ण भारत सूबों में विभाजित किया गया था। अकबर के शासन काल में १५ सूबे थे। औरंगजेब के शासन काल में इनकी संख्या और भी अधिक होगई थी। जागीरदारी की प्रथा मुगलकाल में प्रचलित थी। नव्वाबों तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को सरकार की ओर से जागीर देने की प्रथा थी। इसी से रियासतों की नीव पड़ी। ब्रिटिश काल में सम्पूर्ण देश दो प्रकार के राजनीतिक विभागों में बाँटा गया था। एक भाग में गवर्नरों तथा चीफ कमिश्नरों के सूबे थे और दूसरे में देशी रियासतें थीं। सूबों की कुल संख्या १७ थी, जिनमें ११ गवर्नरों के सूबे और ६ चीफ कमिश्नरों के सूबे थे। कुछ सूबों के विधान मडल में दो सदन थे और कुछ में एक ही। सूबों का विभाजन वैज्ञानिक नहीं था। उनकी सीमा निर्धारित करते समय भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा भाषा सम्बन्धी परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया था। ब्रिटिश सरकार को भारत जीतने में लगभग एक शताब्दी व्यतीत करने पड़े थे। जो स्थान जब अधिकार में आया वह किसी निकट के प्रान्त में सम्मिलित कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार को इतना अवसर न था कि वह शान्ति पूर्वक बैठ कर इनका वैज्ञानिक विभाजन करती। जो मकान कई वर्षों में टुकड़े टुकड़े करके बनता है वह उतना अच्छा नहीं होता जितना एक निश्चित अवधि के अन्दर एक नकशे के अनुसार बनाया हुआ मकान होता है।

यदि ब्रिटिश सरकार भारत को एक साथ विजय किये होती तो प्रान्तों का विभाजन किसी और तरह से किया गया होता। परन्तु वह ऐसा न कर सकी। जो जिले किसी एक प्रान्त में सम्मिलित होने चाहिये थे वे किसी दूसरे प्रान्त में सम्मिलित किये गये थे। शासन की सुविधा का ध्यान रखते हुए सरकार को ऐसा करना पड़ा था। सिंध को १८३६ ई० में विजय किया गया और उसे बम्बई प्रान्त में इसीलिये सम्मिलित

कर दिया गया कि वह उसके निकट पड़ता था। राजनीतिक विभाजन में बृटिश सरकार की नीति देश के कई टुकड़े करने की थी। इसीसे वह अपने अधिकार को दृढ़ करना चाहती थी। बृटिश काल में बंगाल प्रान्त की जन-संख्या सबसे अधिक थी। क्षेत्रफल में मद्रास प्रान्त सब से बड़ा था। १९३५ के संघ-शासन-विधान के अनुसार भारत में कुल १७ सूबे बनाये गए थे। सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग कर दिया गया था। मद्रास, मध्य प्रदेश तथा बिहार उड़ीसा के कुछ भागों को लेकर एक नया उड़ीसा प्रान्त बनाया गया था।

दूसरे राजनीतिक विभाग में देशी रियासतें थीं। इनकी संख्या ५६२ थी। इनमें १२६ बड़ी रियासतें थीं और ३०० छोटी छोटी रियासतें थीं। रियासतों का कुल क्षेत्रफल ७१२५०८ वर्गमील और इनकी जनसंख्या ८१३१०८४५ थी। ४१४ रियासतों का क्षेत्रफल १००० वर्गमील से भी कम था। ३७६ रियासतें ऐसी थीं जिनकी वार्षिक आय एक लाख से कम थी। राजपूताने की कुछ रियासतों का क्षेत्रफल १९ वर्गमील भी न था। १५ रियासतों का क्षेत्रफल एक वर्गमील से कम था। २७ रियासतों का क्षेत्रफल एक वर्गमील था। कुछ रियासतों की जनसंख्या १०० से भी कम थी और उनकी वार्षिक आय १०० रुपये के लगभग थी। एक रियासत का क्षेत्रफल केवल ३० एकड़ था। परन्तु कुछ रियासतें ऐसी थी जो योरप के बड़े बड़े स्वतन्त्र देशों से भी लम्बी चौड़ी थीं। हैदराबाद का क्षेत्रफल इटली के बराबर था और इसकी जनसंख्या १ करोड़ ४० लाख से ऊपर थी। इसका क्षेत्रफल जापान से केवल ८००० वर्ग-मील कम था। काश्मीर का क्षेत्रफल ग्रेटब्रिटेन से कुछ ही कम था। मैसूर का क्षेत्रफल डेनमार्क के दूने के लगभग था। ये रियासतें कई समूहों में विभक्त की गई थीं। भौगोलिक, राजनीतिक और शासन प्रबन्ध की दृष्टि से इनमें काफी अन्तर था। पंजाब की ३४ रियासतें एक समूह में रखी गई थीं। उत्तर प्रदेश में केवल ३ रियासतें थीं। बिहार और उड़ीसा में २६ रियासतों का एक अलग समूह था। बंगाल में २ और आसाम में केवल मनीपुर की रियासत थी। २०६ रियासतों का एक दूसरा समूह वेस्टर्न इन्डियन स्टेटस् ऐजन्सी के नाम से प्रसिद्ध था। राजपूताने में २१ रियासतों का एक अलग समूह था। मध्य भारतीय रियासतों में ९० रियासतें थीं। बम्बई में १५१ रियासतों का एक दूसरा समूह था। दक्षिण में भारत की सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद थी। इसके बाद मैसूर की दूसरी बड़ी रियासत थी। सुदूर दक्षिण में कोचीन

और ट्रावनकोर की रियासतें थी। भौगोलिक दृष्टि से यह विभाजन रियासतों की जलवायु समझने में कुछ सहायक हो सकता था, परन्तु राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं था।

२१२ रियासतें सरकार को कर देती थी और कुछ इससे मुक्त थीं। कुछ रियासतों को प्रतिवर्ष कुछ घोड़े तथा सिपाही बृटिश सरकार को देने पड़ते थे। काश्मीर के राजा को प्रतिवर्ष १ घोड़ा, १२ बकरियाँ और १३ ऊनी शाल देने पड़ते थे। ३० रियासतों में विधान-मंडल स्थापित किये गये थे। ४० रियासतें अपना स्वतंत्र उच्च न्यायालय रखती थीं। ३४ रियासतों ने अपने राज्य में न्याय और कार्यपालिका को एक दूसरे से पृथक् कर रखा था। ५४ रियासतों में पेंशन देने की व्यवस्था थी। ५६ रियासतों में राजा को एक निश्चित राशि उसके निजी व्यय के लिये दी जाती थी। भारत में कुल १८ विश्वविद्यालय अब तक रहे हैं, इनमें केवल २ रियासतों में थे। केवल काश्मीर में अपना स्वतंत्र तार घर था। ट्रावनकोर, हैदराबाद और कोचीन में डाक घर थे। हैदराबाद, उदयपुर, ट्रावनकोर और कुछ राजपूताने की रियासतों में अपने निजी सिक्के चलते थे। किसी भी रियासत को यह अधिकार न था कि वह किसी अंग्रेज कर्मचारी के वेतन पर आय कर लगा सके। उद्योग-धन्धों की दृष्टि से इन रियासतों में कोई समता न थी। कुछ रियासतों में राष्ट्रीय भावनाएँ बृटिश प्रान्तों की तरह फैली हुई थीं, परन्तु शेष की जनता योरप के मध्ययुग की तरह कूप-मण्डूक थी। कुछ रियासतों में प्रजातंत्र शासन की व्यवस्था थी परन्तु अधिकांश रियासतों में निरंकुश शासन चलता था।

भारत की २४ प्रतिशत जनता देशी रियासतों में रहती थी। रियासतों में रहने वाले नागरिक साधारण अधिकारो से भी बंचित थे। राजा के शब्द ही कानून कहलाते थे। जनता को यह अधिकार न था कि वह स्वतन्त्रता-पूर्वक कोई संगठन बनाये और सभायें करे। ऐसे कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं जबकि मीटिंगों और भरी सभाओं में कर्मचारियों की ओर से गोलियाँ चलाई गई थीं। रियासतों में लेखन और भाषण की भी स्वतन्त्रता न थी। सरकारी कर्मचारी प्रजा को भेंड़ और बकरी समझते थे। नियमित कर से अधिक वसूल करना उनके लिये साधारण बात थी। प्रजा अपनी कठिनाइयों को राजदरबार तक नहीं पहुँचा सकती थी। कहा जाता है कि बृटिश प्रान्तों में तो कोई न कोई कानून बर्ते जाते थे, परन्तु रियासतों में कोई कानून न था। अपराधी महीनों बन्द कोठरियों में पड़े

रहते थे उनके मुकदमों की सुनवाई नहीं होती थी। एकतंत्रवाद में जितनी बुराइयाँ हो सकती हैं वे सब देशी रियासतों में पाई जाती थीं। राजाओं को अपने पद और अधिकारों का इतना गर्व होता था कि वे अपनी एक भी बात टाल नहीं सकते थे। उनका लालन-पालन ऐसे वातावरण में होता था और उनकी शिक्षा इतनी एकांगी होती थी कि वे प्रजा के प्रति कोई सद्भावना नहीं रखते थे। या तो वे महलों में बैठे थोड़े से चापलूसों की बातें सुनते थे अथवा योरप की सैर करते थे। शासन का कार्य दीवान और थोड़े से कर्मचारियों को सौंप दिया जाता था। ये कर्मचारी अपना निजी लाभ उठाने में कोई कमी नहीं करते थे। उन्हें यह संदेह बना रहता था कि न जाने किस समय उन्हें रियासत की नौकरी से पृथक् हो जाना पड़ेगा। इसीलिये अपने कार्यकाल में वे प्रजा से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते थे। रियासतों में लोकमत का सर्वथा अभाव था। छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारियों से प्रजा भयभीत रहती थी। काश्मीर भारत की बड़ी रियासतों में से था। वहाँ के नायब दारोगा को यह अधिकार था कि वह जिसे चाहे गिरफ्तार करके एक महीना जेल में रखे। अपराधी को यह भी अधिकार न था कि वह अपने निर्दोष होने का कारण उपस्थित कर सके। फ्रांस के बादशाह १४ वें लुई की तरह राजा लोग रियासतों को अपनी निजी सम्पत्ति समझते थे। रियासतों की आय का आधा भाग राजाओं के निजी व्यय में लगता था। शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सार्वजनिक कामों पर कम से कम व्यय किया जाता था।

यद्यपि रियासतें अपने क्षेत्र में स्वतंत्र थीं परन्तु इन्हें बृटिश सरकार के साथ की गई सन्धि को मानना पड़ता था। इन संधियों में बृटिश सरकार ने रियासतों की रक्षा का भार लिया था। बृटिश सरकार की सहायता के लिये रियासतें वचनबद्ध थी। किसी भी राजा को अपनी रियासत में किले बनवाने का अधिकार न था। बृटिश सरकार को यह भय था कि इससे रियासतों की शक्ति बढ़ेगी। जब किसी राजा को पुराने किले की मरम्मत करानी होती तो उसे गवर्नर जनरल से आज्ञा लेनी पड़ती थी। यदि बृटिश सरकार किसी रियासत से होकर रेल की लाइन ले जाना चाहती, अथवा तार या सेना के लिये भूमि चाहती, तो रियासतों को बिना मूल्य उसे देना पड़ता था। कोई भी रियासत अपनी सेना और शस्त्रों की संख्या नहीं बढ़ा सकती थी। कुछ रियासतों को योरोपीय निवासियों पर मुकदमे चलाने का अधिकार न था। हैदराबाद, मैसूर और बड़ोदा आदि बड़ी-बड़ी रियासतों तक को किसी अंग्रेज अथवा अमेरिकन को फाँसी देने का अधिकार न था। छोटी-

छोटी रियासतों में बृटिश रेजीडेंट कलक्टर और जज दोनों होते थे। किसी रियासत को अधिकार न था कि वह अपने राज्य का कोई भाग किसी दूसरी रियासत को बदले में दे सके। रियासतें आयात और निर्यात कर नहीं बढ़ा सकती थीं। इस पर एक मात्र अधिकार सम्राट् का माना गया था। बृटिश सरकार की आज्ञा के बिना किसी रियासत को गोद लेने का अधिकार न था। यदि सम्राट् इस गोद को स्वीकार करता तो रियासत को कुछ धन भेंट के रूप में उसे देना पड़ता था। भारत सरकार का राजनीतिक विभाग इन रियासतों का संचालन करता था। ऐसे कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं जब कि राजा को रियासत से बाहर निकाल दिया गया। दीवान, प्रधान मंत्री तथा रियासत के अन्य कर्मचारी राजनीतिक विभाग द्वारा नियुक्त किये जाते थे। एक रियासत दूसरी रियासत से लड़ाई की घोषणा नहीं कर सकती थी।

यद्यपि रियासतों के राजा अपने आपको किसी स्वतंत्र बादशाह से कम नहीं मानते थे, परन्तु बाह्य और आन्तरिक दोनों विषयों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता न थी। रियासतें किसी बाहरी देश से एक स्वतन्त्र राष्ट्र की तरह सन्धि नहीं कर सकती थीं। आन्तरिक शासन में बृटिश सरकार जब चाहे हस्तक्षेप कर सकती थी। रियासतों की प्रभुता बृटिश सम्राट के हाथों में दी गई थी। इसी को सर्वोच्च अधिकार (Paramount Power) कहा गया है। यह अधिकार स्पष्ट नहीं किया गया था। किस किस दशा में सम्राट् इसका प्रयोग कर सकता था, इसकी कोई सीमा निर्धारित न थी। सम्राट् की ओर से यह सर्वोच्च अधिकार गवर्नर जनरल को दिया गया था। रियासतों को किसी तरह एक सूत्र में बाँधना था। इसीलिए बृटिश सम्राट् को यह अधिकार दिया गया था कि वह इनकी रक्षा और आन्तरिक प्रबन्ध का उत्तरदायित्व अपने हाथों में ले ले। बृटिश भारत को एक सूत्र में बाँध कर सरकार बिखरी हुई रियासतों को स्वतन्त्र कैसे रख सकती थी। रियासतों को बनाए रखने में बृटिश सरकार का एक बहुत बड़ा स्वार्थ था। प्रान्त और रियासतों के राजनीतिक भेद-भाव से भारतीय राष्ट्रीयता दुर्बल रहती थी। जब प्रान्तों में काँग्रेस आन्दोलन तीव्र गति से चल रहा था उस समय रियासतों में साधारण सभाओं तक पर रोक लगी हुई थी। रियासतों में राष्ट्रीय भावना को दबाने के लिये बृटिश सरकार ने राजाओं को एक बहुत बड़ा साधन बनाया था। अपने सुख और विलासी जीवन के आनन्द में वे जनता की उन्नति का कोई ध्यान नहीं रखते थे। बृटिश सरकार का उद्देश्य भी यही था।

ऊपर कहा गया है कि बृटिश शासन में राजनीतिक विभाजन वैज्ञानिक

स्वतन्त्रता के पश्चात् न था। १९१७ ई० में कलकत्ता काँग्रेस के अवसर पर लोकमान्य तिलक ने कहा था कि, "भाषा के आधार पर देश का राजनीतिक विभाजन प्रान्तीय स्वराज्य से कहीं आवश्यक है।" काँग्रेस का कहना था कि भारत को २१ प्रान्तों में विभाजित करना चाहिये। स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार को यह अवसर प्राप्त हुआ कि वह देश के राजनीतिक विभाजन को वैज्ञानिक रूप दे। पाकिस्तान की स्थापना से बंगाल और पंजाब का विभाजन कर दिया गया। प्रान्तों और रियासतों के भेदभाव को मिटाने के लिये काँग्रेस पहले से ही कटिबद्ध थी। वह नहीं चाहती थी कि रियासतों का निरंकुश शासन बना रहे। विशुद्ध प्रजातंत्र की स्थापना के लिये उसे सम्पूर्ण भारत में एक नागरिकता की स्थापना करनी थी। देश की एक तिहाई जनता नागरिक अधिकारों से बंचित थी। शासन की बागडोर हाथ में लेते ही राष्ट्रीय सरकार ने देशी रियासतों के प्रश्न को अपने हाथ में लिया। छोटी-छोटी रियासतें प्रान्तों में मिलाई जाने लगीं। कुछ बड़ी रियासतों को प्रान्तीय शासन का पद प्रदान कर दिया गया। कुछ रियासतों को एक में सम्मिलित कर उनका समूह स्थापित कर दिया गया। उन्ही रियासतों में से किसी एक राजा को समूह का प्रधान अर्थात् राजप्रमुख नियुक्त कर दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने प्रान्तों और रियासतों का भेदभाव हटाकर शासन की सभी इकाइयों को 'राज्य' की संज्ञा दी है। जिन्हें पहले प्रान्त कहा जाता था वे अब राज्य कहलाने लगे हैं। रियासतों के समूह को 'राज्य समूह' कहा जाता है। काश्मीर को छोड़कर यह कार्य समाप्त-प्राय है। आशा है काश्मीर भी भारत का एक राज्य बनकर रहेगा। 'लन्दन टाइम्स' नामक पत्र ने देशी रियासतों पर टिप्पणी करते हुये लिखा था कि 'भारत को स्वाधीनता प्राप्त होने के १५ महीने के भीतर भारतीय रियासतों की संख्या ५६२ से घटकर एक दर्जन से भी कम हो गई है। बिस्मार्क ने जर्मन राष्ट्र का जो एकीकरण किया था वह भारत सरकार के इस कार्य की तुलना में बहुत ही छोटे पैमाने में हुआ था। भारत सरकार ने देशी रियासतों के एकीकरण का यह कार्य अपेक्षाकृत कम समय में पूरा कर लिया है, जिसने भारतीय संघ के राजनीतिक मानचित्र को बिल्कुल बदल दिया है।"

देशी रियासतों का इतना जटिल प्रश्न इतने कम समय में कैसे सम्पन्न हुआ, इसकी जानकारी आवश्यक है। गत १५ मार्च को भारतीय संसद् में जो श्वेतपत्र उपस्थित किया गया था उसमें भारत के ५०० से अधिक

अलग अलग स्थित सामन्तवादी देशी राज्यों के भारतीय संघ के १५ संयुक्त अंगो में परिवर्तित हो जाने का ऐतिहासिक सिंहावलोकन किया गया था। श्वेतपत्र में घोषित किया गया था कि राज्यों की समस्या का एकमात्र हल यही था कि उनके सम्बन्ध में संयुक्तीकरण तथा प्रजातंत्री करण की नीति वर्ती जाय। भौगोलिक कारणों, रक्षा तथा आन्तरिक सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं, देश की आर्थिक स्थिति तथा अन्य बड़े विचारणीय विषयों ने भारत के वास्तविक एकीकरण को अनिवार्य बना दिया। दो बातों ने इन घटनाओं की गति को और तीव्रता प्रदान की— सर्वोच्च प्रभुत्व समाप्ति के सम्बन्ध में बृटिश घोषणा तथा छोटे-छोटे राज्यों की डावाँडोल स्थिति। प्रभुत्व समाप्ति के फलस्वरूप कुछ देशी रजवाड़ों के दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव पड़ा तथा जूनागढ़ और हैदराबाद जैसे राज्यों में कुछ घटनायें घटित हुईं। छोटे-छोटे राज्यों की पुराने ढंग से अपना प्रबन्ध चलाने की असमर्थता के कारण ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने बड़े-बड़े राज्यों को भी अपने लपेटे में ले लिया।

निरंकुश राजाओं को उनके उच्च स्थान से धीरे-धीरे पदच्युत करने की कार्यवाही चालू करने में बड़ा भय था। भारतीय स्वतंत्रता का कोई अर्थ ही न होता यदि देशी राज्यों की जनता प्रान्तों की जनता के समान ही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता का आनन्द न उठाती। केवल निश्चित तथा साहस पूर्ण प्रयत्न उस विस्फोट पूर्ण परिस्थिति को बदल सकता था, जिसकी ओर देशी राज्य उन्मुख थे। इसी आवश्यकता वश देशी रजवाड़ों के निरंकुश शासन का पूर्ण अन्त कर देने का निर्णय किया गया। राज्यों के संयुक्तीकरण का प्रमुख स्वरूप यह रहा है कि जनता को शासकों के अधिकार पूर्णतया अन्तिम रूप से हस्तान्तरित कर दिये जायँ। भारत सरकार ने इस लक्ष्य की ओर जो पहला कदम उठाया वह था १५ अगस्त १९४७ के बाद अविलम्ब भारत में देशी राज्यों को मिला लेना। भारत के इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी और इसका पूरा महत्व तभी आँका जा सकता है जब उसकी प्रतिकूल पृष्ठभूमि की समीक्षा की जाय। किसी को भी यह आशा न थी कि भारत सरकार विभाजन तथा राज्यों के अमिलन दोनों के भार को वहन कर सकेगी। श्वेतपत्र में कहा गया था कि प्रगति के दूसरे स्वरूप में दो प्रकार से संयुक्तीकरण की बात सम्मिलित थी। राज्यों का उचित आकारों में ठोस इकाइयाँ बनाना तथा उनका प्रजातंत्रीयकरण। इसके पश्चात् प्रादेशिक संयुक्तीकरण का स्वरूप अपनाया

गया। समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन, केन्द्र द्वारा शासित चेत्रों में परिवर्तन। तथा राज्य संघों के रूप में संगठन का कार्य आरम्भ किया गया।

विलयन की कार्यवाही १ जनवरी सन् १६४८ को उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ राज्यों से प्रारम्भ हुई। सबसे अन्त में एक जनवरी १६५० को कूचविहार राज्य का विलय हुआ। हिमांचल प्रदेश सबसे पहला राज्य था जो १५ अप्रैल १६४८ को केन्द्र द्वारा शासित प्रदेश के रूप में लिया गया। इस प्रदेश में २४ रियासतें सम्मिलित की गई हैं। ग्वालियर, इन्दौर, मालवा आदि २२ रियासतों का एक संघ स्थापित किया गया है। इसका चेत्रफल ४७००० वर्गमील है और यह देशी राज्यों के बने हुये संघों में सबसे बड़ा संघ है। महाराजा ग्वालियर इस संघ के आजीवन राजप्रमुख बनाये गये हैं। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने इस संघ को 'भारत का हृदय' कहा है। विहार की दो रियासतें सरायकेला और सरसवाँ, विहार राज्य में सम्मिलित कर दी गई हैं। गुजरात की १७ रियासतें बम्बई में सम्मिलत की गई हैं। १५ जुलाई १६४८ ई० को पटियाला तथा पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ स्थापित किया गया। इसका चेत्रफल १०००० वर्गमील से कुछ अधिक और जनसंख्या ३५ लाख है। महाराजा पटियाला इस संघ के राजप्रमुख नियुक्त किये गये हैं। सेन्ट्रल इन्डिया की कुछ रियासतों को मिलाकर एक नये विन्ध्यप्रान्त की स्थापना की गई है। महाराजा रींवा इसके राजप्रमुख हैं। भूपाल मध्यप्रान्त में तथा रामपुर, टेहरी गढ़वाल और रामनगर उत्तर प्रदेश में सम्मिलित कर लिये गये हैं। विन्ध्यप्रदेश सबसे अन्तिम राज्य है जो जनवरी १६५० में केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत ले लिया गया है। प्रथम राज्य संघ की स्थापना तब हुई जब कठियावाड़ की २१७ रियासतें तथा और कितनी ही रियासतें १५ फरवरी १६४८ को सौराष्ट्र में सम्मिलित कर दी गई। इस प्रकार का अन्तिम राज्य संघ १ जुलाई १६४६ ई० को स्थापित किया गया, जब सुदूर दक्षिण की दो रियासतों का ट्रावनकोर कोचीन संघ बना दिया गया।

इन दोनों योजनाओं के कार्यान्वित होने के फलस्वरूप २१६ रियासतें जिनका कुल चेत्रफल १०८७३६ वर्गमील तथा जिनकी जनसंख्या १६१५ ८००० है, राज्यों में विलीन हो गई। ६१ रियासतों को केन्द्र द्वारा शासित चेत्रों में सम्मिलित कर लिया गया है। २७५ रियासतें राज्य संघों में मिला दी गई हैं। इस प्रकार संयुक्तीकरण योजना द्वारा ५५२ रियासतें भारत में सम्मिलित करली गई हैं। प्रादेशिक संयुक्तीकरण कार्यवाही से हैदराबाद, मैसूर तथा जम्मू और काश्मीर अछूते बचे हैं। हैदराबाद का शासन नये

संविधान के अन्तर्गत विशेष व्यवस्था द्वारा किया जा रहा है। भारत के उत्तर पूर्व में खासी पहाड़ी रियासतों को मिलाकर आसाम का एक अलग स्वतन्त्र जिला बना दिया गया है। जो रियासतें राज्यों में विलीन कर ली गई हैं वहाँ की जनता को वे सारे अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं जो राज्य की जनता को प्राप्त हैं। केन्द्रीय शासित क्षेत्रों के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व केन्द्रीय विधान मंडल पर है। हिमांचल प्रदेश तथा कच्छ में चीफ कमिश्नरों की सलाहकार-समितियाँ हैं, जिनमें सर्वप्रिय प्रतिनिधि रखे गये हैं। इस प्रकार की समितियाँ अन्य केन्द्र शासित क्षेत्रों में स्थापित करने का प्रश्न विचाराधीन है। राज्य संघों में, जहाँ संभव था, अन्तर्कालीन मंत्रिमंडल बनाये गये हैं। ट्रावनकोर कोचीन में तथा मध्यभारत और सौराष्ट्र में विधान-मंडल तथा उत्तरदायी परिषद् काम कर रहे हैं। मैसूर और काश्मीर में पूर्ण उत्तरदायी सरकार स्थापित कर दी गई है। राजप्रमुख, मंत्रिपरिषद् तथा विधान-मंडलों का वही काम है जो राज्यों में उसी प्रकार के अधिकारियों का है। इस प्रकार निरंकुशतन्त्र के ढाँचे को पूर्ण प्रजातंत्रीय रूप में परिवर्तित कर देने की कार्यवाही समाप्त हो गई है।

विलीन तथा संयुक्तीकृत रियासतों के शासकों का, जिनमें हैदराबाद और मैसूर भी सम्मिलित हैं, निजी व्यय भी निर्धारित कर दिया गया है। सरदार पटेल ने अपने एक भाषण में कहा था कि रियासतों के अलग अस्तित्व को समाप्त कर देने तथा शासकों द्वारा अपना अधिकार समर्पण कर देने के बदले में शासकों को यह व्यक्तिगत व्यय निर्धारित किया गया है। श्वेतपत्र में शासकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के प्रबन्ध का भी विवरण दिया गया है। यह काम बड़ा कठिन और नाजुक था। प्रत्येक रियासत की अपनी अलग स्थिति और प्रथा थी। इसलिये प्रत्येक विषय को उसी के अनुसार अलग-अलग निर्णय किया गया है। इस सम्बन्ध में कुछ व्यापक सिद्धान्त बना लिये गये थे। राजमहलों तथा रहने के मकानों का निर्धारण राजाओं तथा शासन के पूर्व उपयोग तथा आवश्यकता के आधार पर किया गया है। राजाओं के दिल्ली स्थित राजमहलों पर अधिकार करने का प्रश्न अभी सरकार के विचाराधीन है। यदि किसी शासक को खेतीबारी में रुचि है तो उसको खेतबारी तथा चारागाह भी उचित रूप में दिया गया है, जिसके लिये उसको लगान देना होगा। राजाओं ने अपनी अधिकांश जागीरें पहले ही छोड़ दी थीं। खजाने के उत्तराधिकार सरकार को दे दिये गये। रत्न आभरण आदि शासकों के संरक्षण में दिये गए, जो विशेष समारोहों में उपयोग किये जायँगे,

किन्तु सरकार उनका निरीक्षण समय-समय पर करती रहेगी। सुरक्षित कोष पारिवारिक विवाहादि के लिये राजाओं के अन्तर्गत कर दिये गये। मन्दिर तथा उनसे सम्बन्धित सम्पत्तियों के लिये ट्रस्ट बना दिये गये।

देशी रियासतों में सैनिक शक्ति भी कम न थी। राष्ट्रीय सरकार ने उसपर भी अपना अधिकार कर लिया। गत २६ जनवरी के पहले ही ४४ रियासतों की सेनाओं का संयुक्तीकरण कर दिया गया। कच्छ, कोल्हापुर बड़ौदा, गुजरात तथा हिमांचल प्रदेश की सैनिक टुकड़ियाँ भारतीय सेना में मिला ली गई हैं। अन्य विलीन राज्यों की सेनाओं के मिलाने का कार्य चालू है। ट्रावनकोर और कोचीन की सेना पर राजप्रमुख का अधिकार है, किन्तु उसे भारत सरकार का आदेश मानना पड़ेगा। आई० ए० एस० तथा आई० पी० एस० की भारतीय सरकारी नौकरियों में देशी रियासतों को भी भाग लेने की योजना बनाई गई है। अप्रैल १६५० से रियासतों का आर्थिक संयुक्तीकरण भी आरम्भ कर दिया गया है। सभी रियासतों तथा राज्य संघों ने, जिनमें हैदराबाद भी सम्मिलित है, भारत के नये संविधान की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है। जम्मू तथा काश्मीर के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्थायें की गई हैं। फरवरी १६४८ में हुए जनमत संग्रह के फलस्वरूप सौराष्ट्र सरकार ने जूनागढ़, मानवदर, मगरेल, बंटवा, बावरियाबाद और सरदारगढ़ का शासन अपने हाथ में ले लिया है। न्याय की व्यवस्था के लिये सभी राज्य संघों में उच्च न्यायालय स्थापित कर दिये गये हैं।

इस लम्बे विवरण से यह स्पष्ट है कि देशी रियासतों की जटिल समस्या को राष्ट्रीय सरकार ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता और सावधानी से हल किया है। जिस प्रकार सत्य और अहिंसा से भारत को स्वराज्य प्राप्त हुआ है उसी प्रकार राष्ट्रीय सरकार को रियासतों के प्रश्न को हल करने में किसी प्रकार की कड़ी कार्यवाही करने का अवसर नहीं मिला है। केवल हैदराबाद में रजाकारों के आन्दोलन को दबाने के लिये उसे सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी थी। काश्मीर के प्रश्न को भी भारत सरकार शान्तिपूर्ण ढंग से हल करना चाहती है। पाकिस्तान के साथ भारत सरकार के हाल के हुए समझौते को देखते हुए यह और भी स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार की नीति शान्तिमय है। देशी रियासतों के विलयन तथा संयुक्तीकरण का प्रभाव प्रान्तों, जिन्हें अब राज्य कहते हैं, पर भी पड़ा है। इससे कितने ही राज्यों की सीमा कम और अधिक हुई है। जन-संख्या में भी अन्तर पड़ा है। उत्तर प्रदेश में, जहाँ पहले ४६ जिले थे

अब ५१ जिले होगये हैं। बिन्ध्यप्रदेश के कितने ही गाँव उत्तर प्रदेश में सम्मिलित कर दिये गये हैं। परिणाम यह है कि जनसंख्या और क्षेत्रफल दोनों में उत्तर प्रदेश भारत के सभी राज्यों में बड़ा है। यद्यपि राष्ट्रीय सरकार ने शासन की सभी इकाइयों को समान पद देने का प्रयत्न किया फिर भी कई कारणों से इनमें आज भी अन्तर पाया जाता है। इस अन्तर का कारण राज्यों की सीमा, उनकी जनसंख्या, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक चेतना है। इसीलिये राज्यों को ४ श्रेणियों में रखा गया है।

वर्तमान स्थिति

भारतीय संविधान की प्रथम अनुसूची में भारत के राज्य और उनके क्षेत्रों का विवरण दिया गया है। ये राज्य ४ भागों में विभाजित किये गये हैं। पहले भाग में आसाम, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश हैं। दूसरे भाग में जम्मू और काश्मीर, तिर्वांकुर कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्यसंघ, मध्यभारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्यप्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद हैं। तीसरे भाग में अजमेर कच्छ, कूचबिहार, कोड़गु (कुर्ग), त्रिपुरा, दिल्ली, विलासपुर, भोपाल, मनीपुर तथा हिमांचल प्रदेश हैं। चौथे भाग में अंडमान और नीकोबार द्वीप हैं। इस प्रकार भारत को २९ राज्यों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भाग के राज्य का शासन प्रबन्ध अलग अलग ढंग से किया जाता है। पहले भाग के राज्यों में प्रत्येक का प्रधान राज्यपाल कहलाता है। दूसरे भाग के राज्यों में प्रत्येक भाग का प्रधान राजप्रमुख होता है। तीसरे और चौथे भाग के राज्यों का शासन केन्द्रीय सरकार स्वयं करती है। इन राज्यों के शासन विधान तथा राजनीतिक स्थिति में जो भेद है उसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय में दिया गया है। राज्यों के निर्माण में यह प्रयत्न किया गया है कि तत्सम्बन्धी प्रान्तों को ही राज्यों की संज्ञा दे दी जाय। ऐसा करते हुए भी थोड़ी बहुत उलट फेर की गई है। विभाजन के पश्चात् जो प्रान्त पहले पूर्वी पंजाब कहलाता था वह अब पंजाब राज्य कहलाता है। मध्य प्रान्त और बरार को मध्य प्रदेश माना गया है। युक्तप्रान्त का नाम उत्तर प्रदेश कर दिया गया है। पन्थ पिपलोदा प्रान्त मध्य भारत में सम्मिलित कर दिया गया है।

———

अध्याय १०

राज्यपाल तथा उनकी मंत्रि-परिषद्

पिछले अध्याय में यह कहा गया है कि प्रथम अनुसूची के पहले भाग में वर्णित राज्यों में प्रत्येक में एक राज्यपाल होगा।

राज्यपाल

अर्थात् आसाम, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में राज्यपाल नियुक्त किये गये हैं। राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त वह अपना पद धारण करता है। यदि राज्यपाल अपने पद से त्यागपत्र देना चाहे तो वह राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा ऐसा कर सकता है। यदि कोई बाधा उपस्थित न हो तो राज्यपाल अपने पदग्रहण की तारीख से ५ वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा। अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण तक पद धारण किये रहेगा। कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। राज्यपाल न तो संसद् के किसी सदन का और न किसी राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन का सदस्य होगा। यदि संसद् के किसी सदन का, अथवा किसी राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन का सदस्य राज्यपाल नियुक्त हो जाय तो यह समझा जायगा कि उसने उस सदन में अपना स्थान राज्यपाल के पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

राज्यपाल अन्य कोई लाभ का पद धारण नहीं कर सकता। उसे बिना किराया दिये अपने पदावासों के उपयोग का हक दिया गया है। उसका वेतन, भत्ता तथा अन्य उपलब्धियाँ संसद् विधि द्वारा निर्धारित करेगी। जब तक वैसे निश्चय नहीं करती तब तक उसे ५५०० रुपया प्रतिमास वेतन दिया जायगा। उसके भत्ते तथा उपलब्धियाँ उस समय तक वही रखी गई हैं जो इस संविधान के आरम्भ होने के पहले किसी प्रान्त के गवर्नर को प्राप्त थीं। राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते उसके कार्यकाल में घटाये नहीं

जा सकते। प्रत्येक राज्यपाल तथा प्रत्येक व्यक्ति, जो राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन करता है, अपने पद ग्रहण करने से पूर्व उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के समक्ष निम्न रूप में शपथ ग्रहण करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा :—

"मैं,...अमुक, ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक ...(राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं.........
......(राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

राज्यपाल की शक्तियाँ

साधारण स्थिति में राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है। परन्तु कुछ विषयों में यह आवश्यकता पड़ सकती कि वह स्वविवेक से कार्य करे। संविधान में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि राज्यपाल किन विषयों में स्वविवेक से कार्य करेगा। यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि वह अपनी मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा से कार्य करने के लिये बाध्य होगा। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि आसाम को छोड़कर किसी भी राज्य के राज्यपाल को स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति प्रदान नहीं की गई है। आसाम के राज्यपाल को उन्हीं क्षेत्रों में स्वविवेक से कार्य करने की शक्ति प्रदान की गई है जिनमें वह राष्ट्रपति के अभिकर्ता (Agent) के रूप में कार्य करेगा। राज्यपाल प्रायः सभी विषयों में मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा के अनुसार कार्य करेगा। इस दृष्टि से वह अधिकार-शून्य प्राधिकारी (Authority) है। राज्य में उसके पद का निर्माण केवल संविधान की पूर्त्ति के लिये किया गया है। उसके व्यक्तित्व से राज्य के सर्वश्रेष्ठ नागरिक की आभा प्रकट होती है। संविधान के निर्माण के समय संविधान सभा के कुछ सदस्यों का विचार था कि राज्यपाल का पद निर्वाचित कर दिया जाय और उसे पूरे अधिकार दे दिये जायँ। जब यह बात अमान्य ठहराई गई और राज्यपाल को नियुक्त करने की बात मान ली गई तो यह आवश्यक था कि उसके अधिकार बहुत कुछ सीमित कर दिये जायँ। यदि ऐसा न किया

जाता तो उसकी शक्तियाँ वैसी ही रहतीं जैसी बृटिश काल में प्रान्तों के गवर्नरों की थी। संविधान की शब्दावली से प्रकट है कि राज्यपाल को राज्य में केवल वैधानिक प्रधान बनाया गया है। उसकी शक्तियों का निश्चय बहुत कुछ वैधानिक परम्परा पर निर्भर होगा। संविधान के कुछ वर्ष कार्यान्वित होने पर यह बात स्पष्ट होगी। उसकी शक्तियों की सीमा और विस्तार के निर्णय के लिये न्यायालयों की भी शरण लेनी होगी।

संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी ठहराई गई है। प्रजातन्त्र सिद्धान्त के अनुसार उत्तरदायी शासन के लिये यह व्यवस्था अनिवार्य है। जब तक राज्य का शासन जनता के प्रतिनिधियों की राय के अनुसार नहीं चलाया जाता, तब तक लोकमत उसका समर्थन नहीं कर सकता। जनता तभी सन्तुष्ट रह सकती है जब उसके प्रतिनिधि शासन में सबसे अधिक हाथ रखें। किसी ऐसे व्यक्ति अथवा प्राधिकारी से वह शासित नहीं होना चाहती जो वैधानिक रूप से नियुक्त किया गया है। इसीलिये राज्यपाल को किसी विषय में स्वविवेक का अधिकार नहीं दिया गया है। यदि राज्यपाल मंत्रि-परिषद् के सलाह की उपेक्षा करे और किसी विषय में अपने स्वविवेक से कार्य करे तो यह स्वाभाविक है कि मंत्रिगण त्यागपत्र दे देंगे। जब ऐसी स्थिति पैदा हो जायगी तो राज्यपाल अपने स्वविवेक से कार्य करने के लिये स्वतन्त्र होगा। मान लीजिए मंत्रि-परिषद् राज्यपाल को विधान-सभा के विघटन की सलाह देती है। यह आवश्यक नहीं है कि राज्यपाल ऐसी सलाह को मानने के लिये बाध्य होगा। तात्पर्य यह है कि उसकी स्वविवेक सम्बन्धी शक्तियाँ संदिग्ध हैं। वैधानिक रीति से उसे जो शक्तियाँ प्रदान की गई हैं उन्हें हम ४ श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—(१) कार्यपालिका शक्ति, (२) विधायिनी-शक्ति, (३) न्यायी शक्ति तथा (४) वित्तीय शक्ति।

कार्यपालिका शक्ति

राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित है। वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों द्वारा करेगा। जो कृत्य (Function) किसी वर्तमान विधि ने किसी अन्य प्राधिकारी को दिये हैं वे कृत्य राज्यपाल को हस्तान्तरित किये हुए न समझे जायँगे। राज्यपाल के अधीनस्थ किसी प्राधिकारी को विधि द्वारा कृत्य देने में संसद् अथवा राज्य के विधान-मंडल को बाधा न होगी। राज्य के विधान-मंडल को जिस सीमा तक विधि बनाने

का अधिकार दिया गया है वहाँ तक राज्यपाल की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार होगा। समवर्ती-सूची में जिन विषयों का समावेश किया गया है उनमें राज्य की कार्यपालिका शक्ति संघ की कार्यपालिका शक्ति के अाधीन होगी। राज्य की सरकार अपने कर्तव्यों का निर्वहन कैसे करे इसके सम्बन्ध में उपबन्ध बनाने की शक्ति राज्यपाल को प्रदान की गई है। मंत्रियों में कार्य का विभाजन उसी की इच्छानुसार किया जाता है। मंत्रि-परिषद् के प्रधान अर्थात् मुख्य मंत्री की नियुक्ति वही करता है।

विधायिनी शक्ति

राज्य के विधान-मंडल के दोनों सदनों द्वारा जब कोई विधेयक पारित हो जाता है तो वह राज्यपाल के समक्ष उपस्थित किया जाता है। राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह विधेयक पर अपनी अनुमति दे या अनुमति रोक ले। विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ वह रक्षित भी कर सकता है। जो विधेयक उसकी अनुमति के लिये उसके समक्ष रखा जाता है, यदि वह धन-विधेयक नहीं है तो उसे यह शक्ति प्राप्त है कि वह विधेयक को सन्देश के साथ सदन या सदनों को उस पर पुनर्विचार करने के लिये लौटा दे। इस प्रकार से सदन या सदनों को लौटाये गये विधेयक पर उन्हें पुनर्विचार करना होगा। पुनर्विचार करने के पश्चात् यदि विधेयक सदन या सदनों द्वारा संशोधन सहित या रहित पुनःपारित हो जाता है और राज्यपाल के समक्ष अनुमति के लिये रखा जाता है तो राज्यपाल उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकता। कोई धन-विधेयक अथवा वित्त-विधेयक उसकी अनुमति के बिना विधान-सभा में उपस्थित नहीं किया जा सकता। आर्थिक विषयों में किसी प्रकार का संशोधन अथवा परिवर्तन तब तक नहीं किया जा सकता जब तक उसकी अनुमति न प्राप्त कर ली जाय।

उस समय को छोड़कर जबकि विधान-सभा तथा विधान-परिषद् वाले राज्य में विधान-मंडल के दोनों सदन सत्र (Session) में हैं, यदि किसी समय राज्यपाल को समाधान हो जाय कि तुरन्त कार्यवाही करने के लिये उसे बाधित करने वाली परिस्थितियाँ वर्तमान हैं तो वह ऐसे अध्यादेशों (Ordinances) का प्रख्यापन कर सकेगा जो उसे परिस्थितियों से अपेक्षित प्रतीत हों। परन्तु राज्यपाल कोई ऐसा अध्यादेश प्रख्यापित नहीं कर सकता जिससे सम्बन्धित विधेयक को विधान-मंडल में पुरःस्थापित (Introduce) किये जाने के लिये राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की अपेक्षा हो। उस विषय में भी वह कोई अध्यादेश प्रख्यापित नहीं कर सकता जिससे

सम्बन्धित विधेयक को वह राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करना आवश्यक समझता है। अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होगा जो राज्यपाल द्वारा अनुमत (Assent) राज्य के विधान-मंडल के अधिनियम का होता है। प्रत्येक अध्यादेश राज्य की विधान-सभा के समक्ष, तथा जहाँ राज्य में विधान-परिषद् है वहाँ दोनों सदनों के समक्ष रखा जायगा। यदि वह विधान-सभा से पारित और यदि विधान-परिषद् है तो उससे स्वीकृत हो जाता है, तो उस अध्यादेश की अवधि समाप्त हो जाती है। विधान-मंडल के पुनः समवेत (Reassemble) होने से ६ सप्ताह की समाप्ति पर अध्यादेश की अवधि समाप्त हो जाती है। राज्यपाल द्वारा कोई अध्यादेश किसी समय भी लौटा लिया जाता है।

न्यायी शक्ति

जिस विषय पर किसी राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार है उस विषय सम्बन्धी किसी विधि के विरुद्ध किसी अपराध के लिये सिद्ध दोष किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम या परिहार करने की, अथवा दण्डादेश का विलम्बन परिहार या लघूकरण करने की, उस राज्य के राज्य-पाल को शक्ति प्रदान की गई है। भारतीय संविधान में न्यायालयों को बहुत बड़ी शक्ति प्रदान की गई है। सरकार का कोई भी विभाग उनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। विधान मंडल द्वारा निर्मित किसी विधि को वे अवैधानिक घोषित कर सकते हैं। इसीलिये न्यायालयो को छोड़कर न्यायी शक्तियाँ किसी और को नहीं दी गई हैं। जो थोड़ी बहुत शक्ति राष्ट्रपति तथा राज्यपाल को प्रदान की गई है उनका भी उपयोग वे विशेष स्थिति में ही करेंगे।

वित्तीय शक्ति

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में, राज्य के विधान-मंडल के सदन अथवा सदनों के समक्ष राज्यपाल उस राज्य की उस वर्ष के लिये प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययों का विवरण रखवायेगा जिसे इस संविधान में 'वार्षिक-वित्त-विवरण' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। राज्यपाल की सिपारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग न की जायगी। यदि वित्तीय वर्ष के वास्ते व्यय किये जाने के लिये प्राधिकृत कोई राशि उस वर्ष के प्रयोजन के लिये अपर्याप्त पायी जाती है अथवा किसी विशेष सेवा के निमित्त अनुपूरक अथवा अपर व्यय की आवश्यकता होती है, तो राज्यपाल राज्य के विधान-मंडल के सदन अथवा सदनों के समक्ष उस व्यय से सम्बन्धित दूसरा विवरण रखवायेगा।

किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर, उस सेवा और उस वर्ष के लिये अनुदान की गई राशि से अधिक कोई धन व्यय हो गया है तो वह विधान-सभा में ऐसी अधिकाई के लिये माँग उपस्थित करायेगा।

मंत्रि-परिषद्

संविधान के १६३ वें अनुच्छेद में राज्य की मंत्रि-परिषद् के संगठन और कार्यों का वर्णन किया गया है। यह कहा गया है कि राज्यपाल को अपने कृत्यों का निर्वहन करने में सहायता और मंत्रणा देने के लिये एक मंत्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा। क्या मंत्रियों ने राज्यपाल को कोई मंत्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच न की जायगी। मुख्य मंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति राज्यपाल मुख्य मत्री की मंत्रणा से करेगा। राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त मंत्री अपने पद धारण करेंगे। उड़ीसा, बिहार और मध्य प्रदेश राज्यों में आदिम जातियों के कल्याण के लिये भार-साधक (Incharge) एक मंत्री होगा जो साथ साथ अनुसूचित जातियों और पिछड़े हुए वर्गों के कल्याण का, अथवा किसी अन्य कार्य का भी भार साधक हो सकेगा। मंत्रि-परिषद् राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। अपने पद ग्रहण करने से पहले मंत्री को राज्यपाल के समक्ष दो प्रकार की शपथ ग्रहण करनी होगी। एक शपथ पद की और दूसरी गोपनीयता की होगी। पद की शपथ में वह संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने की प्रतिज्ञा करेगा। भय, पक्षपात, अनुराग, द्वेष आदि के बिना शुद्ध अन्तःकरण से अपने कर्तव्यों के निर्वहन की भी प्रतिज्ञा करेगा। गोपनीयता की शपथ में वह इस बात की प्रतिज्ञा करेगा कि, "राज्य के मंत्री के रूप में मेरे विचार के लिये जो विषय लाया जायगा अथवा मुझे ज्ञात होगा उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में संसूचित या प्रकट न करूँगा।"

मंत्री का विधान-मंडल के किसी सदन का सदस्य होना आवश्यक है। प्रजातंत्र के सिद्धान्त की रक्षा के लिये इससे बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी विधान-मंडल से बाहर के योग्य व्यक्ति भी मंत्रि-परिषद् में सम्मिलित कर लिये जाते हैं, परन्तु उनके लिये यह आवश्यक है कि ६ महीने के भीतर वे किसी सदन के सदस्य अवश्य बन जायँ। संविधान में यह उल्लेख किया गया है कि कोई मंत्री, जो निरन्तर ६ मासों की किसी कालावधि तक राज्य के विधान-मंडल का सदस्य न रहे, उस कालावधि

की समाप्ति पर मंत्री न रहेगा। मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते ऐसे होंगे जैसे समय समय पर उस राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा निर्धारित करे। जब तक उस राज्य का विधान-मंडल इस प्रकार निर्धारित न करे तब तक दूसरी व्यवस्था की गई है। संविधान में उनके वेतन आदि के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि प्रथम अनुसूची के पहले और दूसरे भाग में वर्णित प्रत्येक राज्य के मंत्रियों को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे कि यथास्थिति तत्स्थानी प्रान्त या तत्स्थानी देशी रियासत के ऐसे मंत्रियों को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले दिये जाते थे। जब काँग्रेस ने पहली बार मंत्रिपद ग्रहण किया तो मंत्रियों का वेतन ५०० रुपया माहवार रखा गया था। काँग्रेस का कहना था कि भारत ऐसे निर्धन देश में किसी भी पदाधिकारी का वेतन ५०० रुपये से अधिक नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्रता के पश्चात् काँग्रेस का यह निर्णय बदल गया। तब से अब तक मंत्रियों को १५०० रुपया मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उनके रहने के लिए बिना किराये का एक सरकारी भवन, एक मोटर, तथा अन्य उपलब्धियाँ भी प्रदान की गई हैं।

मंत्रियों की संख्या के विषय में संविधान में कोई उल्लेख नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि राज्यों को अपनी आवश्यकतानुसार कम और अधिक मंत्री रखने का अधिकार है। राज्यों में जो मंत्री इस समय कार्य कर रहे हैं उनकी संख्या में काफी अन्तर है। कुछ राज्यों में इनकी संख्या ४ से ६ तक है और कुछ में यह १० तक हो गई है। आवश्यकता पड़ने पर यह संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। ऊपर कहा गया है कि मंत्रि-परिषद् का कार्यकाल राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त होगा। फिर भी यदि किसी विशेष कारण से इसे भंग न किया जाय तो यह विधान-सभा के कार्यकाल अर्थात् ५ वर्ष तक कार्य करती रहेगी। राज्यपाल जल्दी मंत्रि-परिषद् को भंग नहीं कर सकता जब तक विधान-सभा का उसमें विश्वास है तब तक वह इसका विघटन नहीं कर सकता। राज्य की मंत्रि-परिषद् की कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में वही नियम होंगे जो संघ के मंत्रि-परिषद् में हैं।

अध्याय ११

राज्य का विधान-मंडल

प्रथम अनुसूची के पहले भाग में वर्णित प्रत्येक राज्य के लिये एक विधान-मंडल होगा। मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा पंजाब में विधान-मंडल के दो सदन होंगे। आसाम, उड़ीसा तथा मध्य प्रदेश में केवल एक सदन होगा। जिन राज्यों में दो सदन हैं उनमें पहले सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) और दूसरे सदन का नाम विधान-परिषद् (Legislative Council) होगा। जिन राज्यों में एक ही सदन है उसका नाम विधान-सभा होगा। यदि विधान-परिषद् से रहित किसी राज्य की विधान-सभा विधान-परिषद् की स्थापना के लिये सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित कर दे तो संसद् विधि द्वारा उस राज्य में विधान-परिषद् की स्थापना करेगी। यदि कोई राज्य, जिसमें विधान-परिषद् की स्थापना की गई है, इसका उत्सादन (Abolition) करना चाहता है तो वह इस आशय का संकल्प विधान-मंडल के दो तिहाई बहुमत से पारित करके संसद् को भेज सकता है। इस प्रकार से पारित संकल्प के अनुसार संसद् विधान-परिषद् का उत्सादन कर सकती है। राज्य के विधान-मंडल के सदन या सदनों को प्रतिवर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायगा। उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र (Session) की प्रथम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इन उपबन्धों के अधीन रहते हुए राज्यपाल समय-समय पर सदनों को अथवा किसी सदन को ऐसे समय और स्थान पर, जैसा उचित समझे, अधिवेशन के लिये आहूत कर सकेगा। सदन या सदनों का सत्रावसान (Dissolve) करने अथवा विधान-सभा का विघटन करने का भी उसे अधिकार है।

विधान-सभा

प्रत्येक राज्य की विधान-सभा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए सदस्यों से मिलकर बनेगी। यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख की राय हो कि उस राज्य की विधान-सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और पर्याप्त नहीं है तो उस विधान-सभा में उस समुदाय के

जितने सदस्य वह समुचित समझे, नाम निर्देशित कर सकेगा। राज्यों की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदिम जातियों के लिये स्थानों के रक्षण सम्बन्धी तथा नाम निर्देशन द्वारा आंग्ल-भारतीय समुदाय के प्रतिनिधित्व सम्बन्धी उपबन्ध इस संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष की कालावधि की समाप्ति पर प्रभावी न रहेंगे। किसी राज्य की विधान-सभा में प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व उस निर्वाचन-क्षेत्र की अन्तिम पूर्वगत जन-गणना में निश्चित की गई जन-संख्या के आधार पर होगा। आसाम के स्वायत्त जिलों को तथा शिलांग के नगर क्षेत्र व कटक से मिलकर बने निर्वाचन-क्षेत्र को छोड़कर प्रत्येक ७५,००० व्यक्तियों पर एक प्रतिनिधि होगा। किसी राज्य की विधान-सभा में सदस्यों की समस्त संख्या किसी अवस्था में ५०० से अधिक अथवा ६० से कम न होगी। राज्य में प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र को बाँट में दिये जाने वाले सदस्यों की संख्या का उस निर्वाचन-क्षेत्र की अन्तिम पूर्वगत जन-गणना में निश्चित जन-संख्या से अनुपात सारे राज्य में सर्वत्र यथासाध्य एक ही होगा। प्रत्येक जन-गणना की समाप्ति पर प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों के प्रतिनिधित्व का ऐसे प्राधिकारी द्वारा ऐसी रीति से और ऐसी तारीख से प्रभावी होने के लिये पुनः समायोजन किया जायगा जैसा कि संसद् विधि द्वारा निर्धारित करे। ऐसे पुनः समायोजन से विधान-सभा के प्रतिनिधित्व पर तब तक कोई प्रभाव न पड़ेगा जब तक कि उस समय वर्तमान विधान-सभा का विघटन न हो जाय। वर्तमान जन गणना के अनुसार विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित निर्धारित की गई है :—

आसाम	१०८	उड़ीसा	१४०
पंजाब	१२६	पटियाला	६०
सौराष्ट्र	६०	बिहार	३३०
बम्बई	३१५	मध्य प्रदेश	२३२
मद्रास	३७५	उत्तर प्रदेश	४३०
प० बंगाल	२३८	हैदराबाद	१७५
मध्य भारत	९९	मैसूर	९९
राजस्थान	१६०	ट्रावनकोर कोचीन	१०८

प्रत्येक राज्य की प्रत्येक विधान-सभा, यदि पहले ही विघटित न कर दी जाय तो अपने प्रथम अधिवेशन के लिये नियुक्त तारीख से ५ वर्ष तक

चालू रहेगी। ५ वर्ष की उक्त कालावधि की समाप्ति का परिणाम विधान-सभा का विघटन होगा। उक्त कालावधि को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद् विधि द्वारा, किसी कालावधि के लिये बढ़ा सकेगी, जो एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी। किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् ६ मास की कालावधि से वह अधिक विस्तृत न होगी। विधान-सभा का सदस्य होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति में निम्नलिखित अर्हतायें (Qualifications) आवश्यक ठहरायी गई हैं :—

१—उसे भारत का नागरिक होना चाहिये। उसकी आयु कम से कम २५ वर्ष की होनी चाहिये।

२—उसे विकृतचित्त और दिवालिया नहीं होना चाहिये।

३—केन्द्रीय अथवा राज्य की सरकार के अन्तर्गत उसे कोई लाभ का पद धारण नहीं करना चाहिये।

४—उसे संसद् के किसी सदन अथवा विधान-परिषद् का सदस्य नहीं होना चाहिये।

प्रथम अनुसूची के पहले और दूसरे भाग में. उल्लिखित प्रत्येक राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जातियों के लिये तथा आसाम के आदिम जाति क्षेत्रों में की अनुसूचित आदिम जातियों को छोड़कर अन्य आदिम जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रहेंगे। आसाम राज्य की विधान-सभा में स्वायत्तशासी जिलों के लिये भी स्थान सुरक्षित रहेंगे। किसी राज्य की विधान-सभा में अनुसूचित जाति या अनुसूचित आदिम जातियों के लिये सुरक्षित स्थानों की संख्या का अनुपात उस सभा में के स्थानों की समस्त संख्या से यथाशक्य वही होगा जो यथास्थिति उस राज्य में की अनुसूचित जातियों की अथवा उस राज्य में की अनुसूचित आदिम जातियों की जन-संख्या का अनुपात उस राज्य की समस्त जन-संख्या से है। आसाम राज्य की विधान-सभा में किसी स्वायत्तशासी जिले के लिये रक्षित स्थानों की संख्या का उस सभा में स्थानों की समस्त संख्या से अनुपात उस अनुपात से कम न होगा जो उस जिले की जन-संख्या का उस राज्य की समस्त जन-संख्या से है। शिलांग के कटक और नगर क्षेत्र से मिलकर बने हुए निर्वाचन-क्षेत्र को छोड़कर आसाम राज्य के किसी स्वायत्तशासी जिले के लिये रक्षित स्थानों के निर्वाचन-क्षेत्रों में उस जिले के बाहर का कोई क्षेत्र समाविष्ट न होगा। कोई व्यक्ति, जो आसाम राज्य के किसी स्वायत्तशासी जिले में की अनुसूचित आदिम जातियों का सदस्य नहीं है, उस राज्य क

विधान-सभा के लिये शिलांग के कटक और नगर क्षेत्र से मिलकर बने हुए निर्वाचन-क्षेत्र को छोड़कर उस जिले के किसी निर्वाचन-क्षेत्र से निर्वाचित होने का पात्र न होगा। आवश्यक प्रतीत होने पर राज्य की विधान-सभा में आंग्ल-भारतीय समुदाय के सदस्यों के नाम-निर्देशन का भी विधान बनाया गया है। राज्यपाल या राजप्रमुख यह नाम-निर्देशन करेगा।

विधान-सभा को, अथवा राज्य में विधान-परिषद् के होने की अवस्था में उस राज्य के विधान मंडल के किसी एक सदन को अथवा साथ समवेत दोनों सदनों को, राज्यपाल सम्बोधित कर सकेगा तथा इस प्रयोजन के लिये सदस्यों की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा। राज्य की प्रत्येक विधान-सभा यथासंभव शीघ्र अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपने अध्यक्ष (Speaker) और उपाध्यक्ष (Deputy Speaker) चुनेगी। जब जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तब तब सभा किसी अन्य सदस्य को यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनेगी। विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि सभा का सदस्य नहीं रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा। वह किसी भी समय अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग कर सकेगा। त्यागपत्र देते समय लेख में अध्यक्ष उपाध्यक्ष को और उपाध्यक्ष अध्यक्ष को सम्बोधित करेगा। विधान-सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्पों द्वारा वह अपने पद से हटाया जा सकेगा। इस प्रकार का संकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायगा जब तक कि उस संकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय को कम से कम १४ दिन की सूचना न दे दी गई हो। जब कभी विधान सभा का विघटन किया जायगा तो विघटन के पश्चात होने वाले विधान-सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त न करेगा।

अध्यक्ष का पद रिक्त होने पर उपाध्यक्ष अथवा, यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो तो, विधान-सभा का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। विधान-सभा की किसी बैठक से अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष अथवा, यदि वह भी अनुपस्थित है तो, ऐसा व्यक्ति, जो सभा की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया जाय, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। इनमें से कोई व्यक्ति उपस्थित न हो तो अन्य व्यक्ति, जिसे सभा निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा। विधान-सभा की किसी बैठक में, जब अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन हो तब अध्यक्ष, अथवा जब उपाध्यक्ष

को अपने पद से हटाने का संकल्प विचाराधीन हो तब उपाध्यक्ष, उपस्थित रहने पर भी, पीठासीन न होगा। जब अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विधान-सभा में विचाराधीन हो तब उसको सभा में बोलने तथा दूसरे प्रकार से कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा। ऐसे संकल्प पर, अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर उसे प्रथमतः ही मत देने का हक होगा, किन्तु मत-साम्य होने की दशा में न होगा। प्रत्येक सत्र के आरम्भ में विधान-सभा को, अथवा राज्य में विधान-परिषद् होने की अवस्था में साथ समवेत हुए दोनों सदनों को राज्यपाल सम्बोधन करेगा तथा आवाहन का कारण विधान-मंडल को बतायेगा। राज्य के प्रत्येक मंत्री और महाधिवक्ता को अधिकार होगा कि वह उस राज्य की विधान-सभा में, अथवा राज्य में विधान-परिषद् होने की अवस्था में दोनों सदनों में बोले तथा दूसरे प्रकार से उनकी कार्यवाहियों में भाग ले। परन्तु उसको मत देने का हक न होगा।

विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा नियत करे। जब तक ऐसा उपबन्ध नहीं किया जाता तब तक उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे तत्स्थानी प्रान्त की विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले दिये जाते थे। राज्य के विधान-मंडल के सदन या प्रत्येक सदन का पृथक् साचिविक कर्मचारी वृन्द होगा। इन कर्मचारियों की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन राज्य का विधान-मंडल करेगा। जब तक राज्य का विधान-मंडल ऐसा उपबन्ध नहीं करता तब तक राज्यपाल विधान-सभा के अध्यक्ष या विधान-परिषद् के सभापति से परामर्श करके इनके लिये नियम बनायेगा। विधान-सभा का प्रत्येक सदस्य, अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व, राज्यपाल के अथवा उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति के समक्ष शपथ लेगा और उस पर हस्ताक्षर करेगा। इस शपथ में वह इस बात की प्रतिज्ञा करेगा कि संविधान के प्रति वह श्रद्धा और निष्ठा रखेगा और अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करेगा।

विधान-परिषद्

ऊपर कहा गया है कि मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश बिहार तथा पंजाब में विधान-मंडल के दो सदन होंगे। इन्हीं राज्यों के दूसरे सदन का नाम विधान-परिषद् है। विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की समस्त संख्या की एक चौथाई से

अधिक न होगी। परन्तु किसी भी अवस्था में किसी राज्य की विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या ४० से कम न होगी। जब तक संसद् विधि द्वारा कोई दूसरा उपबन्ध न करे तब तक किसी राज्य की विधान-परिषद् की रचना निम्नलिखित प्रकार से होगी:—

(क) विधान-परिषद् के सदस्य की समस्त संख्या का एक तिहाई भाग उस राज्य में की नगरपालिकाओं, जिला मंडलियों तथा अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों के, जैसे कि संसद् विधि द्वारा उल्लिखित करे, सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा;

(ख) विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या का बारहवाँ भाग उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचक-मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो भारत राज्य-क्षेत्र के किसी विश्वविद्यालय के कम से कम ३ वर्ष से स्नातक हैं अथवा, जो कम से कम ३ वर्ष से ऐसी अर्हताओं को धारण किये हुये हैं जो संसद् निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन वैसे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक की अर्हताओं के तुल्य विहित की गई हों;

(ग) विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या का बारहवाँ भाग ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने निर्वाचक-मंडलों द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न स्तर की ऐसी शिक्षा संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम से कम ३ वर्ष से लगे हुये हैं, जैसी कि संसद् निर्मित विधि के द्वारा या अधीन विहित की जायँ;

(घ) विधान-परिषद् के सदस्यों की समस्त संख्या का तीसरा भाग राज्य की विधान-सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नहीं हैं;

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा नाम-निर्देशित होंगे। नाम-निर्देशित किये जाने वाले सदस्य ऐसे होंगे जिनमें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के विषय में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है।

ऊपर लिखे हुये उपखण्ड (क) (ख) और (ग) के अधीन निर्वाचित होने वाले सदस्य ऐसे प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों में चुने जायँगे जैसे कि संसद् निर्मित किसी विधि के अधीन विहित किये जायँ। नाम-

निर्देशित होने वाले सदस्यों के अतिरिक्त शेष सदस्यों का निर्वाचन अनुपाती-प्रतिनिधित्व-पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होगा।

राज्य की विधान-परिषद् का विघटन न होगा। प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम एक तिहाई सदस्य संसद् निर्मित विधि द्वारा निवृत्त हो जाँयगे। विधान-परिषद् के सदस्य के लिये जो अर्हतायें अथवा अनर्हतायें निश्चित की गई हैं वे वही हैं जो विधान सभा के सदस्यों के लिये निश्चित की गई हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि विधान सभा के सदस्यों के लिये २५ वर्ष की आयु का और विधान-परिषद् के सदस्यों के लिये ३० वर्ष की आयु का प्रतिबन्ध रखा गया है। विधान-परिषद् को प्रतिवर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत किया जायगा तथा उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिये नियुक्त तारीख के बीच ६ माह का अन्तर न होगा। विधान-परिषद् का अधिवेशन बुलाने, स्थान निश्चित करने तथा उसे सत्रावसान करने का अधिकार राज्यपाल को है। विधान-परिषद् की कार्यप्रणाली प्रायः उसी प्रकार है जैसे विधान-सभा की। जो थोड़ा बहुत अन्तर है उसका उल्लेख इनके अधिकारों के प्रसंग में किया गया है।

प्रत्येक राज्य की विधान-परिषद् अपने दो सदस्यों को क्रमशः अपना सभापति (President) और उपसभापति (Vice-President) चुनेगी तथा जब जब सभापति या उपसभापति का पद रिक्त हो तब तब वह किसी अन्य सदस्य को सभापति या उपसभापति चुनेगी। विधान-परिषद् के सभापति या उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि परिषद् का सदस्य नहीं रहता तो अपना पद रिक्त कर देगा। वह किसी समय भी अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा। त्याग पत्र के लेख में सभापति उपसभापति को और उपसभापति सभापति को सम्बोधित करेगा। विधान-परिषद् का सभापति या उपसभापति परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित परिषद् के संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा। परन्तु इस तरह का संकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायगा जब तक उसके प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम १४ दिन की सूचना न दे दी गई हो। सभापति का पद रिक्त होने पर उपसभापति अथवा यदि उपसभापति का भी पद रिक्त हो तो विधान परिषद् का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। विधान-परिषद् की किसी बैठक से सभापति की अनुपस्थिति में उपसभापति अथवा यदि वह भी अनुपस्थित है तो,

ऐसा व्यक्ति, जो परिषद् की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया जाय, अथवा, यदि ऐसा कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं है तो, ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे परिषद् निर्धारित करे सभापति के रूप में काम करेगा।

विधान-परिषद् की किसी बैठक में, जब सभापति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब सभापति, अथवा जब उपसभापति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विचाराधीन हो तब उपसभापति, उपस्थित रहने पर भी, पीठासीन होगा। जब सभापति को अपने पद से हटाने का कोई संकल्प विधान-परिषद् में विचाराधीन हो तब उसको परिषद् में बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्यवाहियों में भाग लेने का अधिकार होगा। ऐसे संकल्प पर अथवा ऐसी कार्यवाहियों में किसी अन्य विषय पर उसे प्रथमतः ही मत देने का हक होगा, किन्तु मत-साम्य की दशा में न होगा। विधान-परिषद् के सभापति और उपसभापति को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा नियत करे। जब तक ऐसा उपबन्ध न बने तब तक उसे ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे कि तत्स्थानीय प्रान्त की विधान-परिषद् के सभापति और उपसभापति को इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले देय थे। जहाँ तत्स्थानी प्रान्त की ऐसे प्रारम्भ से ठीक पहले कोई विधान-परिषद् न थी वहाँ उस राज्य की विधान-परिषद् के सभापति और उपसभापति को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे कि उस राज्य का राज्यपाल निर्धारित करेगा। राज्य के विधान-परिषद् का पृथक् साचविक कर्मचारी वृन्द होगा। राज्य का विधान-मंडल इन कर्मचारियों की भर्ती तथा नियुक्त व्यक्तियों की सेवा की शर्तों का विनियमन कर सकेगा। जब तक राज्य का विधान-मंडल उपबन्ध नहीं करता तब तक राज्यपाल विधान-परिषद् के सभापति से परामर्श करके कर्मचारियों की भर्ती का विनियमन करेगा। विधान-परिषद् का प्रत्येक सदस्य अपना स्थान ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल के समक्ष वही शपथ लेगा जो विधान-सभा के सदस्य के लिये निर्धारित की गई है।

राज्य के विधान-मंडल की कार्य-पद्धति

किसी राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन की बैठक में सब प्रश्नों का निर्धारण अध्यक्ष या सभापति या उसके रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति को छोड़कर उपस्थित तथा मत देने वाले अन्य सदस्यों के बहुमत से किया जायगा। अध्यक्ष अथवा सभापति या उसके रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति प्रथमतः मत न देगा, पर मत-साम्य की अवस्था में उसका निर्णायक मत होगा और वह उसका

प्रयोग करेगा। सदस्यता में कोई रिक्तता होने पर भी राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन को कार्य करने की शक्ति होगी। यदि बाद में यह पता चले कि कोई व्यक्ति जिसे ऐसा करने का हक न था, कार्यवाहियों में उपस्थित रहा, उसने मत दिया अथवा अन्य प्रकार से भाग लिया, तो भी राज्य के विधान-मंडल की कार्यवाही मान्य होगी। जब तक राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न करे तब तक राज्य के विधान-मंडल के प्रत्येक सदन का अधिवेशन गठित करने के लिये गणपूर्ति (Quorum) १० सदस्य अथवा सदन के समस्त सदस्यों की सम्पूर्ण संख्या का दशांश, इसमें से जो भी अधिक हो, से होगी। यदि राज्य की विधान-सभा अथवा विधान-परिषद् के अधिवेशन में किसी समय गणपूर्ति न रहे तो अध्यक्ष या सभापति अथवा उसके रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति का कर्तव्य होगा कि वह या तो सदन को स्थगित कर दे या अधिवेशन को तब तक के लिये निलम्बित (Suspend) कर दे जब तक कि गणपूर्ति न हो जाय।

कोई व्यक्ति राज्य के विधान-मंडल के दोनों सदनों का सदस्य न होगा तथा जो व्यक्ति दोनों सदनों का सदस्य निर्वाचित हुआ है उसके एक या दूसरे सदन के स्थान को रिक्त करने के लिये उस राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा उपबन्ध बनायेगा। कोई व्यक्ति दो या अधिक राज्यों के विधान-मंडलों का सदस्य न होगा। यदि कोई व्यक्ति दो या अधिक ऐसे राज्यों के विधान-मंडलों का सदस्य चुन लिया जाय तो ऐसी कालावधि के समाप्ति के पश्चात्, जो कि राष्ट्रपति द्वारा बनाये गये नियमों में उल्लिखित हो, ऐसे सब राज्यों के विधान-मंडलों में ऐसे व्यक्ति का स्थान रिक्त हो जायगा यदि उसने एक राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्यों के विधान-मंडलों के अपने स्थान को पहले ही त्याग न दिया हो। यदि राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन का सदस्य अयोग्य हो जाता है अथवा अध्यक्ष या सभापति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने स्थान का त्याग कर देता है तो ऐसा होने पर उसका स्थान रिक्त हो जायगा। यदि किसी राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन का सदस्य ६० दिन की कालावधि तक सदन की अनुज्ञा के बिना उसके सब अधिवेशनों से अनुपस्थित रहे तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकेगा। परन्तु ६० दिन की उक्त कालावधि की गणना में किसी ऐसी कालावधि को सम्मिलित न किया जायगा जिसमें सदन सत्रावसित (Prorogued) अथवा निरन्तर ४ से अधिक दिनों के लिये स्थगित रहा है।

प्रत्येक राज्य के विधान-मंडल में वाक्-स्वातन्त्र्य होगा। राज्य के विधान-

राज्य के विधान-मंडलों की शक्तियाँ

मंडल में या उसकी किसी समिति में कही हुई किसी बात अथवा दिये हुए किसी मत के विषय में विधान-मंडल के किसी सदस्य के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई कार्यवाही न चल सकेगी और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध ऐसे विधान-मंडल के किसी सदन के प्राधिकार के द्वारा या अधीन किसी प्रतिवेदन, पत्र, मतों या कार्यवाहियों के प्रकाशन के विषय में इस प्रकार की कोई कार्यवाही चल सकेगी। अन्य बातों में राज्य के विधान-मंडल के प्रत्येक सदन, सदस्यों और समितियों की शक्तियाँ, विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ ऐसी होंगी जैसी वह विधान-मंडल, समय समय पर, विधि द्वारा परिभाषित करे। जब तक वे इस प्रकार परिभाषित नहीं की जातीं तब तक वे ही होंगी जो इस संविधान के प्रारम्भ पर इंगलैंड की पार्लियामेंट के हाउस आफ कामन्स की तथा उसके सदस्यों और समितियों की हैं। राज्य की विधान-सभा और विधान-परिषद् के सदस्यों के ऐसे वेतनों और भत्तों के पाने का हक होगा जिन्हें उस राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा समय समय पर निर्धारित करे। जब तक ऐसा उपबन्ध नहीं बनाया जाता तब तक उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे इस सविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले उस राज्य की प्रान्तीय विधान-सभा के सदस्यों के दिये जाते थे।

विधान प्रक्रिया (Legislation Procedure)

धन-विधेयक तथा अन्य वित्त-विधेयक के अतिरिक्त कोई विधेयक राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन में आरम्भ हो सकेगा। विधान-परिषद् वाले राज्य के विधान-मंडल के सदनों द्वारा कोई विधेयक तब तक पारित न समझा जायगा जब तक या तो बिना संशोधन के या ऐसे संशोधनों के सहित जो दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत कर दिये गये हैं, दोनों सदनों द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो। किसी राज्य के विधान-मंडल में लम्बित विधेयक (Pending Bill) उसके सदन या सदनों के सत्रावसान (Prorogu) के कारण व्यपगत (Lapse) न होगा। किसी राज्य की विधान-परिषद् में लम्बित-विधेयक, जिसको विधान-सभा ने पारित नहीं किया है, विधान-सभा के विघटन पर व्यपगत न होगा। कोई विधेयक, जो किसी राज्य की विधान-सभा में लम्बित है, अथवा, जो विधान-सभा से पारित होकर विधान-परिषद् में लम्बित है, विधान-सभा के विघटन होने पर व्यपगत न होगा। यदि विधान-सभा द्वारा पारित विधेयक विधान-परिषद् द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है अथवा वह ३

मास से अधिक समय तक विधान-परिषद् में रोक लिया जाता है अथवा विधान-परिषद् द्वारा उसमें ऐसा संशोधन कर दिया जाता है जिससे विधान-सभा सहमत नहीं है, तो विधान-सभा उस विधेयक को किसी भी रूप में पुनः पारित कर सकेगी। इस प्रकार से पारित विधेयक पुनः विधान-परिषद् को भेज दिया जायगा। यदि विधान-सभा द्वारा विधेयक के इस प्रकार दोबारा पारित हो जाने तथा विधान-परिषद् को पहुँचाये जाने के पश्चात् विधान-परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है; अथवा विधान-परिषद् के समक्ष रखे जाने की तारीख से उससे विधेयक पारित हुए बिना एक माह से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा विधान-परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनों सहित पारित होता है जिन्हें विधान-सभा स्वीकार नहीं करती, तो विधेयक राज्य के विधान-मंडल के सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जायगा जिसमें कि वह विधान-सभा द्वारा दूसरी बार पारित किया गया था।

धन-विधेयक

विधान-परिषद् में धन-विधेयक पुरः स्थापित (Introduce) न किया जायगा। विधान-परिषद् वाले राज्य की विधान-सभा से पारित हो जाने के पश्चात्, धन-विधेयक विधान-परिषद् को, उसकी सिपारिशों के लिये, पहुँचाया जायगा। विधान-परिषद् विधेयक की प्राप्ति की तारीख से १४ दिन की कालावधि के भीतर विधेयक को अपनी सिपारिशों सहित विधान-सभा को लौटा देगी। विधान-सभा, विधान-परिषद् की सिपारिशों में से सब को, या किसी को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि विधान-परिषद् की सिपारिशों में से किसी को विधान-सभा स्वीकार कर लेती है तो धन-विधेयक विधान-परिषद् द्वारा सिपारिश किये गए तथा विधान-सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा। यदि विधान-परिषद् की सिपारिशों में से किसी को भी विधान-सभा स्वीकार नहीं करती है तो धन-विधेयक, विधान परिषद् द्वारा सिपारिश किए गए किसी संशोधन के बिना उस रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायगा जिसमें कि वह विधान-सभा द्वारा पारित किया गया था। यदि विधान-सभा द्वारा पारित तथा विधान-परिषद् को उसकी सिपारिशों के लिये पहुँचाया गया धन-विधेयक १४ दिन की कालावधि के भीतर विधान सभा को लौटाया नहीं जाता तो उक्त कालावधि की समाप्ति पर वह दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जायगा जिसमें विधान-सभा ने उसको पारित किया था।

कोई विधेयक तभी धन-विधेयक समझा जायगा जब उसमें निम्न-लिखित विषयों में से सब अथवा किसी से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध होंगे :—

१—किसी कर का आरोपण, उत्सादन, परिहार, बदलना, विनियम;

२—राज्य द्वारा धन उधार लेने का, अथवा कोई प्रत्याभूति (Guarantee) देने का, अथवा राज्य द्वारा लिये गए अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारों से सम्बद्ध विधि के संशोधन करने का विनियमन;

३—राज्य की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमें से धन निकालना;

४—राज्य की संचित निधि में से धन का विनियोग (Appropriation);

५—किसी व्यय को राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना अथवा ऐसे किसी व्यय की राशि को बढ़ाना;

६—राज्य की संचित निधि के या राज्य के लोकलेखे मध्ये धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी करना;

कोई विधेयक केवल इस कारण से धन-विधेयक न समझा जायगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थ-दंडों के आरोपण का, अथवा अनुज्ञप्तियों के लिये फीसों की, या की हुई सेवाओं के लिये फीसों की, अभियाचना का या देने का, उपबन्ध करता है। कोई विधेयक इस कारण से भी धन-विधेयक नहीं समझा जायगा कि वह किसी स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा स्थानीय प्रयोजनों के लिये किसी कर के आरोपण, उत्सादन, परिहार, बदलने या विनियमन का उपबन्ध करता है। यदि यह प्रश्न उठता है कि विधान-परिषद् वाले किसी राज्य के विधान-मंडल में पुरःस्थापित कोई विधेयक धन-विधेयक है या नहीं तो उस पर उस राज्य की विधान-सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा। जब कोई विधेयक विधान-परिषद् को भेजा जाता है तथा जब वह अनुमति के लिये राज्य के राज्यपाल के समक्ष उपस्थित किया जाता है तब प्रत्येक धन-विधेयक पर विधान-सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाण अंकित रहेगा कि वह धन-विधेयक है।

जब राज्य की विधान-सभा द्वारा, अथवा विधान-परिषद् वाले राज्य

विधेयकों पर अनुमति

में विधान-मंडल के दोनों सदनों द्वारा विधेयक पारित कर दिया गया हो तब वह राज्यपाल के समक्ष उपस्थित किया जायगा। राज्यपाल यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है अथवा विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता है। राज्यपाल अनुमति के लिये अपने समक्ष विधेयक रखे जाने के पश्चात् यथा शीघ्र उस विधेयक को, यदि वह धन विधेयक नहीं है तो सदन या सदनों को ऐसे संदेश के साथ लौटा सकेगा कि सदन या दोनों सदन विधेयक पर अथवा उसके किन्हीं उल्लिखित उपबन्धों पर पुनर्विचार करें। जब विधेयक इस प्रकार लौटा दिया गया हो तब सदन या दोनों सदन विधेयक पर तदनुसार पुनर्विचार करेंगे। यदि विधेयक सदन या सदनों द्वारा संशोधन सहित या रहित पुनः पारित हो जाता है तथा राज्यपाल के समक्ष अनुमति के लिये रखा जाता है तो राज्यपाल उस पर अनुमति न रोकेगा। यदि किसी विधेयक से, उसके विधि हो जाने पर, राज्यपाल की राय में उच्च न्यायालय की शक्तियों का अल्पीकरण होता हो तो उस विधेयक पर राज्यपाल अनुमति न देगा, किन्तु उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रखेगा। राज्यपाल द्वारा जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लिया जाय तब राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो सम्मति देता है या सम्मति रोक लेता है। जहाँ विधेयक धन-विधेयक नहीं है वहाँ राष्ट्रपति राज्यपाल को यह आदेश दे सकेगा कि वह विधेयक को राज्य के विधान-मंडल के सदन या सदनों को सन्देश सहित लौटा दे। जब कोई विधेयक इस प्रकार लौटा दिया जाय तब ऐसे संदेश के मिलने की तारीख से ६ महीने की कालावधि के अन्दर सदन या सदनों द्वारा उस पर फिर से विचार किया जायगा। यदि वह संशोधन के सहित या बिना सदन या सदनों द्वारा फिर से पारित हो जाता है, तो राष्ट्रपति के समक्ष उसके विचार के लिये पुनः उपस्थित किया जायगा।

वार्षिक-वित्त-विवरण

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में, राज्य के विधान-मंडल के सदन अथवा सदनों के समक्ष राज्यपाल उस राज्य की उस वर्ष के लिये प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययों (Estimated Income and Expenditure) का विवरण रखवायेगा। इसी को संविधान में 'वार्षिक-वित्त-विवरण' के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। वार्षिक-वित्त-विवरण में व्यय के प्राक्कलन में दिये हुए राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप

में वर्णित राशियाँ तथा राज्य की संचित निधि से किये जाने वाले अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिये अपेक्षित राशियाँ पृथक् पृथक् दिखाई जायँगी। निम्नलिखित व्यय प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय होगा :—

(१) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से संबद्ध अन्य व्यय;

(२) विधान-सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के तथा किसी राज्य में विधान-परिषद् होने की अवस्था में विधान परिषद् के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते;

(३) ऐसे ऋणभार जिनका दायित्व राज्य पर है, जिनके अन्तर्गत व्याज, निक्षेप निधिभार, और मोचन भार, उधार लेने और ऋण सेवा और ऋण मोचन सम्बन्धी अन्य व्यय;

(४) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतनों और भत्तों विषयक व्यय;

(५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति या पंचाट (Award) के भुगतान के लिये अपेक्षित कोई राशियाँ;

६—इस संविधान से या राज्य के विधान-मंडल से विधि द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया गया कोई अन्य व्यय।

राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय से संबद्ध प्राक्कलनें विधान-सभा में मतदान के लिये न रखी जाँयगी, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह विधान-मंडल में उन प्राक्कलनों में से किसी पर चर्चा को रोकती है। उपर्युक्त प्राक्कलनों में से जितनी अन्य व्यय से सम्बद्ध हैं वे विधान-सभा के समक्ष अनुदान-माँग के रूप में रखी जायँगी तथा विधान-सभा को शक्ति होगी कि किसी माँग को स्वीकार या अस्वीकार करे अथवा किसी माँग को उसमें उल्लिखित राशि को कम करके स्वीकार करे। राज्यपाल की सिपारिश के बिना किसी भी अनुदान की माँग न की जायगी। विधान-सभा द्वारा इस प्रकार अनुदान किये जाने के बाद यथासम्भव शीघ्र राज्य की संचित निधि में से समस्त अनुदानों की पूर्ति के लिये अपेक्षित सब धनों के विनियोग के लिये विधेयक पुरःस्थापित किया जायगा। इस प्रकार किये गये किसी अनुदान की राशि में फेरफार करने अथवा अनुदान के लक्ष्य को बदलने अथवा राज्य की संचित निधि

पर भारित व्यय की राशि में फेरफार करने वाला कोई संशोधन, राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन में पुरःस्थापित न किया जायगा।

राज्य की संचित निधि में से, उपबन्धों के अनुसार पारित विधि द्वारा, किये गए विनियोग के अधीन निकालने के अतिरिक्त और कोई धन निकाला न जायगा। यदि किसी विशेष व्यय के लिये किसी नई राशि की आवश्यकता है अथवा व्यय किये जाने के लिये प्राधिकृत कोई राशि अपर्याप्त हो जाती है तो राज्यपाल राज्य के विधान-मंडल के सदन अथवा सदनों के समक्ष उस अतिरिक्त राशि की माँग उपस्थित करेगा। यदि किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर, उस सेवा और उस वर्ष के लिए अनुदान की गई राशि से अधिक कोई धन व्यय हो गया है, तो उसकी भी पूर्ति के लिये वह राज्य के सदन अथवा सदनों के समक्ष माँग उपस्थित करेगा। राज्य की विधान-सभा को किसी वित्तीय वर्ष के भाग के लिये प्राक्कलित व्यय के बारे में किसी अनुदान की पेशगी देने की शक्ति होगी। उसे किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का जो अनुदान भाग न हो ऐसा आपवादिक अनुदान करने की भी शक्ति होगी। जिस विधेयक के अधिनिर्यमित किये जाने और प्रवर्तन में लाये जाने पर राज्य की संचित निधि से व्यय करना पड़ेगा वह विधेयक राज्य के विधान-मंडल के किसी सदन द्वारा तब तक पारित न किया जायगा जब तक कि ऐसे विधेयक पर विचार करने के लिये उस सदन से राज्यपाल ने सिपारिश न की हो।

साधारणतया प्रक्रिया

राज्य के विधान-मंडल का कोई सदन अपनी प्रक्रिया के तथा अपने कार्य संचालन के विनियमन के लिये नियम बना सकेगा। जब तक ऐसे नियम नहीं बनाये जाते तब तक इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले, तत्स्थानी राज्य के प्रान्तीय विधान-मंडल के सम्बन्ध में, जो प्रक्रिया के नियम और स्थायी आदेश प्रवृत्त थे वे, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ उस राज्य के विधान-मंडल के सम्बन्ध में प्रभावी होंगे। विधान-परिषद् वाले राज्य में विधान-सभा के अध्यक्ष तथा विधान-परिषद् के सभापति से परामर्श करने के पश्चात् राज्यपाल, उनमें परस्पर संचार सम्बन्धी, प्रक्रिया के नियम बना सकेगा। वित्तीय कार्य को समय के अन्दर समाप्त करने के प्रयोजन से किसी राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा, किसी वित्तीय विषय से अथवा राज्य की संचित निधि में से धन का विनियोग करने वाले किसी विधेयक से सम्बन्धित राज्य के

विधान-मंडल के सदन या सदनों की प्रक्रिया और कार्य संचालन का विनियमन कर सकेगा। राज्य के विधान-मंडल में कार्य राज्य की राज-भाषा या भाषाओं में या हिन्दी में या अंग्रेजी में किया जायगा। १५ वर्ष की कालावधि के समाप्त होने पर अंग्रेजी का चलन समाप्त हो जायगा।

विधान-सभा का अध्यक्ष या विधान-परिषद् का सभापति अथवा ऐसे रूप में कार्य करने वाला व्यक्ति किसी सदस्य को जो उपर्युक्त भाषाओं में से किसी में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं कर सकता, अपनी मातृ भाषा में सदन को संबोधित करने की अनुज्ञा दे सकेगा। उच्चतम न्याया-लय या किसी उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कर्तव्य-पालन में किये गये आचरण के विषय में राज्य के विधान-मंडल में कोई चर्चा न होगी। प्रक्रिया में, किसी कथित अनियमता के आधार पर विधान-मंडल की किसी कार्यवाही की मान्यता पर कोई आपत्ति न की जायगी। राज्य के विधान-मंडल का कोई पदाधिकारी या सदस्य अपनी शक्तियों के अपने द्वारा किये गए प्रयोग के विषय में किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार के आधीन न होगा।

अध्याय १२

प्रथम अनुसूची के (ख) (ग) तथा (घ) भाग के राज्य

(ख) भाग के राज्य

संविधान की प्रथम अनुसूची के (ख) भाग में जम्मू और काश्मीर, तिर्वांकुर-कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्यसंघ, मध्यभारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद राज्य सम्मिलित किये गये हैं। इन राज्यों के निर्माण और इनकी प्रगति पर पिछले अध्याय में विचार किया जा चुका है। ये राज्य देशी रियासतों के संघ से निर्मित हुए हैं। इन राज्यों का शासन-प्रबन्ध प्रायः उसी प्रकार से किया जाता है जैसे राज्यपाल के राज्यों का होता है। इनकी पिछली राजनीतिक स्थिति की भिन्नता के कारण जो थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है उसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

राजप्रमुख

संविधान में यह स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि उपर्युक्त राज्यों का शासन उसी प्रकार से संचालित होगा जैसे राज्यपाल के राज्यों को संचालित किया जाता है। कार्यपालिका, विधान-मंडल तथा न्यायिक संगठन में इन दोनों प्रकार के राज्यों में बहुत ही नाम मात्र का अन्तर होगा। (ख) भाग में वर्णित राज्यों में प्रत्येक का प्रधान 'राजप्रमुख' कहलायेगा। देशी रियासतों के संगठन से जब इन राज्यों का निर्माण किया गया तो प्रत्येक राज्य का राजप्रमुख किसी रियासत का राजा बनाया गया। यह पद प्रायः उन राजाओं को दिया गया जिनकी रियासतें बड़ी थीं। जब तक कोई दूसरा प्रबन्ध न हो तब तक हैदराबाद के निजाम को राष्ट्रपति ने हैदराबाद का राजप्रमुख स्वीकार किया है। मैसूर का राजप्रमुख वहीं का राजा नियुक्त किया गया है। जम्मू और काश्मीर के महाराजा को जम्मू और काश्मीर का राजप्रमुख बनाया गया है। राजप्रमुख के अधिकार प्रायः वही हैं जो राज्यपाल के हैं। राजप्रमुख को, जब कि राज्य की सरकार के मुख्य स्थान में उसका अपना निवासगृह न हो, तब बिना किराया दिये पदावास के उपयोग का हक होगा। उसको ऐसे भत्तों और विशेषाधिकारों का भी हक

होगा जैसे कि राष्ट्रपति साधारण या विशेष आदेश द्वारा निर्धारित करे। राजप्रमुख के भत्ते आदि उसकी पद की अवधि में घटाये नहीं जायँगे।

विधान-मंडल

प्रत्येक राज्य के लिये एक विधान-मंडल होगा। मैसूर के राज्य-विधान-मंडल में दो सदन होंगे और बाकी राज्यों के विधान-मंडल में से प्रत्येक में एक सदन होगा। इनके नाम वही होंगे जो राज्यपाल के राज्यों के विधान-मंडलों के हैं। राज्य की विधान सभा और विधान-परिषद् के सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जिन्हें उस राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा समय समय पर निर्धारित करे। जब तक ऐसा उपबन्ध नहीं बनाया जाता तब तक उन्हें ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायँगे जैसे राजप्रमुख निर्धारित करे। विधान-मंडल के निर्माण, उनकी कार्यविधि तथा उनकी शक्तियों के सम्बन्ध में वही उपबन्ध लागू होंगे जो राज्यपाल के राज्य के विधान-मंडलों पर लागू हैं।

न्यायपालिका

राजप्रमुख के राज्यों में उसी प्रकार की न्यायपालिका होगी जैसी राज्य-पाल के राज्यों में है। दोनों के अधिकार और कार्यविधि में कोई अन्तर न होगा। इनमें उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन राष्ट्रपति राजप्रमुख के परामर्श से निश्चित करेगा। इनका अवकाश तथा पेंशन आदि संसद् द्वारा निर्धारित किया जायगा। जब तक संसद् ऐसा नहीं करती तब तक राष्ट्रपति राजप्रमुख के परामर्श से इसे निर्धारित करेगा।

केन्द्र से इनका सम्बन्ध

केन्द्रीय सरकार से इन राज्यों का सम्बन्ध वही है जो राज्यपाल के राज्यों का है। संघ और राज्यों की विधायी शक्तियों को स्पष्ट करने के लिए जो ३ प्रकार की सूचियाँ बनाई गई हैं वे इन राज्यों के सम्बन्ध में भी लागू होंगी। राज्यसूची तथा समवर्ती सूची में दिये गये विषयों के सम्बन्ध में विधि बनाने की शक्ति इन राज्यों के विधान-मंडलों को दी गई है। इन विषयों के सम्बन्ध में अध्याय ५ में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। जम्मू और काश्मीर के सम्बन्ध में कुछ अपवाद माना गया है। इस राज्य के सम्बन्ध में संघ सूची तथा समवर्ती सूची में कुछ उलट-फेर किया गया है। राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह इस अपवाद को जब चाहे हटा दे। इस संविधान के आरम्भ होने से १० वर्ष की कालावधि तक संघ सरकार का नियन्त्रण इन राज्यों पर बना रहेगा।

इन्हें संघ सरकार की आज्ञाओं का जो, इन्हें समय समय पर प्राप्त होंगी, पालन करना होगा। संसद् को यह अधिकार है कि वह १० वर्ष की इस कालावधि को और भी बढ़ा दे। राष्ट्रपति किसी राज्य को केन्द्रीय सरकार के इस नियंत्रण से मुक्त भी कर सकता है। आर्थिक विषयों में प्रत्येक राज्य के साथ संघ सरकार का एक सुलहनामा हुआ है जो १० वर्ष के लिये किया गया है। स्वतन्त्रता के पहले रियासतों की सम्पूर्ण आय राजाओं की निजी आय समझी जाती थी। वे इसका अधिकांश अपने निजी व्यय में लगाते थे और बहुत थोड़ा अंश शासन पर व्यय किया जाता था। संघ सरकार ने राजाओं तथा इनके परिवार का अन्य व्यय निश्चित कर दिया है और राज्य की आय का अधिकाश शासन पर व्यय करने की व्यवस्था की है। इसी से इन राज्यों में सार्वजनिक उन्नति और निर्माण की योजनाओं को कार्यान्वित करने में सुविधा होगी।

(ग) भाग के राज्य

प्रथम अनुसूची के (ग) भाग में अजमेर, कच्छ, कोच बिहार, कोड़गु (कुर्ग) त्रिपुरा, दिल्ली, बिलासपुर, भोपाल, मनीपुर तथा हिमांचल प्रदेश सम्मिलित किये गये हैं। इन राज्यों का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जायगा। इस बारे में वह अपने द्वारा नियुक्त किये गये मुख्य आयुक्त (Chief Commissioner) या उपराज्यपाल (Lieutenant Governor) अथवा पड़ोसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करेगा। पड़ोसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करने के पूर्व वह सम्बन्धित सरकार से परामर्श करेगा तथा प्रशासित किये जाने वाले राज्य की जनता के विचारों को जान लेगा। यदि जनता पड़ोसी राज्य के शासन को नहीं चाहती तो राष्ट्रपति इस तरह की व्यवस्था नहीं करेगा। मुख्य आयुक्त या उपराज्यपाल द्वारा प्रशासित किसी राज्य के लिए संसद् विधि द्वारा राज्य के विधान-मंडल के रूप में कृत्य करने के लिये नाम-निर्देशित, निर्वाचित अथवा अंशतः नाम निर्देशित अथवा अंशतः निर्वाचित निकाय सृजित कर सकेगी। संसद् को यह भी अधिकार है कि वह मंत्रणा-दाताओं की या मंत्रियों की परिषद् का निर्माण करे और उनकी शक्तियों तथा कृत्यों को विधि द्वारा निश्चित करे।

(ग) भाग में उल्लिखित किसी राज्य के लिये संसद् विधि द्वारा उच्च न्यायालय का संगठन कर सकेगी। ऐसे किसी राज्य के किसी न्यायालय को भी इस संविधान के प्रयोजन के लिये उच्च न्यायालय घोषित कर सकेगी। इन राज्यों में, इस संविधान के प्रारम्भ होने से पहले, जो उच्च न्यायालय कार्य

करते थे वे संविधान के आरम्भ होने पर भी कार्य करते रहेंगे । जब तक संसद् विधि द्वारा कोई दूसरा उपबन्ध नहीं करती तब तक कोड़गु (कुर्ग) की विधान-परिषद् का गठन, शक्तियाँ और कृत्य वैसे ही होंगे जैसे कि वे इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले थे। कोड़गु में संग्रहीत राजस्व के तथा कोड़गु के सम्बन्ध में व्ययों के विषय में प्रबन्ध तब तक अपरिवर्तित रहेंगे जब तक कि इस बारे में राष्ट्रपति आदेश द्वारा अन्य उपबन्ध नहीं करता।

(घ) भाग के राज्य

प्रथम अनुसूची के (घ) भाग में अंडमन और नीकोबार द्वीप सम्मिलित किये गये हैं। इन राज्यों का प्रशासन राष्ट्रपति के अधिकार में दिया गया है। वह अपने द्वारा नियुक्त किसी मुख्य आयुक्त या अन्य प्राधिकारी के द्वारा कार्य करेगा। इस भाग में उल्लिखित राज्यों के अतिरिक्त भी यदि कोई राज्य राष्ट्रपति के अधिकार में प्रशासन के लिये दिये जायँगे तो उनका भी प्रशासन वह इसी प्रकार करेगा। इन राज्यों में शान्ति और सुव्यवस्था का उत्तरदायित्व राष्ट्रपति को दिया गया है। उसे अधिकार है कि संसद् द्वारा निर्मित किसी विधि में संशोधन करके इन राज्यों में लागू करे अथवा वर्तमान किसी विधि को इनमें लागू करने की आज्ञा न दे। तात्पर्य यह है कि इन राज्यों का पूर्ण उत्तरदायित्व राष्ट्रपति पर है।

अध्याय १३

जिले का शासन

राज्य का विभाजन

प्रत्येक राज्य कमिश्नरियों में बाँटा गया है। प्रत्येक कमिश्नरी का प्रधान एक कमिश्नर होता है। प्रत्येक कमिश्नरी जिलों में विभाजित की गई है। एक कमिश्नरी के अन्तर्गत ५ या ६ जिले होते हैं। यह विभाजन शासन की सुविधा के लिये किया गया है। भारतीय राज्य इतने बड़े हैं कि इनका शासन प्रबन्ध इन्हें एक इकाई मानकर नहीं किया जा सकता। कुछ राज्य योरप के कितने ही देशों से कई गुने बड़े हैं। मद्रास का क्षेत्रफल ग्रेट ब्रिटेन तथा आयर्लैंड से कहीं बड़ा है। इसीलिये इन राज्यों के विभाजन की आवश्यकता हुई है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देशी रियासतों के विलयन तथा संघीकरण के कारण जिलों की संख्या और इनके क्षेत्रफल में इतना महान अन्तर हुआ है कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस समय इनकी संख्या कितनी है। आज भी इनमें उलट फेर किया जा रहा है। इतना अवश्य है कि इन जिलों की जन-संख्या और क्षेत्रफल अलग अलग हैं। कुछ जिले योरप के छोटे देशों की बराबरी करते हैं। उत्तर प्रदेश के कुछ जिले न्यूजीलैंड से भी बड़े हैं। तिरहुत कमिश्नरी की जनसंख्या कनाडा से अधिक है। विजिगापट्टम जिले का क्षेत्रफल और जनसंख्या डेनमार्क से अधिक है। बहुत कम जिले ऐसे हैं जिनका क्षेत्रफल १५०० वर्ग मील से कम है। शायद ही किसी जिले की जनसंख्या ५ लाख से कम हो। इन जिलों की जलवायु तथा उपज एक सी नहीं है। एक ही जिले का कुछ भाग उपजाऊ और कुछ ऊसर है। प्रत्येक जिले में शहर और गाँवों की बोल-चाल, रहन-सहन तथा आर्थिक स्थिति में अन्तर पाया जाता है। आर्थिक दृष्टि से कुछ जिले सम्पन्न और कुछ दरिद्र हैं। कुछ जिले इतने घने बसे हैं कि प्रत्येक किसान को दो एकड़ तक भूमि खेती के लिये नहीं मिलती।

जिले का प्रधान जिलाधीश कहलाता है। कुछ राज्यों में यह कलेक्टर

कलेक्टर या जिलाधीश

और कुछ में डिप्टी कमिश्नर कहलाता है। अपने जिले में वह सरकार का प्रतिनिधि है। आम तौर से वह सिविल सरविस का एक सदस्य होता है। प्रान्तीय सिविल सरविस के सदस्य भी इस पद पर नियुक्त किये जाते हैं। वेतन की दृष्टि से कलेक्टर का स्थान अपने जिले में सबसे बड़ा नहीं है, परन्तु अधिकार की दृष्टि से इससे बढ़ कर कोई दूसरा पदाधिकारी नहीं होता। इसे दोहरे अधिकार प्राप्त हैं। कलेक्टर की हैसियत से उसे अपने जिले की मालगुजारी वसूल करने का अधिकार दिया गया है, परन्तु वह भूमि-कर को घटा-बढ़ा नहीं सकता। भूचाल, अकाल, महामारी आदि विपत्तियों के समय मालगुजारी घटाने की सिफारिश वह राज्य की सरकार से कर सकता है। मजिस्ट्रेट के नाते वह जिले की छोटी कचहरियों का निरीक्षक होता है। पुलीस के कामों की देख-रेख तथा उन्हें सलाह आदि देने का उसे अधिकार है। अपने जिले की सम्पूर्ण भूमि से वह परिचित होता है। मालगुजारी वसूल करते समय उसे छोटे-बड़े सभी लोगों से मिलने का अवसर मिलता है। जिले में शांति रखने की एक-मात्र जिम्मेवारी इसी पर है। इसीलिए साल के कई महीने वह अपने जिले का दौरा करता है। इस दौड़ान में वह जिले की हर तहसील में लोगों से मिलता है, उनकी हालतें पूछता है और वहाँ से सब प्रकार की जानकारी प्राप्त करता है।

जिले में शासन के लिए कई विभाग बनाये गये हैं। उनका सम्बन्ध राज्य की सरकार से है। पुलीस, सिंचाई, सड़कें तथा इमारतें, खेती, व्यवसाय, अस्पताल, तथा फैक्टरी आदि विभिन्न पदाधिकारियों की देख-रेख में रक्खी गई हैं, लेकिन इसके प्रधान कलेक्टर की राय से अपना कार्य करते हैं। अपने अपने कार्यों की सूचना ये उसे देते रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो वह इतने बड़े उत्तरदायित्व को नहीं निबाह सकता प्रत्येक विभाग का प्रधान अपने कार्यों के लिए स्वतन्त्र होते हुए भी अपने आपको कलेक्टर के अन्तर्गत समझता है। कलेक्टर की अधीनता में काम करने वाले पदाधिकारी सीधे जनता के सम्पर्क में रहते हैं। इनके निरीक्षण के लिए उसे बहुत ही सचेत रहना पड़ता है। कुछ तो इनके कार्यों की देख-रेख के लिए और कुछ अपने जिले का अध्ययन करने के लिए वह एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमता रहता है। यद्यपि उसका निश्चित निवास-स्थान शहर में होता है, फिर भी वह ग्रामीण बातों से अनभिज्ञ नहीं रहता। साल के ६ महीने उसे इन्हीं देहातों में बिताने

पड़ते हैं। जिले के रीति रवाज, वहाँ की बोली, उसकी आर्थिक परिस्थिति तथा लोगों की सभ्यता—इन सब से वह भली भाँति परिचित होता है। पालांडे के कथनानुसार वह राज्य की सरकार रूपी शरीर का विभिन्न अंग है।[१]

कलेक्टर का प्रभुत्व अपने जिले में इतना बड़ा होता है कि साधारण लोग इसे सरकार के नाम से सूचित करते हैं। उनका विश्वास है कि वही इनका एकमात्र शासनकर्त्ता है। किसी तरह की सहायता या छूट की आवश्यकता पड़ती है तो वे इसी का आश्रय लेते हैं। किसानों की मालगुजारी में कठिन से कठिन परिस्थिति में तब तक कोई छूट नहीं दी जा सकती जब तक वह इसकी सिफारिश न करे। विभागों की वृद्धि के कारण तथा आवागमन की सुविधा होने से उसके कर्त्तव्य आज और भी बढ़ गये हैं। कागजी कारवाइयाँ इतनी अधिक बढ़ गई हैं कि उसे बाहर जाने का अवसर बड़ी कठिनाई से मिलता है। इससे उसके अधिकारों पर कुछ आघात पहुँचता है। कहा जाता है कि कलेक्टर के अच्छे दिन अब चले गये।[२] लेकिन अब भी वह अपने जिले का सम्राट् है। अधिकारों से बढ़कर उसका प्रभाव अपने जिले पर कहीं अधिक पड़ता है। जिले का बड़े से बड़ा जमींदार अथवा सेठ साहूकार उसकी आज्ञा नहीं टाल सकता। यदि कलेक्टर का व्यक्तित्व बड़ा है और वह अपने चरित्र तथा आन्तरिक गुणों से पूर्ण है तो अपने जिले में किसी देवता से कम नहीं माना जाता। कुछ कलेक्टरों के नाम जनता में इतने अधिक प्रसिद्ध हैं कि लोग उनकी अनुपस्थिति को अभी तक अनुभव करते हैं। गाँव में अभी तक यह कहावत प्रचलित है कि 'क्या तुम कलेक्टर हो?' इसका तात्पर्य यह है कि ग्रामीण जनता के लिये कलेक्टर से बढ़कर कोई दूसरा पदाधिकारी नहीं जान पड़ता।

सरकारी विभाग में यही एक ऐसा पदाधिकारी है जिसे जनता और बड़े अफसर दोनों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है। अपने जिले

१—He is the eyes the ears, the mouth and the hand of the state Government within his district and serves as its general representative.

२—The golden days of the civil service, when the Collector of a district was the monarch of all he surveyed are definitely gone.

की वास्तविक स्थिति से यह भली भाँति परिचित रहता है। जिले की उन्नति के लिये इसे सब कुछ करने का अधिकार है। यदि यह शासक अद्वितीय योग्यता का हुआ तो अपने जिले की अद्भुत उन्नति कर सकता है। आजमगढ़ जिले में एन० सी० मेहता का नाम तब तक अमर रहेगा जब तक मेहता पुस्तकालय की एक एक ईंट शेष रहेगी। इससे भी बढ़कर उनकी प्रखर बुद्धि से जो लाभ वहाँ के किसानों को पहुँचा वह सर्वदा स्मरणीय है। कुछ अंग्रेज कलेक्टरों ने भी इसी प्रकार की अमर कीर्ति से अपने जिलों को लाभ पहुँचाया है। उसके क्षेत्र बहुमुखी हैं। अपने जिले में भूमि विभाजन, कर्ज से किसानों की छूट, झगड़े का निपटारा, अकाल-पीड़ितों की सेवा, इत्यादि कार्य उसे करने पड़ते हैं। ग्रामीण जीवन में उसका व्यक्तित्व सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है।[१] पुलीस, जेल, म्युनिसिपलटीज, सड़कें, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, दवा, टैक्स, इत्यादि कार्यों की देख-रेख उसे करनी पड़ती है। इन कार्यों को देखते हुए उसे कई प्रकार की जानकारी रखनी होती है।[२] केवल किताबी ज्ञान से काम नहीं चल सकता। एक ओर उसे लोगों की जान-माल की रक्षा के लिये शान्ति की व्यवस्था करनी पड़ती है, और दूसरी ओर व्यापार, शासन, न्याय तथा धन-धान्य की वृद्धि का उपाय सोचना पड़ता है।

१९१९ ई० तक कलेक्टर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का सभापति होता था परन्तु अब ऐसा नहीं है। स्वायत्त-शासन (Local Self-Government) की स्थापना के बाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का अधिकार जनता को दे दिया गया। इससे कलेक्टर को बहुत सी छोटी-छोटी बातों से अवकाश मिला। अब उसे इन कार्यों की ओर एक साधारण दृष्टि रखनी पड़ती है। जब कभी राज्य की सरकार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अथवा म्युनिसिपल बोर्ड के कार्यों से असंतुष्ट होती है तो इनका भार कलेक्टर को दे दिया जाता है। इन बोर्डों की मीटिंगों में वह जब चाहे बैठ सकता है। इसके लिये उसे किसी की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है। यदि वह उनके कार्यों से असन्तुष्ट

१—The Collector is a strongly individualised worker in every department of rural economy.

२—He should be a lawyer, an accountant, a financier, a ready writer of state-papers. He ought also to possess no mean knowledge of agriculture, political economy and engineering.

है और उसकी समझ में इनकी कार्यवाहियों से जिले की शान्ति तथा उन्नति में बाधा पड़ती है, तो वह इसकी सूचना राज्य की सरकार को दे सकता है। यदि कलेक्टर का कार्य अपने जिले में अत्यन्त सराहनीय है और उसे शासन के अनेक अनुभव प्राप्त हैं तो वह कमिश्नर अथवा गवर्नर का पद प्राप्त कर सकता है।

जिले का कलेक्टर अपनी सीमा में किसी बादशाह से कम नहीं है। उसकी प्रतिष्ठा और आत्म-सम्मान का जिसने अध्ययन किया है वह इसे अच्छी तरह समझ सकता है। उसके सरकारी अधिकार भले ही सीमित हों, परन्तु जिले की जनता उसके साथ रहती है। बड़े बड़े धनी मानी लोग उसकी मुट्ठी में होते हैं। किसानों की दशा वह भली भाँति अध्ययन कर उसमें काफी उन्नति कर सकता है। छोटे छोटे ग्राम व्यवसाय को वह उन्नति दिला सकता है। अपने रचनात्मक विचारों को कार्यान्वित करने के लिये वह सामग्री एकत्र कर सकता है। लेकिन साथ ही यदि वह विलासी हुआ, और रात दिन अपने बंगले में पड़ा रहा, तो उसके विचारों से जिले को कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अत्यंत परिश्रमी और दृढ़ विचार वाला होना पड़ता है। कागजी कारवाइयाँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी बाहरी देख-रेख। उसे हर समय इस बात पर दृष्टि रखनी पड़ती है कि जिले में कोई विशेष दलबन्दी अथवा वैर-भाव पैदा न हों। विशेष कर वर्तमान राष्ट्रीय उत्थान के युग में उसे और भी सचेत रहना पड़ता है। एक ओर उसे जनता की सेवा का ध्यान होता है और दूसरी ओर अपने बड़े अफसरों की आज्ञायें माननी पड़ती हैं। उसे हर प्रकार के लोगों से मिलने का अवसर मिलता है। सबके मानसिक अध्ययन की छाप उसके मस्तिष्क पर गहरी पड़ती है।

राजनीतिक संगठन की मशीन उसके हाथ से बाहर है। जिले की सीमा में वह कमी-बेशी नहीं कर सकता। शासन प्रबन्ध के ढाँचे को बदलने का उसे अधिकार नहीं है। फिर भी अपने प्रभाव से वह जिले में बहुत कुछ कर सकता है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड के ऊपर उसके व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ता है। इन दोनों के सहयोग से जिले की शिक्षा, सफाई, सड़कें तथा शान्ति में विशेष रूप से वृद्धि की जा सकती है; जिले के सभी सरकारी कर्मचारियों पर अधिकार होने से वह जिस प्रकार की व्यवस्था चाहे कर सकता है। इञ्जीनियर, डाक्टर, पुलीस सुपरिन्टेन्डेन्ट, खजानची इत्यादि सब उसकी सलाह से काम करते हैं। यदि वह किसी वस्तु में विशेष रुचि रखता है तो उसके प्रचार के लिये

वह बहुत कुछ कर सकता है। उसके मन में कोई लाभदायक योजना आवे तो वह सरलता पूर्वक काम में लाई जा सकती है।

कलेक्टर के न्याय सम्बन्धी अधिकार

अपने जिले में प्रधान कार्यपालिका के अतिरिक्त उसे न्याय विभाग का भी कुछ कार्य करना पड़ता है। वह पहले दर्जे का मजिस्ट्रेट कहलाता है। जिले में जितने मजिस्ट्रेट हैं वे सब इसकी अधीनता में कार्य करते हैं। मजिस्ट्रेट की हैसियत से उसे यह अधिकार है कि किसी अपराधी को दो वर्ष जेल और १००० रुपया जुर्माना कर सके। ऐसा इसलिये किया गया है कि अपनी सीमा के अन्दर वह पूर्ण शान्ति रख सके। यदि लोगों को इसका भय न हो, तो कोई इससे प्रभावित नहीं हो सकता। जिले की सारी पुलीस इसके अधिकार में है। वह जिसे चाहे गिरफ्तार कर उस पर कोई अभियोग लगाकर मुकदमे चला सकता है। पुलीस सुपरिन्टेन्डेन्ट उसे इस बात की सूचना देता रहता है कि जिले में शांति की क्या व्यवस्था है, या अपराधियों को मात्रा कितनी है। थानों की सहायता से गाँव गाँव की रिपोर्ट उसे हर समय मिलती रहती है। यदि पुलीस किसी व्यक्ति को अपराधी ठहराये तो कलेक्टर मुकदमा चला कर उसे जेल में डाल सकता है। ऊपर कहा गया है कि कलेक्टर की हैसियत से उसका काम सारे जिले की मालगुजारी वसूल करना है। लेकिन इसके अतिरिक्त उसे राज्य की सरकार को भूमि तथा खेती सम्बन्धी और भी सलाहें समय समय पर देनी पड़ती हैं। किसानों की समस्या भारत की समस्याओं की है। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि भारत की उन्नति में कलेक्टर का कितना हाथ है। किसानों और जमींदारों के बीच में जितने झगड़े पैदा होते हैं उनका निपटारा यही करता है।

पुलीस और जेल दोनों उसके हाथ में रक्खे गये हैं। उसके न्याय सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा अन्य न्यायाधीशों से अधिक हो सकती है। गाँवों के लोग पुलीस को सरकार का दाहिना हाथ समझते हैं। लाल पगड़ी उनके लिये काल के समान थी। राष्ट्रीय भावना के कारण यह भय बहुत कुछ कम हो चला है, लेकिन फिर भी इस विभाग की कड़ाइयों से हर आदमी डरता है। जहाँ तक जेल की बात है, राजनीतिक कैदियों को छोड़ कर बाकी सभी लोग इसे नरक समझते हैं। कोई व्यक्ति ऐसा न होगा जो जेल का जीवन पसन्द करे। अपराध करने पर भी लोग जेलों में जाने से डरते हैं। कलेक्टर इन दोनों कुंजियों को अपने

हाथ में रखता है। किसी की हिम्मत नहीं है जो उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करे।

कलेक्टर को न्याय सम्बन्धी अधिकार पहले पहल लार्ड कार्नवालिस के समय में दिये गये। उसने पहले इसे बंगाल प्रान्त में आरम्भ किया और फिर बाद में इसकी नकल और सूबों में की गई। न्यायाधीश और कलेक्टर के पद एक में जोड़ दिये गये। कलेक्टर का पद वारेन हेस्टिंग्ज के समय से आरम्भ किया गया है। जब कम्पनी ने बंगाल की दीवानी अपने हाथ में ली तो उसे इस पद की आवश्यकता हुई। बहुत दिनों तक मजिस्ट्रेट और कलेक्टर के स्थान एक दूसरे से भिन्न थे। कलेक्टर को आरम्भ में कोई मुकदमा फैसल करने का अधिकार न था। अपने जिले में उसका पद मजिस्ट्रेट से बड़ा होता था। उसका वेतन भी अधिक था। मजिस्ट्रेट उन्नति करके कलेक्टर हो जाया करते थे। मजिस्ट्रेट को उतना अनुभव नहीं होता था जितना कलेक्टर को। इससे काम में असुविधा होती थी। इस कमी को दूर करने के लिये दोनों का पद एक में सम्मिलित कर दिया गया। तब से बराबर ये दोनों पद एक के हाथों में चले आ रहे हैं। कहा जाता है कार्य रूप में वह मुकदमे फैसल करने का काम कम करता है, उसका कार्य अन्य मजिस्ट्रेटों की कारवाइयों की देख-भाल करना है। सारांश यह है कि कलेक्टर स्वयं किसी सरकार से कम नहीं है।[1]

जिले में सरकारी कोष पर उसका अधिकार होता है। भूमि-कर सम्बन्धी रुपये-पैसे की अपील उसके पास की जाती है। यद्यपि उसे प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट का अधिकार दिया गया है, परन्तु उसकी कचहरी में बहुत कम नये मुकदमे पेश किये जाते हैं। कारण यह है कि उसके पास इतने अधिक काम हैं कि वह दफ्तर में बैठकर उन्हें पूरा नहीं कर सकता। अकसर अपने जिले में उसे इधर उधर जाने की आवश्यकतायें पड़ती हैं। उसकी कचहरी में अपील के मुकदमे अधिक आते हैं। तहसीलदारों तथा अन्य मजिस्ट्रेटों के फैसलों की अपील उसके यहाँ की जाती है।

१—In short, the Collector-Magistrate is the eye and ear of the state Government and to the People, who have to look up to him in everything, he is Government itself.

कलेक्टर के उत्तरदायित्व की कोई सूची नहीं बनाई जा सकती। जिले की मालगुजारी और न्याय के अतिरिक्त उसे और भी काम करने पड़ते हैं। चीजों का भाव उसे समझना पड़ता है और इसी हिसाब से वह खेती की आमदनी का अनुमान करता है। राज्य की सरकार को अच्छे और बुरे मौसमों की उसे सूचना देनी पड़ती है। खेती के लिये किसानों को वह कर्ज देता है। अपने जिले की एक एक बात उसे राज्य की सरकार को बतानी पड़ती है।[1] किसी किसी जिले में उसे छोटी छोटी रियासतों का भी प्रबन्ध करना पड़ता है। यदि किसी ताल्लुकेदार की सम्पत्ति नाबालिग के हाथ में है तो कलेक्टर को उसे सँभालना पड़ता है। बड़े बड़े विशेषज्ञ अपनी जानकारी को पुष्ट करने के लिए उससे सलाहें लेते हैं। जिले में अनेक सभायें तथा संगठन होते रहते हैं। वह इनकी कार्रवाइयों में सम्मिलित हो सकता है। किसी न किसी प्रकार से इनके कामों की ओर उसे दृष्टि रखनी पड़ती है। उसे यह अधिकार है कि वह किसी भी सभा-सोसाइटी में भाग ले सके। कोई संगठन उसे निमंत्रित भले ही न करे, परन्तु वह अपने अधिकार से उसकी पूरी जानकारी प्राप्त कर सकता है। जब कोई विशेष व्यक्ति किसी जिले में पदार्पण करता है तो उसकी सूचना सबसे पहले कलेक्टर को दी जाती है। उसका स्वागत करने का अधिकार उसे दिया गया है। यदि वह खाली नहीं है तो अपनी इच्छा से कार्य को किसी और को दे सकता है। जिले में जो कुछ भी आपत्तियाँ आयें उन सबको उसे निवारण करना पड़ता है। रोम-निवासियों की एक कहावत के अनुसार सरकार का सारा उत्तरदायित्व उसके ऊपर रक्खा गया है।[2] वह कामों को भले ही

कलेक्टर के अन्य उत्तरदायित्व

१—He must keep the Government informed of the condition of his district, and of all notable occurrences therein, from meetings of the Indian National Congress to cattle fairs.

२—Whatever the trouble may be, the district officer must see to it. In the old Roman Formula, he must take care that the state suffer no harm. He may divide the work, but he cannot divide the responsibility.

कुछ सहायकों में विभाजित कर दे, परन्तु अपने उत्तरदायित्व को नहीं बाँट सकता।

रजिस्ट्रार की हैसियत से कलेक्टर को विवाह के लिये बुलाया जा सकता है। कोई स्त्री या पुरुष विवाह करने पर कटिबद्ध हैं तो वे उसके बंगले पर जाकर अपनी इच्छा प्रकट कर सकते हैं। एक ओर उसे सैनिक वस्त्र में चोर और डाकुओं का पीछा करना पड़ता है, लड़ाई और दंगों को शान्त करना पड़ता है, और दूसरी ओर किसानों की भलाई सोचनी पड़ती है, जिले के सभी समुदायों की भलाई का ध्यान रखना पड़ता है, अकाल और महामारी में उन्हें सहायता पहुँचानी पड़ती है तथा शांत और गंभीर भाव से बड़े बड़े लोगों के उत्सव में सम्मिलित होना पड़ता है। हर छोटे बड़े से उसे तरह तरह की बातें मालूम करनी पड़ती हैं।

प्रातःकाल वह लोगों से मिलने-जुलने में अपना समय व्यतीत करता है। यदि अवसर मिला तो कुछ बाहरी जाँच-पड़ताल भी करता है। वह कचहरी भी जाता है, लेकिन न्याय विभाग के अन्य कर्मचारियों की तरह वह १० से ४ तक वहाँ नहीं बैठ सकता। अधिक से अधिक ३ या ४ घंटे वह कचहरी में मुकदमों की कार्रवाई सुनता है। कचहरी के बाद वह डाक पर दृष्टि डालता है। जितनी चिट्ठियाँ आई रहती हैं उन सब के जवाब भले ही न लिखे, परन्तु उन्हें समझने का उत्तरदायित्व उसे दिया गया है। इनके अतिरिक्त उसे स्वयं कुछ अपनी निजी चिट्ठियाँ भेजनी पड़ती हैं। जब इससे छुट्टी मिली तो निमंत्रण-पत्रों की ओर उसकी दृष्टि जाती है। कई जगहों से सभा-सुसाइटियों में सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रण पत्र आये रहते हैं। यदि उसे आवश्यकता मालूम होती है तो सब काम बन्द करके एक दो जलसों में सम्मिलित होता है। उसके लिये यह असम्भव है कि वह सब में सम्मिलित हो सके। सरकारी आज्ञाओं के अतिरिक्त, जनता की माँग पर भी उसे दृष्टि रखनी पड़ती है। उसका टेलीफोन सबेरे से ११ बजे रात तक फँसा रहता है। उसकी चिट्ठियों की टोकरियाँ भरी रहती हैं। कानूनों में परिवर्तन की सूचनायें इतनी अधिक आती हैं कि उस पर उसे घंटों विचार करना पड़ता है। जिले में हर समय सरकार की ओर से कोई न कोई योजनायें कार्यान्वित होती रहती हैं। इन सब में उसे अपनी सलाह देनी पड़ती है। विधान-मंडल में जितने प्रश्न पूछे जाते हैं अथवा प्रस्ताव पास किये जाते हैं उनमें बहुतों का जवाब उसे देना पड़ता है।

इन बातों से स्पष्ट है कि कलेक्टर को कागजी कार्यवाहियाँ अधिक करनी पड़ती हैं। जिले की दौड़ान में भी चिट्ठियों का ढेर उसका पीछा नहीं छोड़ता। इससे शासन में सहायता भले ही मिले लेकिन जनता की वास्तविक भलाई में बाधा पड़ती है। अपनी दौड़ान में ही उसे जनता से सम्पर्क प्राप्त करने का अवसर मिलता है। वहीं उसे अपने अधीन कर्मचारियों की देख-रेख करनी पड़ती है। अच्छा होता कि उसका अधिकतर समय जनता की भलाई और सरकारी कर्मचारियों की कार्य कुशलता के निरीक्षण में व्यतीत होता। परन्तु सरकारी कागजात वहाँ भी उसका पीछा नहीं छोड़ते। उसका ध्यान गाँवों की ओर कम जाने पाता है। यदि उसकी दौड़ान में कागजी कार्यवाहियाँ किसी और को सौंप दी जायँ तो वह जिले को अधिक लाभ पहुँचा सकता है। दौड़ान में उसे हर प्रकार की स्वतन्त्रता रहती है।[1] एक बार किसी कलेक्टर ने एक सैनिक पेनन्सर से पूछा, 'तुम्हारे पड़ोस में शान्ति तो है।' पेन्शनर ने जवाब दिया, "चारों ओर अशान्ति है। आप समझते हैं कि जिला आपके शासन में है, लेकिन आपको मालूम होना चाहिये कि आजकल दरिद्र नारायण का राज्य है।" इस जवाब से कलेक्टर भौचक्का-सा रह गया और पेन्शनर को साथ लेकर दौरा आरम्भ कर दिया।

कलेक्टर के दोहरे अधिकारों की मीमांसा

इस प्रकरण को समाप्त करने के पहले यह आवश्यक है कि कलेक्टर के दोहरे अधिकार पर एक दृष्टि डाली जाय। आज लगभग ८० वर्षों से इस विषय पर वाद-विवाद हो रहे हैं, परन्तु अभी तक इसका अन्तिम निर्णय नहीं हुआ। यह कहा जाता है कि कलेक्टर और मजिस्ट्रेट के पद एक व्यक्ति को नहीं मिलने चाहिये। इससे प्रजा की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है, साथ ही उसके अधिकारों पर आघात होता है। जो व्यक्ति कार्यपालिका विभाग का प्रधान हो वही निर्णय भी दे, यह बात कुछ समझ में नहीं आती। सभी इस बात से सहमत हैं कि ये दोनों पद एक दूसरे से अलग होने चाहिये। १८६६ ई० में बृटेन के कुछ प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने, जिनमें लार्ड हावहाउस, सर रीचर्ड गार्थ, सर चार्ल्स सारजेन्ट के नाम उल्लेखनीय

१—In camp, he sees with his own eyes, hears with his own ears, and smells with his own noe, and thereby gains much useful information.

है, भारतमन्त्री से यह प्रार्थना की थी कि कलेक्टर और मजिस्ट्रेट के पद एक दूसरे से अलग कर दिये जायँ। इन दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों को एक के हाथ में रहने से जो हानियाँ हो सकती हैं उनका वर्णन किया गया था। कुछ लोगों ने इसका विरोध भी किया था। तब से बराबर इस पर वादविवाद होते रहते हैं और जितनी बातें पक्ष और विपक्ष में कही जा सकती हैं, लगभग सभी कही जा चुकी हैं। उन सबके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं है। जो लोग इसके पक्षपाती हैं वे कहते हैं कि इन दोनों पदों को एक के हाथ में रहने देना चाहिये। इससे न्याय में सुविधा होती है और जिले का शासन अधिक कुशलता-पूर्वक किया जाता है। कलेक्टर की शक्ति इससे दूनी बढ़ जाती है। यदि ये दोनों प्रकार के कार्य अलग कर दिये जायँ तो बेकार का खर्च बढ़ेगा। लेकिन ये दलीलें गलत ठहराई गई हैं और बहुमत से यह बात निश्चित की गई है कि ये दोनों पद दो व्यक्तियों को मिलने चाहिये।

किसी राजनीतिज्ञ का कहना है कि थोड़े समय तक एक सीमित क्षेत्र में इन दोनों पदों को अलग करके यह अनुभव कर लिया जाय कि कहाँ तक इस प्रश्न में तत्व है। १६०८ ई० में सर हारवे एडमसन ने वाइसराय की कौंसिल में यह घोषित किया था कि सरकार इन पदों को अलग करने पर विचार करेगी। कुछ गैरसरकारी सदस्यों ने एक प्रस्ताव भी पास किया था कि सरकार इन्हें अलग कर दे। परन्तु सरकार की नीति में कोई अन्तर न पड़ा। २४ फरवरी सन् १६३६ ई० को उत्तर-प्रदेश के न्याय विभाग के मन्त्री डाक्टर कैलाशनाथ काटजू ने असेम्बली में प्रस्ताव पेश किया कि ये दोनों पद एक दूसरे से अलग होने चाहिये। असेम्बली के कुछ सदस्यों ने इसका काफी विरोध किया। एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'यह योजना एक खिचड़ी है।'[1] परन्तु कांग्रेस के सदस्यों ने इसका समर्थन किया। वे इस बात पर बल देते रहे कि 'न्याय और शासन का प्रबन्ध अलग कर दिया जाय।' सदस्यों का यह भी कहना था कि, "जिस ढंग पर कचहरियों में फैसले

१—It seems to me that the scheme, as put forward, is a kind of Khichari palatable in some parts but distasteful in othere. It is neither fish nor fowl nor good red berry. It is a jumble of executive and judicial functionc.

किये जाते हैं उनमें हर हालत में अन्याय होता है। पुलीस के चालानी मुकदमों में मजिस्ट्रेट को स्वतन्त्रता के साथ फैसला करना कठिन हो जाता है। एक कान्स्टेबुल की बात रखने के लिये मजिस्ट्रेट और सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस तक न्याय का गला घोटने के लिये तैयार हो जाते हैं। न्याय संबंधी मामलों का फैसला मुंसिफ की कचहरियों द्वारा कराया जाय, क्योंकि वे कलेक्टर के प्रभाव से बाहर रहते हैं। जो कचहरी वारंट जारी करती है, और जिसके द्वारा गिरफ्तारियाँ होती हैं, उसे फैसला का अधिकार नहीं मिलना चाहिये।"

सच्ची बात यह है कि कार्यपालिका और न्याय को एक में सम्मिलित करने से एक बहुत बड़ा अन्याय किया गया है। बृटिश सरकार की नीति अधिकार को एक सूत्र में बाँधने की रही है। कलेक्टर को यह अधिकार देकर यह बात सरल कर दी गई थी कि जब जिसे आवश्यकता समझी जाय कानून के पंजे में फँसा लिया जाय। एक ओर तो कलेक्टर पुलीस से गिरफ्तारी करवाता है और दूसरी ओर स्वयं उसका निर्णय करता है। अर्थात् जो व्यक्ति मुकदमा चलाता है वही स्वयं जज बनकर उसे फैसला भी करता है। इससे पुलीस के अधिकारों की वृद्धि होती है और न्याय में अन्तर पड़ता है। कलेक्टर के सभी निर्णय ईश्वर के वाक्य समझे जाते हैं। कांग्रेस आरम्भ से ही इस बात की माँग करती रही है कि ये दोनों पद एक दूसरे से अलग कर दिये जायँ। १९२२ ई० में स्टुअर्ट कमीटी इस कार्य के लिये नियुक्त की गई थी कि वह इस पर गहराई के साथ विचार करे। कमीटी ने यह सलाह दिया कि इन दोनों प्रकार के अधिकारों को अलग करना आवश्यक है। कमीटी के कथनानुसार सरकार का शासन व्यय इससे ३ या ३½ लाख रुपया सालाना बढ़ जाता है, परन्तु राज्य की सरकार इतने व्यय को सहन कर सकती है। जब यह बात सर्वसम्मति से मान ली गई है कि सरकार के तीनों विभाग—कार्यपालिका, विधान-मण्डल और न्याय—अलग अलग रहने चाहिये तो फिर उन्हें एक में मिलाने की क्या आवश्यकता है? उत्तर प्रदेश की असेम्बली में किसी सदस्य ने इसका उत्तर देते हुये कहा था, "बृटिश गवर्नमेंट और कांग्रेस गवर्नमेंट के ढंग में पृथ्वी व आकाश का अन्तर है। अब तक जो कानून बने हैं वे सब के सब बृटिश गवर्नमेंट के बनाये हुये हैं और उनमें इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि वे कौन कौन से मार्ग अथवा कानून हो सकते हैं, जिनसे हम भारतीय प्रजा को कानूनी पंजे में जकड़ कर उसको किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न दें।"

, बृटिश शासन समाप्त हो गया। भारतीय जनता एक स्वतन्त्र वातावरण में रह रही है। इसलिए उन सभी कानूनों में संशोधन होने चाहिये जिनसे हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता में बाधायें पड़ती हैं। देश और विदेश के प्रमुख राजनीतिज्ञों का मत है कि जिले का शासन-प्रबन्ध सम्पूर्ण भारतवर्ष के शासन प्रबन्ध की नीव है।[1] इतना स्वीकार करते हुये भी यदि जिले के प्रधान शासक के अधिकारों में सुधार नहीं किया जाता तो यह हमारी सबसे बड़ी भूल है। इधर कुछ वर्षों से कागजी कार्यवाहियों की वृद्धि के कारण जिले का शासन और भी बढ़ गया है। कलेक्टर को दौड़ा करने की छुट्टी कम मिलती है। इससे वह जनता की असली दशा से अनभिज्ञ रहता है। अतएव उसके पद में दो प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है। एक तो उसे मजिस्ट्रेट का काम न दिया जाय। मुकदमे फैसला करने के लिये दूसरे पदाधिकारी नियुक्त किये जायें। दूसरे प्रकार का सुधार यह होना चाहिये कि उससे कागजी काम कम कराया जाय। उसे जिले का दौड़ा करने का अधिक से अधिक अवसर मिलना चाहिये जिससे वह जनता के सुख दुख से परिचित हो सके।

भारत के प्रायः सभी राज्यों में यह नीति वर्ती जाने लगी है कि कलेक्टर और मजिस्ट्रेट के पद अलग किये जायँ। उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में अनुभव के रूप में दोनों पद अलग कर दिये गये हैं। मुकदमों का फैसला करने के लिये जुडीशियल मजिस्ट्रेट रक्खे गये हैं। सरकार का विचार है कि क्रमश सभी जिलों में यही व्यवस्था चालू कर दी जाय। इससे कलेक्टर का कार्य बहुत कुछ हल्का हो जाता है। वर्तमान युग में प्रशासन (Administration) कार्य बहुत ही बढ़ रहा है। कलेक्टर को इसी की देख रेख करनी चाहिये। न्यायालय में बैठकर वह अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता के पश्चात् प्रायः सभी जगहें भारतीयों को दी जाने लगी हैं। भारतीय रीति रवाज, सभ्यता तथा स्थानीय परम्पराओं से अनभिज्ञ रहने के कारण अंग्रेज कलेक्टर बहुत कुछ जनता की दशा से अपरिचित रहते थे। भारतीय कलेक्टर ऐसा नहीं कर सकता। वह अपने देश की सारी बातों से परिचित है और उसे इस बात का उत्साह है कि किस प्रकार जनता के स्तर को ऊपर उठाया जाय।

१—The efficient administration of the district is the first condition for the proper Government of India.

साथ ही नई नई सरकारी योजनाओं को भी उसे समझना पड़ता है। इस परिवर्तन के समय उसे बहुत ही सतर्क रहना पड़ता है। इसीलिये उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ा हुआ है।

जिले का विभाजन तथा अन्य कर्मचारी

प्रत्येक जिले में ३ से ८ तक तहसीलें होती हैं। इनका उत्तरदायित्व तहसीलदार को दिया गया है। उसे सहायक मजिस्ट्रेट भी कहते हैं। इनका काम मालगुजारी वसूल करके कलेक्टर के पास भेजना होता है। इसके अतिरिक्त ये मुकदमे भी फैसला करते हैं। कुछ मुकदमों को फैसला करने का अधिकार अवैतनिक मजिस्ट्रेट को है, जो हर तहसील में तीन या चार के लगभग होते हैं। तहसील को परगना भी कहते हैं। तहसीलदार परगना हाकिम भी कहलाता है। तहसील का विभाजन थानों में किया गया है। थाने का मालिक थानेदार कहलाता है। हर गाँव की सूचना थानेदार को रखनी पड़ती है। गाँवों के प्रबन्ध के लिये हर गाँव में एक ग्राम पंचायत होती है। इसमें ५ या सात सदस्य होते हैं। गाँव का मुखिया इसका प्रधान होता है। रात में गाँव की रखवाली करने के लिये चौकीदार रक्खे गये हैं। एक चौकीदार ५ या ६ गाँवों की रखवाली करता है। इसका पद पैत्रिक होता है। सरकारी विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों में यही एक ऐसा कर्मचारी है जिसका पद पैत्रिक (Hereditary) है। गाँवों की खेती का ब्यौरा रखने तथा खेतों की पड़ताल आदि करने के लिये पटवारी होता है। इसका भी पद कभी कभी पैत्रिक होता है। एक पटवारी के मर जाने पर उसके लड़के को यह पद दे दिया जाता है। पटवारी को गाँव का कोषाध्यक्ष (Village accountant) भी कहते हैं। किसी समय में यह हर गाँव की आमदनी और खर्च का हिसाब रखता था, परन्तु अब ऐसा नहीं है। आरम्भ में इसे वेतन नहीं दिया जाता था। गाँव के प्रत्येक घर से इसे अन्न और कुछ पैसे दिये जाते थे। लेकिन अब इसे २५ या ३० रु० मासिक वेतन दिया जाता है। इस प्रकार गाँव से लेकर जिले का शासन-प्रबन्ध किया जाता है। इन विभिन्न पदाधिकारियों का सूक्ष्म वर्णन इसलिये किया गया है कि यथास्थान फिर इनका विस्तृत वर्णन किया जायगा।

अध्याय १४

स्थानीय स्वशासन

(Local Self-Government)

स्थानीय स्वशासन की आवश्यकता

स्थानीय स्वशासन अथवा स्वायत्त-शासन का स्वरूप सभी देशों में एक सा नहीं मिलता। कहीं-कहीं तो एक ही देश में स्थानीय संस्थाओं को सभी जगह एक से अधिकार नहीं दिये गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति वा सगठन को उसकी योग्यतानुसार स्वतन्त्रता दी जाती है। साथ ही यह भी निश्चित है कि जब तक स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की जाती तब तक कोई संस्था अपने आपको उन्नतिशील नहीं बना सकती। इन्हीं दोनों कारणों से स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था की गई है। यदि सभी कार्य सरकारी कर्मचारी करते रहें, और जनता को किसी प्रकार का उत्तरदायित्व न दिया जाय, तो शासन में अनेक बुराइयाँ पैदा हो जायेंगी। नौकरशाही से हमें काफी हानियाँ उठानी पड़ती हैं। जनता जितनी ही कूप-मंडूक होती है उतनी ही नौकरशाही उसके लिये घातक सिद्ध होती है। कोई सरकार, चाहे वह जनता की ही क्यों न हो, अपने आपको इससे वंचित नहीं रख सकती। राज्य का विस्तार काफी बड़ा होता है। विशेष कर वर्तमान युग में राज्यों की सीमा इतनी बड़ी है कि नौकरशाही की धौंस से बचना कठिन है। कुछ तो इसकी बुराइयों से बचने के लिये और कुछ राज्य की उन्नति के लिये स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था की गई है। यदि जिले का शासन-प्रबन्ध कलेक्टर और तहसीलदारों को सौंप दिया जाय तो सरकार की शक्ति कम नहीं हो सकती, लेकिन जनता को इस बात का अवसर नहीं मिल सकता कि वह अपनी घरेलू बातों को अपने आप देखे और समझे।

राज्य की सीमा बड़ी होने से सरकार एक स्थान से उसका प्रबन्ध अच्छी तरह नहीं कर सकती। हर समय सतर्क रहने के अतिरिक्त उसे व्यय भी अधिक करना पड़ेगा। इतने पर भी जनता तब तक सन्तुष्ट नहीं रह सकती जब तक उसे शासन सम्बंधी- कुछ अधिकार न दिये जायँ। अधिकारों

के प्रयोग के लिये उसे एक ऐसा क्षेत्र मिलना चाहिये जिसमें वह उन्हें कार्यान्वित कर सके। उदाहरणतः डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्ड का प्रबन्ध जनता को इसीलिये दिया गया है कि वह इन्हें अपने अधिकारों का क्षेत्र बनाये। साथ ही सरकार को भी कुछ सुविधा हो। जिन कामों के लिये सरकार को पैसे खर्च करने पड़ते, और सैकड़ों नौकर रखने पड़ते, उन्हीं कामों को इन बोर्डों के अन्दर लोग अपनी इच्छा से कार्य करने के लिये तैयार रहते हैं। मुहल्लों तथा गाँवों की सफाई रखना सरकार के लिये उतना आवश्यक नहीं है जितना वहाँ के निवासियों के लिये। यदि लोग सफाई के महत्व को समझ जायँ तो वे अपने आप गन्दगी से परहेज करने लगेंगे। सफाई-इन्सपेक्टर की कोई विशेष आवश्यकता न होगी। यदि लोग गन्दगी के दास हों तो सैकड़ों इन्सपेक्टर उन्हें साफ नहीं रख सकते। स्थानीय स्वशासन इसी आत्म-निर्भरता की शिक्षा देता है। दैनिक जीवन की आवश्यकतायें सबको मालूम हैं। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों में इतना उत्तरदायित्व आजाय कि वे बिना किसी भय के उन्हें पूरा करने लगें। इस प्रकार के भाव तभी पैदा होंगे जब जनता को धीरे-धीरे सभी राजनीतिक शक्तियाँ सौंप दी जायँ। जहाँ तक स्थानीय विषयों का सम्बन्ध है, यह बात निर्विवाद है कि जनता इनका प्रबन्ध अच्छी तरह कर सकती है। अपनी शिक्षा, सफाई, दवा तथा इस तरह की छोटी-छोटी चीजों के लिये उसे पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। सरकार स्थानीय संस्थाओं को इतना धन दे कि वे अपने क्षेत्र को सुसंगठित और आदर्श बना सकें। यदि राज्य का कोना-कोना इसी प्रकार के शासन के अन्तर्गत आ जाय तो सरकार की चिन्तायें बहुत कुछ दूर हो जायँ।

सरकार को सबसे बड़ी चिन्ता आन्तरिक व्यवस्था और वाह्य आक्रमण की होती है। पहली चिन्ता को दूर करने के लिये उसे तरह-तरह के कानून बनाने पड़ते हैं, कचहरियों को स्थापना करनी पड़ती है और अनेक कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते हैं। वाह्य आक्रमण तो कभी-कभी होते हैं, और इसके लिये उसका सैनिक विभाग काफी होता है। किसी असाधारण परिस्थिति में जनता की सहायता लेनी पड़ती है, परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं। राज्य की नींव आन्तरिक व्यवस्था पर स्थापित है। यह व्यवस्था तब तक नहीं की जा सकती जब तक जनता और सरकार दोनों का सहयोग प्राप्त न हो। कुछ कामों को सरकार अपने कर्मचारियों से कराये और इसके लिये वह प्रजा से टैक्स वसूल करे। लेकिन स्थानीय कामों को वह वहीं के निवासियों को सौंप दे। इसके लिये जितने पैसे की आवश्यकत

हो सरकार उतने की व्यवस्था करे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत कुछ काम बिना पैसे के ही हो सकता है। सरकार को इसके लिये बेगार कराने की आवश्यकता न होगी। लोग अपनी प्रसन्नता से इन कामों को करेंगे। मान लीजिये गाँवों के साधारण झगड़ों को फैसल करने के लिये पंचायतें बना दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त पंचायत को गाँव की सफाई तथा पूरे प्रबन्ध का उत्तरदायित्व सौंप दिया जाता है। उसे उचित साधन भी प्रदान कर दिये जाते हैं। ऐसा करने से कचहरियों की आवश्यकता कम होंगी। ५० प्रतिशत मुकद्मे गाँवों में ही तै हो जाया करेंगे। वकील, मुख्तार, मुहर्रिर तथा न्यायालयों के अन्य कर्मचारी को जो पैसे मिलते हैं वे जनता की ही जेब में रहेंगे। इससे बढ़ कर शासन की उपयोगिता हो ही क्या सकती है। इसी तरह के और भी उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं को सौंप कर सरकार आन्तरिक प्रबन्ध से बहुत कुछ निश्चिन्त रह सकती है।

स्थानीय स्वशासन सुसंगठित राष्ट्र की पहचान है। जिस मात्रा में सरकार जनता का विश्वास करेगी उसी हद तक वह उसे शासन-प्रबन्ध में स्वतन्त्रता प्रदान करेगी। जो सरकार भलाई से उदासीन है वह शासन की उपयोगिता पर ध्यान नहीं दे सकती। स्थानीय स्वशासन की स्थापना से सरकार का व्यय घटाया जा सकता है। कम से कम खर्च करके वह अधिक से अधिक लोकप्रिय बन सकती है। बहुत से टैक्स, जो प्रजा से वसूल किये जाते हैं, बन्द कर देने होंगे। एक पन्थ दो काज होगा। प्रजा का धन बचेगा और उसका उत्तरदायित्व बढ़ेगा। तीसरे, देश की आंतरिक व्यवस्था सुदृढ़ होगी। जनता को इस बात का अवसर मिलेगा कि वह अपने विचारों का प्रदर्शन करे। शासन का भार सँभालने से उसे अनेक प्रकार की ट्रेनिंग प्राप्त होगी। छोटी-छोटी बातों से हटकर उसका ध्यान बड़ी बातों की ओर आकर्षित होगा। जनता के अन्दर आत्मनिर्भरता और स्वावलम्बन के भाव पैदा होंगे। तात्पर्य यह है कि जनता और सरकार के बीच में सहयोग का एक ऐसा भाव पैदा होगा जिससे अशान्ति और कुव्यवस्था का प्रश्न जाता रहेगा। स्थानीय स्वशासन का क्षेत्र कम है; लेकिन इसका प्रभाव बहुत ही व्यापक है। बड़ी से बड़ी बातों को जनता अपने सहयोग से सुलझा सकती है। स्थानीय संस्थाओं का जाल देश के कोने-कोने में फैला हुआ है। सच्चे प्रजातंत्रवाद की उन्नति तभी हो सकती है जब सरकार के आन्तरिक प्रबन्ध इन्हीं संस्थाओं द्वारा कराये जायँ। वह केवल इस बात की देख-रेख रक्खे कि ये आपस में मिल कर काम करती रहें। जब कभी इनमें मतभेद उत्पन्न हो तो वह इसे दूर करे। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार का कार्य

जनता के उत्तरदायित्व के रूप में परिणत हो जायगा। सरकार स्वयं गौण हो जायगी। चारों ओर स्थानीय संस्थायें दिखाई पड़ेंगी।

स्थानीय स्वशासन सरकार की चिन्तायें कम करने के अतिरिक्त जनता के अन्दर स्वाभिमान और लोक-लज्जा का भाव पैदा करता है। हर काम में लोगों की इच्छा रहती है कि यह और अच्छी तरह किया जा सकता है। जब वही काम उन्हें सौंप दिया जाता है तो फिर उन्हें टीका-टिप्पणी का अवसर नहीं रह जाता। जनता को सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यों में रुचि दिलाने के लिये स्थानीय स्वशासन अत्यन्त आवश्यक है। उदासीनता पतन की जड़ है। जहाँ की सरकार जनता की इस मनोवैज्ञानिक चित्तवृत्ति का ध्यान नहीं रखती, वह सदैव असफल रहती है। किसी क्षेत्र के निवासी केन्द्रीय तथा राज्य के विधान-मंडलों से उतना सम्पर्क नहीं रखते जितना अपनी स्थानीय संस्थाओं से। स्थानीय बातों का प्रभाव उनके जीवन पर तत्काल पड़ता है। हर बात उनकी दृष्टि के सामने रहती है। कोई किसी को धोखा नही दे सकता। प्रत्येक जिले के निवासी आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक तथा व्यावहारिक सम्बन्ध के कारण आपस में मिले-जुले रहते हैं। सबकी रहन-सहन का पता चलता रहता है। सरकार उन बातों को हजारों रुपये व्यय करके नही जान सकती जिन्हें वहाँ के निवासी नित्य देखते रहते हैं। अतएव न्याय की दृष्टि से भी स्थानीय स्वशासन नितांत आवश्यक है। किसी स्थानीय घटना का अध्ययन सरकार उतनी अच्छाई के साथ नहीं कर सकती, जैसे ग्राम पंचायतें अथवा जिला या म्युनिसिपिल बोर्ड कर सकते हैं। सरकारी विभागों में कभी-कभी घूसखोरी की चर्चा आती है। छोटी-छोटी बातों में सरकारी कर्मचारी घूस लेकर बातों को इधर से उधर कर देते हैं। लेकिन ग्राम-संस्थाओं के अधिकारों की वृद्धि करने से इस तरह की बुराइयाँ पैदा नहीं हो सकतीं। यदि किसी म्युनिसिपलिटी के अन्दर कोई सदस्य घूस लेकर काम करता है तो वह शीघ्र निन्दा का पात्र समझा जाता है, और उसे सार्वजनिक कामों में स्थान नहीं दिया जाता। दुश्चरित्र और अन्यायी व्यक्ति स्थानीय कार्यों के लिये अयोग्य समझे जाते हैं। सरकार उन्हें इतनी सचाई से नहीं पहचान सकती जितनी जनता उन्हें पहचानती है। इसीलिये कहा जाता है कि सरकारी कामों को शुद्ध रखने का एकमात्र उपाय स्थानीय स्वशासन है।

स्थानीय स्वशासन एक ऐसा विषय है जिस पर कोई निश्चित राय नहीं दी जा सकती। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि इस शब्द का

स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य

कुछ अर्थ ही नहीं है। जिस भाग को पूर्ण स्वतन्त्र कर दिया जाय उसे स्थानीय और प्रान्तीय कहने की ऊपर की क्या आवश्यकता है और यदि उसका सम्बन्ध शक्ति से है तो फिर उसे स्वशासन कैसे कहा जाय। इसीलिये कहा जाता है कि किसी स्थानीय संस्था को पूर्ण स्वशासन नहीं दिया जा सकता। लेकिन ऐसा हो सकता है कि ऊपरी शक्ति उन स्थानीय बातों में हाथ न डाले जिन्हें स्थानीय संस्थायें करने की योग्यता रखती हैं। जो संस्था व संगठन जिस कार्य को अधिक कुशलता-पूर्वक कर सकता है उसे उसका शासन-प्रबन्ध मिलना चाहिये। इससे कार्य सुगम हो जाता है और जनता को अपनी बुद्धि लगाने का अवसर मिलता है। किसी देश में स्थानीय संस्थाओं का क्षेत्रफल निश्चित नहीं किया जा सकता। भौगोलिक परिस्थिति इसका निर्णय करती है। फ्रांस में ३८००० के लगभग स्थानीय संस्थायें (Communes) हैं। जो स्थान म्युनिसिपल बोर्ड और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को प्राप्त है वही इन्हें भी मिला हुआ है। सब का क्षेत्रफल अलग-अलग है। कुछ संस्थाओं (Communes) का क्षेत्रफल केवल १० एकड़ है और कुछ ४०० वर्ग मील के घेरे में फैली हुई हैं। हमारे देश में भी इसी तरह का अन्तर दिखाई पड़ेगा। सभी शहरों में म्युनिसिपल बोर्ड हैं। कुछ की जनसंख्या लाखों में है और कुछ हजार तक ही सीमित हैं।

स्थानीय स्वशासन की परिभाषा करते हुए एक राजनीतिज्ञ लिखता है, "स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य उस सरकार से है जिसके अन्दर सारी जनता को प्रतिनिधित्व द्वारा शासन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो।" यह परिभाषा बहुत ही व्यापक है। जब सभी स्थानीय विषयों में जनता को पूरी स्वतंत्रता मिल जायगी तो पूर्ण स्वतंत्रता इससे कोई अलग चीज नहीं रह जाती। स्थानीय स्वशासन की दूसरी परिभाषा इस प्रकार की गई है, "कुछ विषयों में स्थानीय संस्थाओं को अपनी इच्छानुसार शासन करने का अधिकार प्रदान कर दिया जाता है। इस सीमित क्षेत्र के अन्दर जनता स्वयं अपना प्रबन्ध करती है। इसी का नाम स्थानीय स्वशासन है।" वास्तव में स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य घरेलू स्वतन्त्रता से है। जैसे हर आदमी अपने घर में खाने, पीने, पहनने के लिये स्वतन्त्र है, उसी तरह स्थानीय विषयों में भी उसे कुछ सुविधायें दे दी जाती हैं. जिस क्षेत्र में कुछ व्यक्ति निवास करते हैं वह उनका एक बृहत् कुटुम्ब बन जाता है। वहाँ की छोटी-छोटी बातों से वे अच्छी तरह परिचित रहते हैं। इसीलिये प्रजा की हितैषी सरकार उन्हें यह अधिकार दे देती है कि वे कुछ विषयों

का प्रबन्ध अपने आप कर लें। केन्द्रीय सरकार भी उन्हें कर सकती है, परन्तु वह एक विदेशी मशीन की तरह करेगी। बहुत सम्भव है उस क्षेत्र के लोग उससे सर्वथा असंतुष्ट रहें।

इससे भी बढ़कर स्थानीय स्वशासन एक बहुत बड़े उद्देश्य को पूरा करता है। जनता की यह प्रबल इच्छा रहती है कि अधिक से अधिक राजनीतिक अधिकार उसे प्राप्त हों। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद के अन्दर चाहे जितनी भी त्रुटियाँ मौजूद हों, परन्तु इसका अन्तिम उद्देश्य यही है। लेकिन कोई भी सरकार प्रजा को वहीं तक उत्तरदायित्व दे सकती है जहाँ तक वह इसे निबाहने की क्षमता रखती है। स्थानीय स्वशासन इसकी पहली सीढ़ी है। इसी से प्रजा की जिम्मेवारी तथा कार्य-कुशलता की परीक्षा होती है। जो व्यक्ति १० रुपये को अच्छी तरह खर्च कर सकता है उसे ५० रुपये खर्च करने का अवसर मिल सकता है, परन्तु जिसके अन्दर ४ पैसे सँभालने की शक्ति नहीं है वह किसी बड़ी राशि का उत्तरदायित्व कैसे ले सकता है। यदि वह चाहे तब भी उसे कोई नहीं दे सकता। इसी तरह जब स्थानीय विषयों का अधिकार जनता को दिया जाता है तो यह आशा की जाती है कि वह इन्हें अच्छी तरह चलायेगी। कुछ दिन व्यतीत होने पर इसके कार्य अपने आप प्रकट होने लगते हैं। जनता को स्वयं इस बात का पता चल जाता है कि शासन के कार्य में कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं और उन्हें दूर करने की योग्यता उसके अन्दर कहाँ तक मौजूद है।

स्थानीय स्वशासन का तात्पर्य जनता को अधिक से अधिक संतुष्ट करना है। दूसरे लोग हमारी आवश्यकता को उतना नहीं समझ सकते जितना हम स्वयं समझते हैं। इसलिये यह अच्छा होगा की हम अपने पड़ोसियों की सलाह से अपना प्रबन्ध स्वयं करें। घरेलू बातें छोटी होती हैं, लेकिन वे बड़ी बड़ी बातों से कम महत्व नहीं रखतीं। यदि किसी कुटुम्ब का संगठन बिगड़ जाय और सब लोग अलग अलग होकर मनमानी करने लगें तो सम्भव है अन्य कुटुम्बों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़े। गाँव के गाँव इस उदाहरण से बुरे बन सकते हैं। यह बात सरकार के वश से बाहर है कि जनता की इच्छा के विरुद्ध वह उसे बाँध कर रक्खे। इसीलिये स्थानीय संगठन का महत्व किसी बड़े राजनीतिक संगठन से कम नहीं है। विधान मंडल के भंग हो जाने से, तथा किसी आज्ञा के जारी कर देने से हमारे जीवन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना घरेलू झगड़ों तथा स्थानीय घटनाओं से। भारत के प्राचीन सामाजिक अथवा

राजनीतिक संगठन की ओर आँख उठाकर देखें तो पता चलेगा कि सभी बातें स्थानीय समझी जाती थीं। जब कभी कोई निर्णय होता तो स्थानीय रीति-रवाज का ध्यान रक्खा जाता था। लेकिन आज ऐसा नहीं होता। इसकी व्यवस्था आज दूसरे ढग पर की गई है। यही कारण है कि न्याय और सचाई की अनेक व्यवस्था करने पर भी जनता असन्तुष्ट रहती है। स्थानीय जनता को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिये कि वह अपनी शिक्षा का उचित प्रबन्ध कर सके, अपनी सुविधा के अनुसार सड़कें बना सके, तथा अपनी उन्नति के लिये तरह तरह के कार्य कर सके। इन कामों में लगे रहने के कारण शासन मे अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त होगा। राजा और प्रजा का भेद-भाव नाम-मात्र को शेष रहेगा। स्थानीय स्वशासन ही पचायती राज कहलाता है। इस प्रकार की सरकार अधिक दृढ़ और स्थायी समझी जाती है।

स्थानीय स्वशासन में सुधार

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड के अन्दर बहुत-सी बुराइयाँ मौजूद हैं। पिछले वर्षों में इनका इतिहास बड़ा ही हृदय-विदारक रहा है। १९३७ ई० में जब काँग्रेस ने प्रान्तीय शासन को अपने हाथो में लिया तो उसका ध्यान इन बुराइयों की ओर आकर्षित हुआ। सुधार की अनेक योजनायें पेश की गई। सबने इस बात पर बल दिया कि स्थानीय सस्थाओं का संगठन बदलना चाहिये। मध्यप्रान्त के स्वायत्त शासन-विभाग के मन्त्री श्रीयुत डी० पी० मिश्र ने जो योजना पेश की वह विचार करने योग्य है। खेद है कि कॉग्रेस अभी उसे कार्यान्वित न कर पाई थी कि उसे त्याग पत्र दे देना पड़ा। उत्तर प्रदेश, बम्बई तथा अन्य प्रान्तों में भी सुधार की नई नई योजनायें पेश की गई थीं। सब में इस बात पर बल दिया गया था कि जब तक स्थानीय संस्थाओं का रूप न बदल दिया जायगा तब तक जनता अपने अधिकार से लाभ नहीं उठा सकती। श्रीयुत डी० पी० मिश्र लिखते हैं, "सम्पूर्ण भारत में स्थानीय संस्थाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय है। कुछ इने-गिने दो चार बोर्डों को छोड़कर बाकी सब की आर्थिक दशा बड़ी ही डावाँडोल है। स्थानीय संस्थायें ताने की निशान बन गई हैं। इनमें व्यक्तिगत लड़ाई-झगड़े प्रायः पाये जाते हैं। सदस्यगण जनता के पैसे का दुरुपयोग करने के साथ ही साथ अपना अमूल्य समय व्यर्थ की बातों में खोते हैं। दलबंदियों में पड़कर योग्य से योग्य कर्मचारी निकाल बाहर कर दिये जाते हैं। परिणाम यह है कि स्थानीय संस्थायें बड़ी ही गैर जिम्मेवारी के साथ काम कर रही हैं।"

उत्तर प्रदेश में स्वायत्त शासन के सुधार के लिये जो कमीटी बनाई गई थी उसने वर्तमान संगठन पर शोक प्रकट किया। कमीटी की राय में "स्थानीय संस्थाओं की दशा, विशेषकर गाँवों और कस्बों में बहुत ही निराशाजनक है। जो मशीन इन्हें चला रही है उससे जनता की सार्वजनिक उन्नति नहीं हो सकती। इसके विपरीत लोगों की रहन-सहन में उन्नति करने के लिये ये सभी प्रकार से असफल रही हैं।" स्थानीय संस्थाओं ने जितनी लापरवाही और गैर जिम्मेवारी से काम किया है उसका बुरा प्रभाव आम जनता पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। लोग कर्मचारियों के व्यवहार से अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। किसी भी जिले में प्रेसीडेन्ट तथा बोर्ड के सदस्यों की दशा मालूम की जाय तो पता चलेगा कि लोग उनसे असन्तुष्ट हैं। जो संस्थायें जनता की अधिक भलाई के लिये बनाई गई थीं, और जिनके प्रबन्ध की पूरी शक्ति उन्हीं के हाथों में सौंप दी गई थी, उन्हीं के कारण आपस में वैर-विरोध की बृद्धि हो, यह बात कुछ उलटी जान पड़ती है। कमीटी ने यहाँ तक कहा था कि "जिला और म्युनिसिपल बोर्ड की कार्रवाइयों में रत्ती भर भी दम नहीं है। दोनों ही अकर्मण्य तथा झगड़े की घर हैं।"

बम्बई में जो कमीटी इस कार्य के लिये बनाई गई थी, उसकी टिप्पणी कुछ नम्र रही। उसने यह प्रकट किया कि संसार के सभी देशों में स्वायत्त शासन की दशा शोचनीय है। भारत भी उसी लहर में बह रहा है। ऐसा एक भी देश दिखाई नहीं पड़ता जिसकी स्थानीय संस्थायें पवित्र हों, और जिनकी कार्रवाइयों से जनता सन्तुष्ट हो। कमीटी का यह विचार है कि स्थानीय संस्थाओं में पैसे की कमी के कारण अनेक बुराइयाँ अपना घर कर गई हैं। यदि आज इनकी आर्थिक दशा ठीक कर दी जाय तो इनका कार्य सुचारु रूप से चलने लगेगा। इन योजनाओं और कमीटियों के विचार से यह स्पष्ट है कि इनमें कुछ सुधार की आवश्यकता है। इन सबका सारांश यह है कि :—

१—वर्तमान स्थानीय संस्थाओं की कार्य प्रणाली दोषपूर्ण है। इसका पुनर्संगठन होना चाहिये।

२—इन संस्थाओं के कर्मचारी अयोग्य और अनभिज्ञ हैं। इनकी उचित ट्रेनिंग होनी चाहिये।

३—इनका आर्थिक सुधार होना चाहिये।

यदि ये तीनों बुराइयाँ दूर कर दी जायँ तो स्वायत्त शासन अपने उद्देश्य को पूरा कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि क्या स्थानीय संस्थायें इस कमी

को दूर करने की शक्ति रखती हैं ? क्या उन्हें यह अधिकार प्राप्त है कि वे अपने संगठन को जैसा चाहें बना लें ? क्या अपने कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा निकालने के अधिकार उन्हें प्राप्त हैं ? क्या वे अपनी आर्थिक परिस्थिति को ठीक करने के लिये मनमाना टैक्स लगा सकती हैं ? अथवा ऋण ले सकती हैं ? ये प्रश्न जब तक हल न होंगे तब तक यह कहना अत्यन्त कठिन है कि स्थानीय स्वशासन की वर्तमान बुराइयों के लिये दोषी कौन है। इन्हें जानने के लिये यह आवश्यक है कि स्थानीय संस्थाओं की शक्ति और उनके अधिकार पर दृष्टि डाली जाय।

स्थानीय स्वशासन की सीमा

स्थानीय संस्थाओं के अधिकार सीमित हैं। वे अपनी परिस्थिति ठीक करने तथा अपने को अधिक कार्यकुशल बनाने के लिये स्वतन्त्र नहीं हैं। उन्हें ऋण लेने का अधिकार नहीं है। जहाँ तक संगठन की बात है, वे रत्ती भर भी इसमें परिवर्तन नहीं कर सकतीं। जनता की यह शिकायत रहती है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अथवा म्युनिसिपल बोर्ड उनके लिये स्कूल नहीं खोलते। हर गाँव को यह आशा रहती है कि वहाँ कोई न कोई स्कूल खोल दिया जाय। छोटे-छोटे कस्बों के लिये बिजली और सीमेंट की सड़कें चाहिये। सड़कों के दोनों किनारों पर पेड़ होना आवश्यक है। ये आशायें बुरी नही हैं, और जनता की ये माँगें बहुत कुछ यथार्थ हैं। इससे पता चलता है कि वह अपने जीवन को उठाना चाहती है। अब वह दब्बू और अपने अधिकारों से अनभिज्ञ नहीं है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि स्थानीय संस्थायें कहाँ तक इन माँगों को पूरा कर सकती हैं। जब तक हम उनकी शक्ति का अनुमान न कर लें तब तक हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते। काँग्रेस सरकारों ने इसे स्वीकार किया था कि इन संस्थाओं के अधिकार इतने कम हैं कि ये जनता की माँग को पूरा नहीं कर सकतीं। वर्तमान समय में जनता में जो असन्तोष इनकी ओर से फैले हुये हैं उन्हें दूर करने की शक्ति इनमें नहीं है। यही सोचकर काँग्रेस ने यह विचार प्रकट किया था कि स्थानीय प्रबन्ध की सारी बातें इन संस्थाओं को दे दी जायँ। जब तक ऐसा न होगा तब तक इनका उत्तरदायित्व बँटा रहेगा। गैर जिम्मेवार रह कर कोई संगठन अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकता।

स्थानीय स्वशासन का क्षेत्र अत्यंत संकीर्ण है। शिक्षा, सफाई और आवागमन इन तीनों बातों को छोड़कर उनके हाथ पैर बँधे हुये हैं। पण्डित मिश्र का कहना है कि जिस प्रकार राज्यों के विषय विभागों में बाँटे गये हैं, उसी प्रकार प्रत्येक जिले का कार्य विभागों में बाँट दिया जाय।

जिले की एक कौंसिल इन विभागों का प्रबन्ध राज्य की सरकार की देख-रेख में करे। इससे कार्य में सुविधा होगी और संस्थायें अपने उत्तरदायित्व को अधिक अनुभव करेंगी। राज्य के विधान-मंडल स्थानीय संस्थाओं के लिये कोई कानून पास करने का कष्ट न करे। इन विषयों में वे अपना व्यर्थ का समय और रुपया नष्ट न करें। स्थानीय कौंसिल (District Council) अपनी सुविधानुसार इन नियमों को बना ले। मन्त्रि परिषद् तथा विधान मंडल का जो स्थान राज्य में है वही जिले की कौंसिल, कार्यपालिका कमीटी तथा इसके सभापति को हो। उत्तर प्रदेश की कमीटी ने भी इस योजना की सराहना की थी। उसने इस बात की सिफारिश की थी कि यदि स्थानीय सस्थाओं को सफल बनाना है तो उनका संगठन राज्य की सरकार के ढंग पर होना चाहिये। जिले की कौंसिल छोटे पैमाने पर उन सभी कामों को करने के लिये स्वतन्त्र होगी जिन्हें राज्य की सरकार आज कर रही है।

१९१९ से लेकर १९३७ ई० तक स्थानीय संस्थाओं की असफलता पर दृष्टिपात करते हुये पंडित मिश्र लिखते हैं कि इन संस्थाओं को स्वतन्त्रता के साथ और भी कितनी ही बातों से वंचित रक्खा गया था। ये सस्थायें किसी योग्य व्यक्ति की अध्यक्षता में न थीं। राज्य की सरकार का दोहरा शासन उन्हें इस बात का अवसर नहीं देता था कि वे अपने अन्दर से योग्य व्यक्तियों को खोज निकालें। यह सिद्धान्त गलत है कि कुछ मामलों में सरकारी कर्मचारी अपना हाथ रक्खें और बाकी जनता के हाथों में रहें। इस दोहरे शासन से प्रजा की जो हानि हुई है उसका जीता जागता उदाहरण प्रजा के असंतोष के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। सारे अधिकार जिले की कौंसिल को हों। वही योग्य से योग्य कर्मचारियों को खोज कर अपना कार्य कराये।

स्थानीय स्वशासन अभी तक पूर्ण नहीं है। नागरिक शिक्षा के अभाव के कारण स्थानीय जनता में उन बातों की कमी है जो शासन को चलाने के लिये आवश्यक हैं। यही कारण है कि डिस्ट्रिक्ट तथा म्युनिसिपल बोर्ड की कारंवाइयों से लोग असंतुष्ट रहते हैं। इनकी भीतरी दुर्बलताओं का बहुत कुछ उत्तरदायित्व सरकार के ऊपर है। उसका कर्तव्य है कि वह जनता को अधिक योग्य और कार्य-कुशल बनाये। स्थानीय संस्थाओं के सुधार के लिये कुछ बातें आवश्यक हैं। पहली चीज तो यह है कि सरकार सबके लिये नागरिक शिक्षा का उचित प्रबन्ध करे। छोटी कक्षा से ही नागरिकता की शिक्षा दी जाय। कोरे किताबी ज्ञान से भोले-भाले बच्चे

अच्छे नागरिक तथा योग्य शासक नहीं बन सकते। हर गाँव में अनेक प्रकार की पंचायतें स्थापित की जायँ। ग्राम के सभी अनुभवी और योग्य व्यक्तियों की एक कौंसिल बनाई जाय। वही इन कमीटियों के कामों की देख भाल और मुकदमों का निर्णय करे। सरकारी कर्मचारी स्थानीय संस्थाओं की आज्ञा के बिना किसी कार्य में हस्तक्षेप न करें। यदि संस्थायें किसी काम में काहिली करें तो सरकार उन्हें चेतावनी दे सकती है। सरकार पैसे से इनकी पूरी सहायता करे। हर जिले का शासन वहीं के निवासियों को सौंप दिया जाय। थोड़े से सरकारी कर्मचारी उनकी देख-रेख के लिये रख दिये जायँ। जिन विषयों में सरकार कुछ सुधार करना चाहे उन्हें वह सलाह के रूप में स्थानीय संस्थाओं को दे सकती है। योग्य और विशेष जानकारी रखने वाले व्यक्तियों को वह इस कार्य के लिये नियुक्त कर सकती है कि वे स्थानीय बातों की खोज करके शासन को अधिक सुविधाजनक तथा सरल बनावें। स्थानीय संस्थायें सरकार के इस कार्य में सहायता भी दे सकती हैं। इससे ग्राम-व्यवसायों तथा अनेक ऐसी बातों में उन्नति हो सकती है जिनकी ओर सरकार को ध्यान देने का अवसर नहीं मिलता।

प्राचीन भारत और स्थानीय स्वशासन

स्थानीय स्वशासन के लिये भारत प्रसिद्ध है। बृटिश राज्य से पहिले हिन्दू और मुसलमान दोनों कालों में यहाँ पंचायती राज की व्यवस्था थी। इसका विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। ग्राम और नगर दोनों के लिये दो प्रकार की संस्थायें थीं। नगरों के प्रबन्ध के लिये कई कमीटियाँ होती थीं। सबके ऊपर एक प्रधान कमीटी होती थी। मोहन्जोदारो और हरप्पा नामक नगरों की खुदाई से पता चलता है कि उनका प्रबन्ध कितनी उत्तमता-पूर्वक किया जाता था। उनमें सफाई, रोशनी; सड़कों आदि की व्यवस्था आजकल से अच्छी थी। नगर एक विशेष नकशे के अनुसार बसाये जाते थे। घरों की बनावट में इस बात का ध्यान रक्खा जाता था कि इनमें हर प्रकार की सुविधायें हों। दूकानों की व्यवस्था एक नियम के अनुसार की जाती थी। एक प्रकार की चीज एक ही जगह बिक सकती थी। चारों ओर ऊँची और सुदृढ़ दीवारें थीं। पाटलिपुत्र के वर्णन में इस प्रकार की दीवारों का वर्णन किया गया है। शहर में प्रवेश करने के लिये एक या दो फाटक होते थे। इन पर पहरे की व्यवस्था रहती थी। रात में पहरेदार इनकी रखवाली करते थे। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के न होते हुये भी यह व्यवस्था आजकल से कहीं अच्छी थी। नगर विभिन्न प्रकार के बगीचों और वाटिकाओं से भरे

होते थे। कोई आदमी बिना प्रयोजन नगरों में नहीं रह सकता था। हर नये यात्री का नाम और पूरा पता लिख लिया जाता था। लोगों का जीवन नियमित था। रात और दिन दोनों समय घन्टे बजाये जाते थे। विशेष आपत्ति के समय एक घंटे से लोगों को इसकी सूचना दी जाती थीं। चीजों का भाव ठीक करने के लिये अलग-अलग कमीटियाँ होती थीं। सड़ी-गली चीजें बेचने की कड़ी मनाही थी। दूकानदार अपनी चीजें उचित भाव से महँगा नहीं बेच सकता था। हर नगर में एक कोतवाल और कुछ सिपाही रहते थे। प्रबन्ध का सारा काम नगर के निवासियों को सौंप दिया गया था। नगर प्रायः नदियों के किनारे हुआ करते थे। इससे व्यापार में सुविधा होती थी।

गाँवों के प्रबन्ध के लिये स्थानीय पचायतें बनी हुई थी। हर गाँव में एक बड़ी पंचायत होती थी। इसके नीचे कमीटियाँ होती थीं। इन्हीं को सब काम सौंप दिया गया था। प्रत्येक गाँव में एक क्लर्क, एक मुखिया, दो पहरेदार तथा तरह-तरह के पेशे वाले रहते थे। सबको अपने-अपने काम का भार दिया गया था। गाँवों का जीवन सामूहिक था। नाई, धोबी, दर्जी, बढ़ई, सुनार आदि पेशे वाले सबकी भलाई के लिये काम करते थे। ग्राम-पंचायतें इनकी देख-रेख करती थीं। प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी और सुखी था। राजा तक को गाँव के मामलों में हाथ डालने की आज्ञा न थी। सरकारी कर्मचारी ग्राम-पंचायतों का सम्मान करते थे। सरकारी विभागों में इन पंचायतों की बात बड़े ध्यान से सुनी जाती थी। पुलीस को यह अधिकार न था कि वह गाँव के किसी निवासी पर मुकदमे अथवा जुर्माना कर सके। जब तक ग्राम-पंचायत आज्ञा न देती, तब तक गाँव के मामलों में किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। उनके प्रबन्ध के लिये पंचायतों का घेरा नीचे से ऊपर तक फैला हुआ था। हर गाँव के अतिरिक्त १०, २०, ५०, १००, २००, ५०० तथा १००० गाँवों की अलग अलग पंचायतें थीं। जब कोई बड़ा मामला पेश होता तो सैकड़ों गाँवों की पंचायतों से राय ली जाती थी। राज्य परिवर्तन के समय भी इन पंचायतों का ढाँचा एक सा बना रहता था।

बृटिश राज्य के पहले हमारे देश में शासन-नीति भिन्न थी। शासक प्रजा को सन्तुष्ट और सुखी रखना चाहते थे। प्रजा के अधिकारों की रक्षा के लिये तरह-तरह की व्यवस्थायें बनाई गई थीं। यह कहना गलत है कि आवागमन की सुविधा की कमी के कारण शासन की बागडोर एकत्र नहीं की जा सकती थी। अशोक, शेरशाह और अकबर के शासन प्रबन्ध को

देखते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय आवागमन की सुविधायें कम थीं। हर गाँव की रिपोर्ट बादशाह के कान तक पहुँचाई जाती थी। यहाँ तक कि वे गाँव के मुखिया को पहचान सकते थे और किसी-किसी का नाम तक याद रखते थे। शासन की देख-रेख के लिये सरकारी कर्मचारी घोड़े पर चढ़कर गाँवों का दौरा करते थे। उनका उद्देश्य आज कल की पुलीस की तरह गाँव वालों को डराना न था। वे चुपचाप मुखिया के दरवाजे पर जाते और गाँव की सारी बातें जानकर बादशाह को इन्हें सूचित कर देते थे। ग्राम-निवासियों को यह पता भी नहीं चलता था कि पञ्चायतों से ऊपर उनका कोई दूसरा भी शासक है। बादशाहों को इस बात का अभिमान था कि उनकी प्रजा अपने आप अपना शासन प्रबन्ध कर सकती है। परन्तु बृटिश शासन की नीति कुछ और थी। इसके अन्दर प्रजा के अधिकार कम होते गये और स्थानीय संस्थायें नष्ट हो गईं। सब भार थोड़े से सरकारी कर्मचारियों पर छोड़ दिया गया। यदि एक साधारण सिपाही जिले के अफसर से कुछ कहता तो उसका मूल्य सारे गाँव वालों की राय से अधिक समझा जाता था।

वर्तमान स्थानीय संस्थाओं का विकास

मुगल-साम्राज्य के अन्दर स्थानीय स्वशासन की महिमा कम न थी। यह कहना गलत है कि अँग्रेजी राज के पहले स्थानीय संस्थायें दोषपूर्ण थीं। साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह वर्णन किया है कि "प्राचीन ग्रामीण संस्थाओं की रचना संकुचित दृष्टिकोण से की गई थी। इनका कर्त्तव्य बहुत ही साधारण था और इनके अन्दर जातीयता की प्रधानता थी। इनका काम प्रजा से टैक्स वसूल करना, और जान-माल की रक्षा करना था। इससे नागरिक शिक्षा में कुछ भी सहायता नहीं मिलती थी और न शासन का ही भार हलका होता था।" इस प्रकार के कथन में सचाई की मात्रा कम है। प्राचीन स्थानीय संस्थाओं की प्रशंसा विदेशियों तक ने की है। जो संगठन हजारों वर्षों से चला आ रहा था, और जिसे तोड़ने का साहस शेरशाह और अकबर ऐसे योग्य शासकों ने नहीं किया, उसे संकुचित और व्यर्थ कहना एक घोर अन्याय है। बृटिश शासन के अन्दर स्थानीय संस्थाओं का संगठन किसी और तरह का था।

ऊपर कहा गया है कि बृटिश शासन की नीति कुछ और थी। प्रत्येक संगठन में विदेशीपन झलकता था। यह स्वाभाविक है कि "यथा राजा तथा प्रजा"। अँग्रेजों का आगमन समुद्री मार्गों से हुआ। व्यापार की सुविधा के लिये उनका ध्यान नगरों की ओर आकर्षित हुआ। १६८७ ई०

में कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को यह आज्ञा दी कि वह मद्रास नगर में एक कारपोरेशन की स्थापना करे। इस कारपोरेशन के सभी सदस्य मनोनीत किये गये थे। इसमें भारतीय और अँग्रेज दोनों थे। इसके बाद १७२६ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में मेयर्स कोर्ट की स्थापना की गई। इनका काम शासन प्रबन्ध करना न था, बल्कि न्याय करने के लिये इनकी रचना की गई थी। १७७२ ई० में रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार स्थानीय अफसरों तथा संस्थाओं को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने अधीन क्षेत्रों से टैक्स वसूल कर सकते हैं। १७९२ ई० में गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में शांति जज (Justices of the Peace) की स्थापना करे। इनका काम नगर की सफाई, सड़कों की रक्षा तथा इसी तरह की स्थानीय बातों की देख-रेख करना था।

१८५६ तथा १८६२ ई० में बम्बई की म्युनिसिपलिटी में कुछ परिवर्तन किये गये। पहिले के अनुसार नगर के प्रबन्ध का भार शांति-जज और एक वैतनिक कमिश्नर को दिया गया था। परन्तु दूसरे ऐक्ट में दो निर्वाचित सभाओं को शासन का भार सौंप दिया गया। पहिली सभा में ६४ सदस्य थे। आधे जनता द्वारा निर्वाचित किये गये और शेष शांति-जज तथा सरकार ने मनोनीत किया था। एक सभा का नाम कारपोरेशन और दूसरी का नगर कौंसिल (Town Council) था। इसमें कुल १२ सदस्य थे जिनमें ८ कारपोरेशन द्वारा चुने गये थे और शेष को सरकार ने मनोनीत किया था। म्युनिसिपल कमिश्नर के अधिकार पहले की तरह बने रहे। आर्थिक विषयों में नगर कौंसिल प्रधान ठहराई गई थी। १८५० तथा १८५६ ई० में गवर्नर-जनरल की कौंसिल ने दो ऐसे कानून पास किये जिनका सम्बन्ध अन्य नगरों की म्युनिसिपलिटियों से था। लार्ड मेयो के समय में स्थानीय संस्थाओं पर अधिक ध्यान दिया गया। उसका विचार था कि इन्हें अपना प्रबंध करने की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये।

स्थानीय स्वशासन की स्थापना लार्ड रिपन के समय से मानी जाती है। १८८२ ई० में उसके एक प्रस्ताव के फलस्वरूप म्युनिसिपलिटियों का ढाँचा और उनका कर्त्तव्य बदल दिया गया। उसने अपना उद्देश्य वर्णन करते हुये कहा कि, "स्थानीय संस्थाओं का उद्देश्य जनता को राजनीतिक शिक्षा देना है। इससे योग्य व्यक्ति अपने आप आगे बढ़कर शासन में हाथ बटायेंगे।" यहाँ तक तो म्युनिसिपलिटी की बात रही। रिपन का ध्यान ग्राम पञ्चायतों तथा जिला बोर्डों की ओर भी गया। १८७० ई० तक

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की स्थापना नहीं हुई थी। नगरों में म्युनिसिपलिटियाँ काम करती थीं, परंतु गाँवों के प्रबंध की कोई स्थानीय व्यवस्था न थी। पंचायतें तो थीं, लेकिन बृटिश सरकार उन्हें पुनः जीवित करने के पक्ष में न थी। उसका हर काम नगर से ही आरम्भ होता था। कमीटियाँ, दफ्तर, कचहरियाँ, स्कूल, लाइब्रेरी आदि सब कुछ नगर में ही बनाये गये थे। यही कारण है कि गाँव की पंचायतें बृटिश राज्य में टूटती गईं। १८७० ई० में लार्ड मेयो के समय में यह प्रस्ताव पास किया गया कि विभिन्न प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं को कुछ शासन प्रबन्ध के अधिकार दे दिये जायँ। आर्थिक क्षेत्र में उन्हें छोटे मोटे अधिकार दिये गये थे। परन्तु अभी तक इनका कोई ठीक रूप नहीं बना था। लार्ड रिपन के समय में सबका पुनर्संगठन किया गया। सम्पूर्ण भारत में जिला बोर्डों की स्थापना की गई। समय समय पर नये नये कानून पास किये गये और इन बोर्डों की बनावट में सुधार होते गये।

जिला बोर्डों में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई और इनके अधिकार और कर्त्तव्य भी धीरे धीरे बदलते गये। निर्वाचन की प्रथा चलाई गई। उन्हें आर्थिक क्षेत्रों में कुछ स्वतन्त्रता देकर स्वावलम्बी बनने का अवसर दिया गया। कुछ विभागों के टैक्स उन्हीं की इच्छा पर छोड़ दिये गये। उन्हें खर्च करने का अधिकार इन्हीं बोर्डों को दिया गया। प्रांतीय सरकारों ने अपने प्रान्तों में इनकी स्थापन और वृद्धि की। भारत सरकार इसमें हाथ नहीं डालती थी। इसीलिये विभिन्न प्रान्तों की स्थानीय संस्थाओं का स्वरूप अलग अलग दिखाई पड़ता है। उनके अधिकार और कर्त्तव्यों में भी अन्तर पाया जाता है। १९१९ ई० तक इतने कानून पास करने पर भी इन संस्थाओं का संगठन सन्तोष-जनक न था। १९०९ ई० में इनकी जाँच के लिये एक कमीशन (Decentralization Commission) नियुक्त किया गया। उसकी रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट की गई कि स्थानीय संस्थाओं की शक्ति कम है और इन्हें अधिक स्वतन्त्र रखने की आवश्यकता है। भारतीय शासन का विकास इतना धीरे धीरे हुआ है कि छोटे छोटे अधिकारों को प्राप्त करने में जनता को वर्षों तपस्या करनी पड़ी है। जिला बोर्डों की दशा १९१९ ई० तक पहले ही की तरह बनी रही।

१९१८ ई० में भारत सरकार की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसका उद्देश्य यह था कि जिला बोर्डों से सरकारी अफसरों का हाथ हटा दिया जाय। अब तक जिले का कलेक्टर बोर्ड का सभापति होता था और

हर बात में जनता को दबना पड़ता था। टैक्स लगाने तथा सफाई रखने में भी सरकारी कर्मचारियों की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता था। कहने के लिये जिला बोर्ड की स्थापना की गई थी, लेकिन हर मामले में सरकारी कर्मचारियों की बातें माननी पड़ती थीं। उनकी इच्छा के विरुद्ध चलने का साहस जनता को नहीं होता था। १६१८ ई० के सुधार में इस बात की सिफारिश की गई कि बोर्डों को कुछ और अधिकार प्रदान किये जायँ। निर्वाचकों की संख्या बढ़ा दी जाय और सरकारी अफसरों की धौंस दूर कर दी जाय। अब तक बोर्डों के चेयरमैन सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे, (जो आमतौर से कलेक्टर होता था) लेकिन अब यह सिफारिश की गई कि बोर्ड के सदस्य स्वयं इन्हें निर्वाचित करें। इसी के फलस्वरूप १६१६ ई० के शासन-सुधार में स्वायत्त शासन का विभाग प्रान्तीय सरकार की देख-रेख में एक मन्त्री को सौंप दिया गया। कलेक्टर का हाथ बोर्ड के कामों से हटा दिया गया। प्रान्तीय सरकारें स्वायत्त शासन में अधिक रुचि लेने लगीं। जब से यह विभाग भारतीय मन्त्रियों को सौंप दिया गया तब से इसकी उन्नति बराबर होती गई। १६२२ ई० में उत्तर प्रदेश में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ऐक्ट पास किया गया। इसके अनुसार बोर्डों को टैक्स लगाने की अधिक शक्ति प्रदान की गई। पंजाब प्रान्त में ग्राम-पंचायत और इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट कायम किये गये। बिहार तथा उड़ीसा में भी इसी तरह के सुधार किये गये। मध्यप्रान्त, आसाम, बम्बई आदि प्रान्तों में स्थानीय संस्थाओं में अनेक सुधार हुये।

स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार स्थानीय संस्थाओं की शक्ति और उनका कार्य क्षेत्र बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है। इन संस्थाओं को नये नये कर लगाने तथा नवीन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये उत्साहित किया जा रहा है। गत वर्ष उत्तर प्रदेश की सरकार ने स्थानीय संस्थाओं सम्बन्धी जो ऐक्ट पास किया था, उसके अनुसार सभी संस्थाओं में सम्मिलित निर्वाचन की पद्धति स्थापित की गई है। पृथक निर्वाचन से साम्प्रदायिक बैर विरोध बढ़ता था। कई नये नगरों तथा कस्बों में म्युनिसिपल बोर्ड स्थापित किये गये हैं। कुछ बड़े नगरों की म्युनिसिपल बोर्ड को कारपोरेशन घोषित किया गया है। स्थानीय सस्थाओं की कालावधि भी ४ से ५ वर्ष कर दी गई है। सभापति का निर्वाचन सम्पूर्ण जनता द्वारा किया जाता है। राज्य की सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि इन सस्थाओं की कार्य-शक्ति बढ़ा दी जाय और कोई सरकारी कर्मचारी इनमें हस्तक्षेप न करे। ग्राम पंचायतों के सम्बन्ध में भी एक ऐक्ट पास किया गया है। इसके

अनुसार नई पंचायतें काम करने लगी हैं। इनके अधिकार पहले से अधिक कर दिये गये हैं। जनता को धीरे धीरे इस बात का अभ्यास हो रहा है कि स्थानीय संस्थाओं की मर्यादा को मानना चाहिये, क्योंकि उन्हीं से उनका कल्याण होगा। इन्हीं संस्थाओं के नये विचारों का फल है जो आज प्रत्येक नगर तथा गाँव में राजनीतिक चेतना दिखाई देने लगी है। लोग अपने कर्त्तव्यों को समझने लगे हैं। कुछ थोड़े से लोगों ने इनकी सफलता में सन्देह किया था, परन्तु वह निराधार सिद्ध हुआ है। राज्य की सरकार, नवीन संविधान के अनुसार, सभी अधिकार स्थानीय जनता को प्रदान कर देने के पक्ष में है। शिक्षा तथा उत्तरदायित्व की भावना की वृद्धि के साथ इस दिशा में प्रगति होना अनिवार्य है। जनता स्थानीय विषयों को अपने अधिकार में लिये बिना नहीं रह सकती।

अध्याय १५

स्थानीय संस्थायें

स्थानीय संस्थायें दो प्रकार की हैं। कुछ तो नगरों के लिये और कुछ ग्रामों के लिये हैं। चूँकि दोनों की समस्यायें और भौगोलिक परिस्थिति भिन्न भिन्न है इसलिये इनके संगठन, कार्य तथा दृष्टिकोण में भी भेद है। ग्रामों में कार्य करने वाली संस्थाओं का नाम सभी राज्यों में एकसा नहीं है। अधिकतर राज्यों में हर जिले में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड स्थापित किये गये हैं परन्तु आसाम में इसका नाम ताल्लुका बोर्ड है। उत्तर प्रदेश में ग्रामों के लिये दो प्रकार की स्थानीय संस्थायें बनाई गई हैं :—

स्थानीय संस्थायें

१—जिला मण्डली (District Board) और

२—ग्राम-पंचायतें

इसी प्रकार नगरों के प्रबन्ध के लिये ४ प्रकार की स्थानीय संस्थायें हैं :—

१—निगम (Corporation)

२—नगर पालिका (Municipal Board)

३—सुधार प्रन्यास (Improvement Trust) और

४—पत्तन प्रन्यास (Port Trust)

जहाँ तक इन संस्थाओं की संख्या का प्रश्न है इनमें किसी प्रकार के उलट-फेर की आवश्यकता नहीं है और न गाँवों तथा नगरों में दस बीस अन्य संस्थाओं की आवश्यकता है। यदि इन्हीं ६ संस्थाओं का संगठन और इनके कार्य ठीक हो जायँ तो स्थानीय जनता की इनसे अधिक भलाई हो सकती है। अभी तक इन संस्थाओं में अनेक त्रुटियाँ हैं। जब तक हम इन्हें दूर न करेंगे तब तक इनके महत्व को समझना कठिन है। हमारे ही भाई और पड़ोसी इनमें काम करते हैं। वे हमारी समस्याओं से भली भाँति परिचित हैं। उनकी और हमारी दोनों की समस्यायें एक हैं। फिर भी उनसे हमें लाभ नहीं पहुँचता। इसका कोई न कोई कारण अवश्य है।

व्यक्तियों को हम दोषी इसलिये नहीं ठहरा सकते कि बारी बारी से सबको इनमें काम करने के अवसर मिलते हैं। यदि दो-चार व्यक्ति बुरे हुये तो यह सम्भव हो सकता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन संस्थाओं में आते ही लोगों की दृष्टि बदल जाती है। सबसे बड़ी त्रुटि संगठन की होती है। जैसा संगठन होगा वैसी ही कार्य-पद्धति होगी। इन संस्थाओं के संगठन में कुछ ऐसे सुधार होने चाहिये जिससे इनमें आने वाले व्यक्तियों को सच्चाई और ईमानदारी से काम करने का अवसर मिले। आरम्भ में इनमें काम करने वाले कर्मचारी सरकार द्वारा नाम निर्देशित (Nominate) किये जाते थे। उनका काम राज्य की सरकार की आज्ञा को पालन करना था। परन्तु अब यह बुराई दूर कर दी गई है; लगभग सभी सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं। प्रत्येक संस्था का अलग-अलग वर्णन करने से इनके संगठन और कार्य-पद्धति की ठीक ठीक जानकारी हो सकती है। पहले ग्राम-संस्थाओं पर विचार किया जायगा।

जिला मंडली की स्थापना

जिला मंडली (District Board) की स्थापना १८७० ई० के बाद हुई है। पहले गाँवों का शासन पंचायतों द्वारा होता था। शासन की बागडोर को एकत्र करने के लिये हर जिले में गाँवों के प्रबन्ध के लिये एक संस्था बनाई गई। इसी का नाम जिला मण्डली है। मण्डली शब्द से तीन मण्डलियों का आभास होता है। किसी भी संगठन का नाम मण्डली रक्खा जा सकता है, परन्तु यहाँ पर जिले में जो मण्डलियाँ स्थापित की गई हैं वे तीन प्रकार की हैं :—

जिला मंडली या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड

१—प्रत्येक जिले में गाँवों का प्रबन्ध करने वाली सबसे बड़ी संस्था जिला मण्डली कहलाती है। जिला मण्डली को मध्य-प्रांत में जिला कौंसिल कहते हैं।

ताल्लुका मंडली

२—इसे सब-डिवीजनल मण्डली भी कहते हैं। इसका दर्जा जिला मण्डली से छोटा होता है। तालुका मण्डली सभी राज्यों में नहीं पाई जाती है। ५० या १०० गाँवों के संगठन से इनकी उत्पत्ति होती है।

लोकल मंडली

३—प्रत्येक गाँव अथवा दो चार गाँवों की देख रेख के लिये लोकल मण्डली बनाई जाती हैं। वास्तव में इन्हें ग्राम-पंचायत कहा जाय तो कोई गलती न होगी।

उत्तर प्रदेश में जिला मण्डली और ग्राम-पंचायतें पाई जाती हैं। इनके अतिरिक्त कोई दूसरा संगठन गाँवों के शासन-प्रबन्ध के लिये नहीं बनाया गया है। भारत गाँवों का देश कहा जाता है। लगभग ७ लाख गाँव सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। ६० प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में निवास करते हैं। केवल नौकरी पेशे वाले तथा व्यापारी नगरों में रहते हैं। यदि पता लगाया जाय तो उनका भी स्थान थोड़े दिन पहले किसी न किसी गाँव में मिलेगा। हमारे देशवासियों का मुख्य उद्योग खेती है। ७३ प्रतिशत जनता खेती करके अपना जीवन निर्वाह करती है। खेती की सुविधा गाँवों में ही है, क्योंकि खेत नगरों में नहीं लाये जा सकते। नगरों में तो रहने तक को भूमि नहीं मिलती, खेती करना तो दूर रहा। इसीलिये लोगों को गाँवों में रहना पड़ता है। कोई भी भारतीय सरकार गाँवों की अवहेलना नहीं कर सकती। उसकी आय का मुख्य साधन भूमिकर है। किसानों की ही आय पर सरकार का खर्च निर्भर है। इन्हीं की देख-रेख तथा भलाई के लिये जिला मण्डली की स्थापना की गई है।

जिला मंडली का संगठन

भारत में कुल २०७ जिला मण्डलियाँ हैं। इनमें ५१ केवल उत्तर प्रदेश में हैं। उत्तर प्रदेश को छोड़ कर कुछ प्रान्तों में जिला मण्डली के नीचे ताल्लुका मण्डली स्थापित की गई हैं। इनकी संख्या ५८४ है। मद्रास प्रांत में इन दोनों मण्डलियों के अतिरिक्त यूनियन मण्डली बनाई गई हैं, जिनकी संख्या ४५५ है। जिला मण्डली स्थापित करने का अधिकार राज्य की सरकार को है। बिना उसकी आज्ञा के कोई जिला मण्डली अपना काम बन्द नहीं कर सकती।

१६१६ ई० के शासन सुधार में स्वायत्त शासन (Local Self-Government) का विभाग राज्य की सरकार के एक भारतीय मन्त्री को दे दिया गया। तब से इसके संगठन में और भी सुधार होते गये। वर्तमान समय में इसका संगठन निम्नलिखित प्रकार से किया गया है। जिला मण्डली में नाम निर्देशन का नियम दूर कर दिया गया है। नगरों को छोड़ कर प्रत्येक जिला कुछ निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। हर क्षेत्र से दो या तीन सदस्य चुन लिये जाते हैं। इस प्रकार ४० या ४५ के लगभग जो चुने हुए सदस्य आते हैं, उन्हीं को जिला मण्डली का सदस्य कहते हैं। इन्हीं की समिति जिला मण्डली कहलाती है। इनके साथ ही एक व्यक्ति मण्डली का प्रेसीडेंट भी चुना जाता है, जिसकी अवधि ५ वर्ष रहती है। जिला मण्डली का चुनाव ५ वर्ष के लिये होता है, परन्तु राज्य की सरकार

इसकी अवधि को बढ़ा सकती है। गत महायुद्ध के समय प्रान्तीय स्वराज्य की विफलता तथा युद्ध के कारण मण्डलियों की अवधि बढ़ा दी गई थी। जिला मण्डली के सदस्यों का चुनाव अब सम्मिलित निर्वाचन पद्धति से किया जाता है। हिन्दू और मुसलमानों के लिये निर्वाचकों की संख्या पृथक्-पृथक् नहीं होती। मुसलमान सदस्यों तथा हरिजनों के लिये कुछ स्थान निश्चित कर दिये गये हैं।

जिला मण्डली अपना सब काम समितियों द्वारा करती है। जब मण्डली की पहली बैठक होती है तो विभिन्न कार्यों के लिये अलग अलग समितियाँ बना दी जाती हैं। हर समिति में ३ या ४ सदस्य रख दिये जाते हैं। मण्डली के सभी सदस्य एकत्र होकर समितियों का निर्माण करते हैं। हर समिति अपना एक सभापति रखती है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, सड़क, पानी इत्यादि समितियाँ होती हैं। इन सबमें शिक्षा समिति बड़ी समझी जाती है। इसका सभापति शिक्षा विभाग का चेयरमैन कहलाता है। जिले भर के बेसिक तथा जूनियर हाई स्कूल इसी की देख-रेख में कार्य करते हैं। प्रतिवर्ष कितने ही नये नये स्कूल और सैकड़ों अध्यापक इसकी इच्छा से खोले तथा भर्ती किये जाते हैं। इसीलिये शिक्षा विभाग का चेयरमैन जिले के कामों में बहुत बड़ा हाथ रखता है।* यदि यह योग्य और अनुभवी हो तो अपने जिले की अच्छी उन्नति कर सकता है। इसी तरह हर विभाग की देख-रेख के लिये एक समिति होती है। प्रेसीडेन्ट इन सबका प्रधान होता है। मण्डली के सदस्यों की बैठक महीने में एक बार होती है। आवश्यकता पड़ने पर यह किसी भी समय बुलाई जा सकती है।

प्रत्येक मण्डली का एक मंत्री होता है। वास्तव में सब कामों की देख-रेख यही करता है। मण्डली के कर्मचारी इसकी अध्यक्षता में कार्य करते हैं। इसका स्थान वैतनिक होता है। इसके अतिरिक्त एक इंजीनियर, एक डाक्टर और एक स्वास्थ्य-निरीक्षक इत्यादि कर्मचारी मण्डली द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। मण्डली के कार्यालय में अनेक क्लार्क और चपरासी भी भर्ती किये जाते हैं। प्रेसीडेन्ट और सदस्यों को छोड़कर शेष सभी वैतनिक होते हैं। जिले में दौरा करने के लिये इन्हें वेतन के अतिरिक्त भत्ते भी दिये जाते हैं। यद्यपि प्रेसीडेन्ट को वेतन नहीं दिया जाता फिर भी दौरे के समय इसे प्रति मील के हिसाब से भत्ता दिया जाता है। मण्डली के सदस्यों

---

* नई शिक्षा योजना में चेयरमैन के अधिकार बहुत कुछ कम कर दिये गये हैं।

को ७५) मासिक तथा प्रेसीडेन्ट को ५००) मासिक पुरस्कार देने के लिये निश्चय किया गया है। जो भी व्यक्ति इस पद पर आते हैं उनकी इच्छा धन की नहीं होती। केवल पद के लोभ से अथवा काम करने की इच्छा से लोग प्रेसीडेन्ट बनने की लालसा रखते हैं। वास्तव में इस पद पर पहुँच कर योग्य व्यक्ति जिले की काफी सेवा कर सकते हैं, परन्तु कुछ लोग इससे अनुचित लाभ उठाने की इच्छा से वहाँ जाते हैं। उनका उद्देश्य अपने मित्रों अथवा सम्बन्धियों को नौकरी तथा ठेकेदारी दिलाना होता है। हर साल मण्डली में लाखों रुपये के ठीके दिये जाते हैं। इनमें काफी लाभ और बचत का रास्ता रहता है। यद्यपि मण्डली का यह नियम है कि कोई सदस्य स्वयं ठीका नहीं ले सकता, फिर भी दूसरों के नाम पर लोग इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। इन्हीं कारणों से मण्डली के काम शिथिल पड़ जाते हैं। कभी कभी तो राज्य की सरकार को इन्हें सचेत करना पड़ता है। फिर भी यदि कोई सुधार न हुआ तो वह इसे जिले के कलेक्टर को अध्यक्षता में दे देती है।

जिला मण्डली का सदस्य बनने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं। उसके लिये अपने निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचक होना आवश्यक है। कुछ ऐसी भी शर्तें रक्खी गई हैं जिनसे कुछ व्यक्ति अयोग्य ठहराये गये हैं। मण्डली के सदस्यों के लिए निम्नलिखित शर्तें ठहराई गई हैं :—

१—प्रत्येक निर्वाचक के लिये भारतीय नागरिक होना आवश्यक है।
२—उसकी आयु कम से कम २१ वर्ष होनी चाहिये।
३—उसे अपने जिले का स्थायी निवासी होना चाहिये।

सदस्यों के लिये जो निषेध बनाये गये हैं वे निर्वाचकों पर भी लागू होते हैं। पागल और दिवालिये इसके चुनाव में वोट नहीं दे सकते। जो पिछले साल का जिले का टैक्स न दिया हो वह वोट नहीं दे सकता। जिन्हें ६ महीने से अधिक की जेल की सजा मिली हो अथवा देश निकाला दिया गया हो वे वोट नहीं दे सकते। जिन्हें नम्बर १० के अपराध में अपराधी ठहराया गया है वे वोट नहीं दे सकते। राज्य की सरकार को यह अधिकार है कि वह इन प्रतिबन्धों को हटा कर किसी व्यक्ति को वोट देने का अधिकार प्रदान कर सके।

कोई संस्था अपने कार्य में तभी सफल हो सकती है जब उसके पास

जिला मंडली का आय और व्यय

काफी पैसे हों। विशेष कर वह संस्था जिसे सभी काम पैसे से करने हैं गरीब रह कर जनता की सेवा नहीं कर सकती। जिला मण्डली के उत्तरदायित्व का क्षेत्र बहुत बड़ा है। जिले में रहनेवाले सभी प्रकार के लोगों की उन्नति का उसे ध्यान रखना पड़ता है। सबके स्वास्थ्य और शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है। ऐसी दशा में मण्डली के पास एक लम्बी आय होनी चाहिये। वर्तमान समय में इसकी आय के निम्नलिखित मार्ग हैं :—

१—सरकारी सहायता—राज्य की सरकार जितना रुपया भूमि-कर के रूप में जिले से वसूल करती है उस पर प्रति रुपया एक आना के हिसाब से वह जिला मण्डली को दे देती है। भूमिकर के साथ ही यह राशि वसूल कर ली जाती है और बाद में सरकार इसे मण्डली के पास भेज देती है। उत्तर प्रदेश के जिला बोर्ड अपनी आय का ४६·५८ भाग सरकारी सहायता से पाते हैं।

२—कभी कभी राज्य की सरकार किसी विशेष योजना को कार्यान्वित करने के लिये जिला मण्डली को कुछ धन दे दिया करती है। इस तरह की सहायता स्थायी नहीं होती।

३—जिला मण्डली जिले के जमींदारों अथवा काश्तकारों पर कर लगा सकती है। कुछ निश्चित राशि से ऊपर जिनकी आय होती है उनसे मण्डली सालाना कुछ टैक्स वसूल करती है।

४—देहात के बाजारों तथा प्रदर्शिनी पर टैक्स लगाया जाता है।

५—देहातों में चलने वाली सवारियों पर टैक्स लगाये जाते हैं। मोटर, गाड़ी, इक्का तथा अन्य सवारियों पर कुछ निश्चित दर से टैक्स लगा दिया जाता है।

६—नदी, तालाब, घाट आदि की आय मण्डली की आय समझी जाती है।

७—जिले भर के स्कूलों से जो फीस आती है वह मण्डली की आय समझी जाती है।

८—सड़कों के किनारे जो पेड़ होते हैं उनसे जो आय होती है वह मण्डली की आय समझी जाती है।

९—इस आय के अतिरिक्त जिला मण्डली को जिले से कुछ और भी

थोड़ी बहुत आय हो जाया करती है। हर राज्य तथा हर जिले में इस प्रकार के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं।

इस प्रकार जिला मण्डली को अपने आधे व्यय के लिये राज्य की सरकार पर निर्भर करना पड़ता है और शेष के लिये जिले की ग्रामीण जनता पर। प्रकृति भी इन बोर्डों की आय में काफी सहायक हो सकती है। यदि जिले में बहुत सी नदियाँ, तालाब अथवा जंगल हैं तो इनसे उसकी आय बढ़ सकती है। जिला मण्डलियों के अन्दर रहने वाले व्यक्तियों की संख्या २२ करोड़ से कुछ अधिक है। परन्तु इनकी कुल वार्षिक आय केवल १७ करोड़ रुपये हैं। अर्थात् जिला मण्डली को प्रत्येक व्यक्ति लगभग १३ आना पैसे प्रति वर्ष देता है। व्यय को देखते हुये यह आय बहुत थोड़ी है। वैसे तो लोगों ने मण्डली की आय बढ़ाने के लिये तरह तरह के मार्ग सोचे हैं, लेकिन हर मामले में जनता की जेब टटोलना ठीक नहीं है। कुछ लोग अप्रत्यक्ष रूप से ग्रामीणों पर टैक्स लगाकर मण्डली की आय बढ़ाना चाहते हैं, लेकिन यह सिद्धान्त गलत है। गाँवों में रहने वाले किसान और मजदूरों की दशा आज ऐसी नहीं है कि अप्रत्यक्ष टैक्स लगाकर उनसे कुछ और लिया जाय। अच्छा होगा कि राज्य की सरकार जिला मण्डली को एक आना प्रति रुपया भूमि-कर न देकर चार आना प्रति रुपया देवे। इससे मण्डली की आय लगभग दूनी हो जायगी। इसके अतिरिक्त जब जिला मण्डली सभी प्रकार की सवारियों पर टैक्स लगाती है तो रेलवे पर भी एक लम्बी रकम टैक्स के रूप में लगाई जा सकती है। जिस जिले में जितनी कम या अधिक रेल हैं, उसी हिसाब से मण्डली रेलवे से टैक्स वसूल करे। राज्य की सरकार को रेलवे बोर्ड से इस राशि को दिलाने का प्रयत्न करना चाहिये। मण्डली की आय का तीसरा मार्ग यह हो सकता है कि जिले में कुछ औद्योगिक कार्यों की वृद्धि की जाय। गाँवों में व्यवसाय की कमी है। जिला मण्डली तरह तरह के व्यवसाय खोले और उनसे यथा उचित टैक्स वसूल करे। इन मार्गों के अतिरिक्त बार-बार किसानों और मजदूरों की जेब टटोलना इस विकट गरीबी में एक बहुत बड़ा अन्याय है।

जिला मण्डली को निम्नलिखित व्यय वहन करने पड़ते हैं :—

१—जिले में बेसिक तथा जूनियर हाई स्कूल का व्यय।

२—कृषि की उन्नति के लिये पानी का प्रबन्ध करना पड़ता है। इसके लिये कुयें और तालाब बनवाने पड़ते हैं।

३—मण्डली के कर्मचारियों को वेतन देना पड़ता है।

४—स्वास्थ्य तथा बीमारियों के लिये अस्पतालों और डाक्टरों का प्रबन्ध करना पड़ता है।

५—सफाई की देख-रेख के लिये अफसर नियुक्त करने पड़ते हैं, तथा प्रदर्शिनी और मेलों का विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है।

६—जिले में सड़कें बनवानी पड़ती हैं और उनके किनारे पेड़ तथा फल-फूल लगवाने पड़ते हैं।

७—अकाल तथा महामारी के अवसरों पर विशेष रूप से व्यय का प्रबन्ध करना पड़ता है।

८—इनके अतिरिक्त व्यवसाय की उन्नति के लिये कुछ रुपये व्यय करने पड़ते हैं।

जिला मण्डली के कर्तव्य

स्थानीय संस्थाओं के कर्तव्य का वर्णन करते हुये प्रो० कन्हैयालालजी वर्मा लिखते हैं, "स्थानीय स्वराज्य की संस्थायें तरह-तरह के काम करती हैं। उन सब का अलग-अलग हाल लिखने के लिये बहुत बड़े स्थान की आवश्यकता है। अतएव सुविधा के लिये हम उनका वर्णन निम्नलिखित ४ समूहों में करें :—

(१) सार्वजनिक स्वास्थ्य के काम ;
(२) सार्वजनिक सुभीते के काम ;
(३) सार्वजनिक रक्षा के काम ; और
(४) सार्वजनिक शिक्षा के काम।"

प्रोफेसर वर्मा के इस कार्य-विभाजन से हम सर्वथा सहमत हैं। जिला मण्डली के कर्तव्यों की कोई निश्चित सूची नहीं बनाई जा सकती। कारण यह है कि जो संस्था जनता की सेवा के लिये बनाई गई है उसके कर्तव्य गिने नहीं जा सकते। यह बात मण्डली की शक्ति और कार्य कुशलता पर निर्भर है कि वह कहाँ तक अपने जिले की उन्नति कर सकती है। यदि कोई जिला मण्डली चाहे तो अपने उद्योग से जिले की अनेक प्रकार से उन्नति कर सकती है। भौगोलिक परिस्थिति तथा आर्थिक प्रबन्ध के अनुसार इसके कर्तव्य भिन्न भिन्न हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये इसके कर्तव्यों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक आवश्यक और दूसरे अनावश्यक। पहिली कोटि में वे कर्तव्य हैं जिन्हें करने के लिये प्रत्येक जिला मण्डली बाध्य है। यदि इनके करने की क्षमता उसमें नहीं है तो उसकी स्थिति दृढ़ नहीं रह सकती। राज्य की सरकार को विवश होकर उसका प्रबन्ध अपने हाथों में

लेना होगा। दूसरे प्रकार के कर्तव्य वे हैं जिनका करना और न करना मण्डली की इच्छा पर है। यदि वह इन्हें करती है तो उससे जिले की अच्छी उन्नति हो सकती है। लगभग सभी जिला मण्डलियाँ अनावश्यक कर्तव्यों में से अधिक से अधिक करने का प्रयत्न करती हैं। कारण यह है कि 'अनावश्यक कर्तव्य' का तात्पर्य यह नहीं है, कि वे व्यर्थ हैं और उन्हें करने की कोई आवश्यकता नहीं है; बल्कि इसका अर्थ यह है कि पहले आवश्यक कर्तव्यों की ओर ध्यान दिया जाय और फिर अनावश्यक कर्तव्य की तरफ। पहिले प्रकार के कर्तव्यों को ठुकरा कर कोई मण्डली दूसरे प्रकार के कर्तव्यों को पूरा करने में समर्थ नहीं हो सकती।

आवश्यक कर्तव्यों को निम्नलिखित ६ भागो में बाँट सकते हैं :—

(१) आवागमन के साधनों को बनाना। अर्थात् जिले में सड़कों की व्यवस्था करना।

(२) अस्पताल, औषधालय, बाजार, धर्मशाला, तथा अन्य सामाजिक जगहों को बनाना और इन्हें चलाने की व्यवस्था करना।

(३) सार्वजनिक कुयें, तालाब तथा अन्य स्थानों की मरम्मत करना।

(४) बेसिक तथा जूनियर हाई स्कूल चलाना।

(५) स्वास्थ्य, सफाई तथा बीमारियों के टीके दिलवाना।

(६) सड़कों के किनारे पेड़ लगवाना और इनकी देख रेख करना।

इन आवश्यक कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मण्डली को कुछ और भी कार्य लोकप्रियता के निमित्त करने पड़ते हैं। उसके पास यदि पैसे हैं और उसके कर्मचारी इन्हें करने की क्षमता रखते हैं तो वह इन्हें किये बिना नहीं रह सकती। मण्डली के सदस्यों का यही मन्तव्य होता है कि जनता की अधिक से अधिक भलाई करें। यह स्वाभाविक है कि सार्वजनिक कार्य सबको आकर्षित करते हैं। थोड़ी भी जगह हुई तो सदस्य अनावश्यक कार्यों में से किसी को भी अपनाने में अपना गौरव समझते हैं। अनावश्यक कार्यों की सीमा अनन्त है। केवल समझने की सुविधा के लिये हम उन्हें ४ कोटि में रख सकते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत से कार्य जिले की भलाई के लिये किये जा सकते हैं। अनावश्यक कर्तव्यों की ४ कोटियाँ :—

१—अकाल तथा महामारी के समय जनता की सेवा करना। प्रत्येक मण्डली अपनी शक्ति के अनुसार इस कार्य को कर सकती है। स्थानीय संस्था के नाते वह अपने पड़ोसी को भूखे, नंगे तथा बीमार नहीं देख सकती।

२—यदि किसी जिले में बिजली और सड़कों का अच्छा प्रबन्ध है तो वहाँ की जिला मण्डली ट्रेमगाड़ी, टेलीफोन, छोटी मोटी रेलवे तथा रेडियो आदि का प्रबन्ध कर सकती है।

३—मण्डली चाहे तो अपने जिले में अच्छे प्रकार के अन्न के बीज, पशु, घोड़े तथा तरह तरह की उन्नति के कार्य कर सकती है। कृषि की उन्नति के लिये वह देहातों में खेती की प्रदर्शिनी लगवा सकती है। किसानों की भलाई के लिये वह नमूने की खेती का प्रबन्ध कर सकती है।

४—जनता के सुख और उसकी उन्नति के लिये वह अन्य कार्यों को अपने हाथों में ले सकती है।

कर्तव्यों के इस विभाजन में जिला मण्डली के सभी काय आ जाते हैं। अपने को लोकप्रिय बनाने के लिये यह जितने कर्तव्यों को चाहे कर सकती है! इसी अध्याय के अन्त में इस बात पर थोड़ा विचार किया गया है कि कहाँ तक वर्तमान मण्डली इन्हें कर रही है और क्या कारण है कि यह अभी तक लोकप्रिय नहीं है। इन कर्तव्यों को पूरा करने के लिए अच्छे कर्मचारियों तथा एक लम्बी आय की आवश्यकता है। वर्तमान मण्डलियों में इन दोनों की कमी है। राज्य अथवा केन्द्रीय सरकार के कानों में जो बातें देर से पहुँच सकती हैं उन्हें तुरन्त करने का अवसर इन्हीं मण्डलियों के कर्मचारियों को मिलता है। हर समय जनता के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के कारण कोई भी कठिनाइयों को इनके सामने उपस्थित कर सकता है। थोड़ी भी असावधानी हुई कि मण्डली को इसकी सूचना पहुँचा दी जाती है। इसलिए मण्डली को जनता के सन्तोष के लिए बहुत ही सतर्क और तत्पर रहना पड़ता है। सरकार का जो विभाग जनता के जितने ही निकट होता है वह उतनी ही आलोचना का पात्र होता है, परन्तु साथ ही उसे यह भी अवसर रहता है कि वह जनता का सब से अधिक प्रीति-भाजन बन सके। इसके लिए उसे पवित्र और तल्लीन रहना पड़ता है।

ग्राम पंचायतें

ग्राम की स्थानीय संस्थाओं में दूसरा दर्जा ग्राम पंचायतों का है। इनका महत्व जिला मण्डली से कम नहीं है। भारतीय इतिहास में इन पंचायतों का वर्णन काफी किया गया है। यदि इस देश की प्राचीन राजनीति को ग्रामीण कहा जाय तो कोई अनुचित न होगा। कारण यह है कि ग्राम पंचायतों पर ही हिन्दू और मुसलमान बादशाह अपने शासन के लिए निर्भर थे। जो स्थान आज जिला मण्डली को प्राप्त है उससे कहीं बड़ा स्थान पंचायतों

को किसी समय प्राप्त था। बृटिश शासन में इनका महत्व कम हो जाने से हम अपनी पुरानी राजनीति को नहीं भूल सकते। वर्तमान विधान मण्डलों की चहल-पहल तथा कार्यालयों के आकर्षण में प्राचीन ग्राम पंचायतें हमारी दृष्टि से दूर नहीं हो सकतीं। केवल चुनाव और मताधिकार को देख कर हम एकता और समानता के सच्चे अर्थ को नहीं भूल सकते। जिस समय इन ग्राम पंचायतों का बोलबाला था, और शासन की बागडोर सीधे जनता के हाथ में दी गई थी, उस समय वर्तमान राजनीतिक विकारों का कहीं पता भी न था। प्रजातन्त्रवाद के नाम पर आज साम्राज्यशाही की स्थापना की जाती है और अधिकार का बहाना लेकर जनता की बची-खुची हस्ती पर भी आघात किया जाता है, परन्तु पंचायती राज्य में इस तरह के ढोंग का स्थान न था। प्रजा अपनी इच्छानुसार अपना शासन करती थी। प्रत्येक गाँव एक छोटे से राष्ट्र के रूप में था। वहाँ के निवासी अपनी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक कठिनाइयों को सुलझाते थे। देश की सरकार इनसे अलग न थी। राजा हर तरह से इनकी सहायता करते थे। जिस प्रजातन्त्रवाद की खोज में पाश्चात्य प्रदेश के निवासी आज सदियों से व्यग्र हो रहे हैं उसकी स्थापना हमारे देश में हजारों वर्ष पहले हो चुकी है। हमारी त्रुटियों से यदि वे संस्थायें आज नष्ट हो गई हैं तो हम फिर उन्हें स्थापित कर सकते हैं। ये ग्राम पंचायतें क्या हैं और इनके क्या कर्तव्य हैं, इसका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है।

नगर की स्थानीय संस्थायें

नगरों के प्रबन्ध के लिए चार प्रकार की स्थानीय संस्थायें बनाई गई हैं—निगम, नगर पालिका, सुधार, प्रन्यास और पत्तन प्रन्यास। कुछ नगरों में निगम स्थापित किये गये हैं; कहीं पर नगर पालिका हैं; कुछ शहरों में नगरपालिका और सुधार प्रन्यास दोनों हैं। लेकिन कोई ऐसा नगर नहीं है जहाँ सुधार प्रन्यास हो किन्तु नगरपालिका न हो। नगरपालिका और निगम के अतिरिक्त कुछ बड़े-बड़े व्यापारी नगरों में पत्तन प्रन्यास बनाये गये हैं। पत्तन प्रन्यास प्रायः उन्हीं नगरों में बनाये जाते हैं जो समुद्र के किनारे हैं और जहाँ विदेशों से माल आते जाते हैं। इन चारों प्रकार की संस्थाओं की स्थापना नगर की समस्याओं को हल करने के लिए की गई है। इसलिये इनके संगठन और कर्तव्यों की चर्चा करने के पहले हम नगर के जीवन की ओर थोड़ा दृष्टिपात करें। तभी हमें यह बात समझ में आ सकती है कि कहाँ तक ये संस्थायें अपने कर्तव्य का पालन कर रही हैं।

नगरों की वृद्धि और उनकी समस्याएँ

भारत की अधिकतर जनता गाँवों में रहती है। कुछ थोड़े से लोग नौकरी तथा व्यापार के लिए नगरों में निवास करते हैं। संसार के अन्य देशों में ऐसी बात नहीं है। केवल चीन एक ऐसा देश है जहाँ की ८० प्रतिशत जनता खेती का काम करती है। शेष अन्य देश व्यापारी है। उनका काम विदेशों के लिए चीजें बनाना है। यदि वे ऐसा न करें तो भूखों मर जायँ। उनके यहाँ खेती के लिए भूमि नहीं है। सर्दी और पथरीली भूमि होने के कारण वहाँ खेती नहीं हो सकती। इसीलिये वे देश नवीन वैज्ञानिक साधनों का सहारा लेकर तरह तरह की चीजें बनाते हैं और उन्हीं को बेंच कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। यही कारण है कि उन्हें विवश होकर बिजली तथा अन्य साधनों के लिये नगरों में ही रहना पड़ता है। फ्रांस में लगभग ५० प्रतिशत लोग नगरों में रहते हैं। इगंलैड की ८० प्रतिशत जनता नगरों में निवास करती है। इसी तरह अन्य योरोपीय देशों तथा अमेरिका में अधिक से अधिक आदमी नगरों में निवास करते हैं। परन्तु भारत में ऐसी बात नहीं है। यहाँ केवल ११ प्रतिशत लोग नगरों में रहते हैं। शेष ८९ प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है। बम्बई राज्य में नगरों की जनसख्या भारत में सबसे अधिक है। वहाँ २२.६ प्रतिशत जनता नगरों में रहती है। बिहार व उड़ीसा में नगर की जनसंख्या सबसे कम है। वहाँ केवल १.७ प्रतिशत लोग नगरों में रहते हैं। निम्नलिखित तालिका से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी कि हमारे देश में नगरों की जनसंख्या कितनी कम है :—

प्रान्त	प्रतिशत नगरों की जन-संख्या	प्रतिशत गाँवों की जन-संख्या
बम्बई	२२.६	७७.४
मद्रास	११.८	८८.२
पंजाब	११.८	८८.२
उत्तर प्रदेश	१०.२	८९.८
मध्य प्रदेश	८.५	९१.५
बंगाल	६.५	९३.५
आसाम	३.४	९६ ६
बिहार व उड़ीसा	१.७	९८.३

३९ नगरों की जनसंख्या ४ लाख से अधिक है। कलकत्ते की

जनसंख्या भारत के सभी नगरों से बड़ी है। इसकी जनसंख्या २१ लाख के लगभग है। यह संसार के सात बड़े नगरों में माना जाता है। लंदन में लगभग ८५ लाख आदमी रहते हैं। न्यूयार्क की जनसंख्या ८२ लाख से कुछ ऊपर है। संसार के तीसरे बड़े नगर टोकियो की जनसंख्या ६६ लाख ६० हजार है। बर्लिन की जनसंख्या ५३ लाख १२ हजार है। पेरिस की जनसंख्या २८ लाख ७७ हजार है। मास्को में २८ लाख आदमी रहते हैं। इन नगरों की जनसंख्या को देखते हुये यह स्पष्ट है कि भारत के नगर इनके सामने साधारण गाँव से हैं। फिर भी नगरों की समस्या हर जगह एक है। कहीं बड़े पैमाने पर और कहीं छोटे पैमाने पर निवासियों की रक्षा और उनकी सफाई आदि का प्रबन्ध सब को करना पड़ता है। जहाँ थोड़ी सी जगह में बहुत से लोग निवास करते हैं, और सभी व्यक्ति व्यापार से ही अपना जीवन निर्वाह करना चाहते हैं, उनकी सफाई और स्वास्थ्य का ध्यान विशेष रूप से रखना होगा। पिछले वर्षों से प्रत्येक देश की जनसंख्या बढ़ती गई है। सबके सामने यह बहुत बड़ी समस्या है कि इतनी बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये भोजन तथा रहने की उचित व्यवस्था क्या हो। कुछ समय पहिले जापान ने एक १० वर्ष की योजना बनाई थी। इसका उद्देश्य यह था कि १० वर्ष के अन्दर प्रत्येक कुटुम्ब में कम से कम ५ बच्चे अवश्य हो जाने चाहिये। जहाँ संसार के देश अपनी जन-संख्या को घटाने की चिन्ता में हैं, वहाँ जापान की यह नीति कुछ समझ में नहीं आती। हमारे देश की भी जनसंख्या काफी बढ़ रही है। १६२१ ई० में हम ३३ करोड़ के लगभग थे; परन्तु १६३१ में ३६ करोड़ के लगभग तथा गत १६४१ की गणना में हम ४० करोड़ के लगभग पहुँच गये। पाकिस्तान का बटवारा हो जाने पर भी हमारे देश की जनसंख्या ३४ करोड़ से कुछ ऊपर है।

जब किसी देश की जनसंख्या बढ़ती है तो गाँव और नगर दोनों पर एक सा प्रभाव पड़ता है। गाँव के खेतों की सीमा निश्चित है। जब जन-संख्या बढ़ेगी तो यह स्वाभाविक है कि हर किसान को जोतने की भूमि कम मिलेगी। इससे गरीबी और बेकारी फैलेगी। आज भी किसानों के सामने यह समस्या उपस्थित है। हर किसान के पास भारत में अनुपात के हिसाब से एक एकड़ भी जमीन नहीं है। फिर भी हमें इससे व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं है। जब कि जापान की १ करोड़ ७० लाख एकड़ जमीन ५ करोड़ ६० लाख आदमियों को भोजन और वस्त्र दे रही है तो हमारे देश को क्या चिन्ता है। नगर की जनसंख्या पर इसका गहरा असर

पड़ा है। वर्तमान समय में नगरों की संख्या हमारे देश में बढ़ रही है। इसके कई कारण हैं। व्यापार और व्यवसाय की वृद्धि से अधिकतर लोग नगरों में रहते हैं। गाँवों में बेकारी और गरीबी के कारण लोग नगरों में चले आते हैं। वहीं नौकरी अथवा व्यापार करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। शिक्षा तथा शासन-प्रबन्ध की सभी संस्थायें नगरों में स्थापित की गई हैं। उदाहरण के लिये इलाहाबाद जिले को ले लीजिये। समूचे जिले में ५ हाईस्कूल और एक या दो छोटे मोटे कारखाने होंगे। परन्तु इलाहाबाद नगर में २२ हाई स्कूल, ६ कालेज और एक यूनिवर्सिटी है। इनके अतिरिक्त कचहरियों और कारखानों की तो कोई बात ही नहीं हैं। सभी तरह की सुविधायें नगरों में बनाई गई हैं। बृटिश सरकार गाँवों से उदासीन रही है। उसकी नीति शहरी थी। इसलिये गाँवों की ओर कम ध्यान दिया गया है। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि लोग नगरों का ही आश्रय लें। इस समय नगरों की जनसंख्या बढ़ रही है। रेल आदि के चलने से नये नये व्यापारी नगर बढ़ते जा रहे हैं। इनके प्रबन्ध के लिये सरकार को चिन्ता करनी पड़ती है।

नगरों में अनेक समस्यायें हैं। लाखों की संख्या में जहाँ एक ही जगह लोग रहते हैं वहाँ तरह तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। सबमे पहले तो उनके रहने के लिये उचित घर चाहिये। यदि वे गन्दे घरों तथा गन्दी गलियों में रहते हैं तो नाना प्रकार की बीमारियाँ फैलेंगी। इसके बाद इक्के, गाड़ी, मोटर आदि के लिये अच्छी सड़कें चाहिये। यदि सड़कें धूल से भरी हुई हों तो यात्रियों को अनेक असुविधायें होंगी। गाँवों में तो टेढ़े मेढ़े रास्तों से भी काम चल जाता है, क्योंकि न तो वहाँ मोटरें चलती हैं और न व्यापारी सामानों का आयात और निर्यात होता है, लेकिन नगरों में तो २४ घंटे इक्के, ताँगे, मोटरें, ठेले आदि इधर से उधर दौड़ते रहते हैं। रोशनी और हवा के लिये विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है। यदि रोशनी न हो तो रात में डाके पड़ सकते हैं। नगर की दूकानों में लाखों रुपये के सामान बन्द रहते हैं। इसकी रक्षा के लिये प्रकाश का पूरा प्रबन्ध करना पड़ता है। हवा न मिलने से तरह तरह के रोग फैलेंगे। लोगों का स्वास्थ्य खराब होगा। इसलिये चौड़ी सड़कों और पार्क आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। लोगों की रक्षा के लिये पुलीस आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। इतनी बड़ी जन संख्या के लिये कुयें से पानी देना कठिन है। यदि किसी कुयें का पानी खराब हुआ और पीने वालों में बीमारी फैली तो सारा नगर उसका शिकार बनेगा। इसलिये साफ़ और

स्वास्थ्य-वर्धक जल की व्यवस्था आवश्यक है। दूकानों के प्रबन्ध के लिये कुछ नियम उपनियम जब तक न बनाये जायँ तब तक सफाई और स्वास्थ्य की व्यवस्था ठीक नहीं की जा सकती। इस बात का ध्यान रखना होगा कि सड़ी-गली चीजें न बिकने पायें और एक प्रकार की दूकानें एक ही कतार में हों।

नगरों में अपराधों की संख्या अधिक होती है। धनी और गरीब में बहुत बड़ा अन्तर होता है। एक ओर टूटी-फूटी झोपड़ियाँ होती हैं, लोग जानवर की तरह ठेले खींच कर और सड़कें कूट कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं, लेकिन दूसरी ओर विशाल भवन होते हैं और लोग विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं। धनी वर्ग की मनोवृत्ति अधिक रुपये कमाने की होती है। अपने स्वार्थ के लिये झूठी बातों का प्रचार किया जाता है। इसलिये मजदूरों और धनियों की समस्यायें भी नगरों में कम नहीं हैं। सरकारी कर्मचारियों को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि गरीबों और अनाथों का उचित प्रबन्ध हो और व्यापारी अनुचित रीति से रुपये न कमायें। इन्हीं समस्याओं के अन्तर्गत नगरों की कुछ और भी छोटी-मोटी समस्यायें हैं। इन्हें सुलझाये बिना नागरिक सुख और शान्ति से नहीं रह सकते।

इन्हीं समस्याओं को हल करने के लिये कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि नगरों में निगम की स्थापना की गई है। भारत में कुल ३ निगम और ७८१ नगरपालिका हैं।[1] उत्तर प्रदेश में नगरपालिका की जनसंख्या ८८ है। भारत की नगरपालिकाओं के अन्दर कुल २ करोड़ १० लाख आदमी रहते हैं। छोटे छोटे कस्बों में टाउन एरिया की स्थापना की गई है। छोटे पैमाने पर ये भी वही काम करती हैं जो नगरपालिका करती हैं। कुछ बड़े नगरों में नगरपालिका के अतिरिक्त सुधार प्रन्यास भी स्थापित किये गये हैं। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, में पत्तन प्रन्यास है। ये संस्थायें अपनी अपनी सीमा के अन्दर नगरों का प्रबन्ध करती हैं। यद्यपि इनके प्रयत्न से नगर की सभी समस्यायें हल नहीं हो जातीं फिर भी यदि ये अपना काम बन्द कर दें तो नगर की जनता एक दिन भी नहीं रह सकती।

निगम (Corporation)

कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में निगम स्थापित किये गये हैं। इन नगरों में नगरपालिका नहीं हैं। निगम एक प्रकार की नगरपालिका है। इसके काम वही हैं जो नगरपालिका के। चूँकि बड़े नगरों के प्रबन्ध के लिये

१—उत्तर प्रदेश की सरकार कानपुर तथा लखनऊ में भी निगम स्थापित करने की व्यवस्था कर रही है।

एक प्रभावशाली अथवा दृढ़ संगठन की आवश्यकता है, इसलिये वहाँ निगम बनाये गये हैं। किसी एक निगम के संगठन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इनका संगठन कैसे किया गया है। जहाँ तक इनके कर्त्तव्यों का प्रश्न है, यह बात नगरपालिका के कर्तव्य से स्पष्ट। हो जायेगी। नगर चाहे छोटे हों अथवा बड़े, सब की समस्या एक सी है। निगम और नगरपालिका के कर्तव्यों में कोई भेद नहीं है। इनके अधिकारों में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है।

कलकत्ता निगम

कलकत्ते की जनसंख्या २१ लाख के लगभग है। इसके प्रबंध के लिये यहीं के निवासियों की एक मंडली बनाई गई है, जिसका नाम निगम है। कलकत्ता निगम में कुल ६२ सदस्य हैं, जिनमें ७७ जनता द्वारा चुने गये हैं और १० को बंगाल की सरकार ने नाम निर्देशित किया है। इन ८७ सदस्यों को कौंसिलर कहते हैं। ये ८७ सदस्य एक साथ बैठकर ५ अन्य अनुभवी आदमियों को चुनते हैं। इस प्रकार ६२ सदस्य नगर का सारा प्रबंध करते हैं।। सभी सदस्य ३ साल के लिये चुने अथवा नाम निर्देशित किये जाते हैं। निगम के सदस्य अपना सभापति और उपसभापति स्वयं चुनते हैं। ये दोनों पदाधिकारी इसके सदस्यों में से चुने जाते हैं। इनका चुनाव प्रतिवर्ष होता है। सभापति तथा उपसभापति का नाम मेयर और डिप्टी मेयर है। इन पदाधिकारियों को वेतन नहीं दिया जाता। निगम सारे कामों की देख-रेख रखने तथा चलाने के लिए एक वैतनिक पदाधिकारी नियुक्त करता है, जिसे एक्जीक्यूटिव अफसर कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक इंजीनियर, एक स्वास्थ्य अफसर, एक मन्त्री और एक सहायक एक्जीक्यूटिव अफसर होते हैं। इन सबको निगम स्वयं नियुक्त करता है, परन्तु राज्य की सरकार से इनकी स्वीकृति लेनी पड़ती है। प्रतिवर्ष वह अपने सदस्यों की १० समितियों द्वारा अपना कार्य करता है।

निगम के सदस्यों का चुनाव उसी प्रकार होता है जैसे नगरपालिका के सदस्यों का। नगर के सभी वयस्क व्यक्तियों को वोट देने का अधिकार प्राप्त है। मतदाताओं के लिये टैक्स, आय, तथा शिक्षा का प्रतिबन्ध लगाया गया है। कलकत्ता निगम की आय २ करोड़ रुपये सालाना से कुछ अधिक है। यह आय विभिन्न मार्गों से होती है। इसके पहिले मेयर देश बन्धु चितरंजन दास थे। तब से बराबर यह संस्था राष्ट्रीय दल वालों के हाथ

में रही है। अन्य कार्यों के अतिरिक्त शिक्षा में इसने अद्वितीय उन्नति दिखलाई है। आज वहाँ २५० बेसिक स्कूल हैं, जिनमें ३०,००० विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है।

नगरपालिका और उसका संगठन

बड़े नगरों में जो संस्थायें इनके प्रबन्ध के लिये स्थापित की गई हैं उन्हें नगरपालिका कहते हैं। छोटे नगरों में, जिन्हें कस्बा करते हैं, नगरपालिका नहीं होतीं। भारत में कुल ७८१ नगरपालिका हैं और इनके अन्दर २ करोड़ १० लाख आदमी रहते हैं। इनकी वार्षिक आमदनी ३८ करोड़ रुपये से ऊपर है। ७१ नगरपालिका की प्रत्येक की जनसंख्या ५० हजार से ऊपर है। राज्य की सरकार नगरों में नगरपालिका की स्थापना कर सकती है। यदि किसी नगरपालिका का प्रबन्ध बुरा है, और जनता उससे सन्तुष्ट नहीं है, तो सरकार उसे अपने हाथों में ले सकती है।

नगरपालिका के सदस्यों के चुनाव के लिये नगर को कई निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र को वार्ड कहते हैं। हर वार्ड से २ या ३ सदस्य चुने जाते हैं। इन्हीं को नगरपालिका का सदस्य कहा जाता है। कुछ व्यक्ति अपने पद के कारण इसके सदस्य होते हैं। सदस्यों का चुनाव ५ वर्ष के लिये होता है, परन्तु राज्य की सरकार इसकी कालावधि बढ़ा सकती है। सदस्यों के साथ ही सम्पूर्ण मताधिकारी इसके प्रेसीडेन्ट का भी निर्वाचन करते हैं। प्रेसीडेन्ट नगर का कोई प्रतिष्ठित और योग्य व्यक्ति होता है। इनके अतिरिक्त नगरपालिका एक्जेक्यूटिव आफिसर, इन्जीनियर, वाटर वर्क्स सुपरिन्टेडेन्ट तथा सेक्रेटरी आदि कर्मचारियों को नियुक्त करती है। इनकी योग्यतायें राज्य की सरकार की ओर से पहले से निर्धारित हैं।

नगरपालिका अपने कार्य की सुविधा के लिये सारा प्रबन्ध समितियों द्वारा करती है। समितियों में प्रायः ६ से १० तक सदस्य होते हैं। सब काम कई विभागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक विभाग का उत्तरदायित्व किसी न किसी समिति को सौंप दिया जाता है। निम्नलिखित समितियाँ सभी नगरपालिका में होती हैं :—

१—अर्थ समिति
२—शिक्षा समिति
३—स्वास्थ्य समिति

४—सड़क, मकान आदि देख रेख करने वाली समिति

५—पानी समिति

६—चुँगी समिति

७—खाद्य पदार्थ देख-रेख समिति

८—सवारी समिति

जो नगरपालिका उन्नतिशील हैं, और नागरिकों की भलाई का अधिक ध्यान रखती हैं, वे और भी तरह तरह की समितियाँ बनाती हैं। इन सब में शिक्षा समिति का स्थान बड़ा समझा जाता है, परन्तु कार्य की दृष्टि से सबका महत्व एक-सा है। कुछ लोगों का विचार है कि समितियों को अपने कामों में सहायता लेने के लिये अन्य जानकार व्यक्तियों को भी सम्मिलित करने का अधिकार मिलना चाहिये।

नगरपालिका के कर्तव्य

नगरपालिका का कर्तव्य नगर की आर्थिक, राजनीतिक और शारीरिक उन्नति करना है। वह नगर में अच्छी-से-अच्छी सड़कें बनवाये और उनकी देख-रेख का पूरा प्रबन्ध करे। नगर में गन्दी और सड़ी गली चीजों को आने से रोके। जो दूकानदार गन्दी चीजें बेचे उसे वह उचित दंड दे। इन कर्तव्यों का सभी नगरपालिका पालन करती हैं। इनके अतिरिक्त नगर में ये पानी और रोशनी का प्रबन्ध करती हैं। शिक्षा के लिये बेसिक और जूनियर हाई स्कूल खोलती हैं। सफाई के लिये कूड़े फेंकने के लिये कर्मचारी नियुक्त करती हैं। बीमारी की देख-रेख के लिये अस्पताल और औषधालय खोले जाते हैं। स्वास्थ्य की जाँच के लिये निरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं। कुछ नगरपालिका अजायबघर और नमूने के फार्म भी रखते हैं। हवा की नगरों में सब से अधिक कठिनाई होती है। नगरपालिका इसके लिये पार्क और बगीचों का प्रबन्ध करती हैं। लोगों की शिक्षा के लिये पुस्तकालय और वाचनालय खोले जाते हैं। आर्थिक उन्नति के लिये तरह-तरह के व्यवसाय खोले जाते हैं। नगरों में बेकारों और अनाथों की संख्या अधिक होती है। इनके रहने के लिये सार्वजनिक जगहों तथा काम के लिये कोई प्रबन्ध करना पड़ता है।

नगर में सब से अधिक ध्यान सफाई का करना पड़ता है। हजारों की संख्या में लोगों के एक जगह रहने से बीमारी फैलने का डर अधिक रहता है। नगरपालिका शौचालय आदि बनवाने की पूरी व्यवस्था करती है। उचित स्थान से बाहर जो किसी जगह को गन्दा करते हैं उन्हें कड़ा दंड

दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि नगर के लिये जिन जिन प्रबन्धों की आवश्यकता होती है वे उसे करती हैं। मुहल्लों तथा सड़कों का नाम रखना, घरों का नम्बर लगाना, जगह-जगह पर धर्मशालायें और प्याऊ बनवाना, आग से रक्षा का प्रबन्ध करना, जन्म और मृत्यु का हिसाब रखना, कब्र तथा श्मशानघाट की व्यवस्था करना इत्यादि कार्य नगरपालिका को करने पड़ते हैं। इनमें कुछ कर्त्तव्य ऐसे हैं जिन्हें करना उसके लिये अनिवार्य है, परन्तु शेष को उसके सामर्थ्य पर छोड़ दिया गया है। कुछ नगरपालिका, जिन्हें अपने नगर-निवासियों का अधिक ध्यान है, व्यापार भी करती हैं। इसे नगरपालिका व्यापार (Municipal Trading) कहते हैं। इससे दो लाभ होते हैं, एक तो लोगों को अच्छी और शुद्ध चीजें उचित दाम पर मिल सकती हैं और दूसरे नगरपालिका की आय भी बढ़ती है। एक बड़ी संस्था के नाते वह चीजों को अधिक सुविधा पर खरीद सकती है। जो कुछ आय होती है वह शिक्षा तथा अन्य सार्वजनिक कामों में व्यय की जाती है। परन्तु इससे थोड़ी हानि भी है। व्यक्तिगत व्यापार को इससे धक्का लगता है। जब नगरपालिका स्वयं व्यापार करती है तो छोटे-मोटे व्यापारी उसके मुकाबिले में अपनी चीजें नहीं बेच सकते।

नगरपालिका का आय और व्यय

नगर के प्रबन्ध के लिये नगरपालिका को काफी धन व्यय करना पड़ता है। सड़कों के बनवाने तथा पार्कों की रक्षा के लिये उसे अपनी आय का बहुत बड़ा भाग लगाना पड़ता है। शिक्षा पर इसका व्यय सबसे अधिक होता है। इसके अतिरिक्त सफाई, स्वास्थ्य और अस्पतालों पर उसे काफी ध्यान देना पड़ता है। हर काम में उसे पैसे खर्च करने पड़ते हैं। असाधारण परिस्थिति में उसके खर्चे और भी बढ़ जाते हैं। इन खर्चों को चलाने के लिए इसके पास आय के अनेक रास्ते हैं। सबसे अधिक आय नगर की चुँगी और टैक्स से होती है। आय के निम्नलिखित ५ रास्ते हैं :—

१—चुँगी—नगर में आने वाली सभी चीजों पर टैक्स लगाया जाता है।

२—टैक्स—प्रत्येक नगरपालिका की दो तिहाई आय इसी रास्ते से होती है। ये टैक्स पेशे, व्यापार, जानवर, सवारियाँ, पानी, रोशनी तथा सफाई पर लगाये जाते हैं।

३—नगरपालिका की निजी सम्पत्ति।

४—राज्य की सरकार से सहायता।

५ नगरपालिका व्यापार (Municipal Trading)

इनके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी स्थिति के अनुसार ऋण भी ले सकती हैं। टैक्स के नये-नये रास्ते भी वह निकाल सकती है। कुछ नगरपालिका ने यात्रियों पर भी टैक्स लगाने की व्यवस्था की है। कभी-कभी पुलों से भी कुछ आय होती है। यदि नगर किसी नदी के किनारे है तो घाट के ठेकों से उसे कुछ सालाना आय होती रहती है। नगर के गन्दे पानी से कभी-कभी अच्छी आय होती है। यदि पास में कोई बड़ा खेती का फार्म हुआ तो उसके गन्दे पानी का मूल्य काफी बढ़ जाता है। भारत की सभी नगरपालिकाओं का वार्षिक व्यय लगभल १८ करोड़ रुपये हैं। इसमें १३ प्रतिशत सर्वसाधारण के कामों में, और इतनी ही पानी के प्रबन्ध में, १८ प्रतिशत स्वास्थ्य और ११ प्रतिशत शिक्षा पर व्यय होता है। उत्तर प्रदेश की नगरपालिकायें अपने व्यय का ५२ प्रतिशत स्वास्थ्य पर व्यय करती हैं। लेकिन इस राज्य में इसका शिक्षा-खर्च बहुत ही कम है। केवल १३·५८ प्रतिशत आय शिक्षा के ऊपर लगाई जाती है। कर्मचारियों के वेतन पर इस राज्य की नगरपालिकायें ११·५१ प्रतिशत व्यय करती हैं। उत्तर प्रदेश की नगरपालिकाओं की कुल आय १७५३६२३५ रुपये सालाना है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति से ३ रुपया ८ आना १ पाई वसूल किया जाता है। सरकार से जो सहायता इन्हें मिलती है वह बहुत ही कम है। १६३५-३६ ई० में उत्तरप्रदेश की नगरपालिकाओं को कुल ६३३७२६ रुपये राज्य की सरकार से मिले थे। अर्थात् ४ प्रतिशत से भी कम इन्हें दिया गया था। जर्मनी में केन्द्रीय सरकार नगरपालिकाओं को इनकी आय का लगभग ३० प्रतिशत सहायता के रूप में देती है।

सुधार प्रन्यास (Improvement) Trust

कुछ बड़े नगरों में नगरपालिका को प्रबन्ध का कार्य चलाने में काफी नहीं समझा गया। इसीलिये सफाई, हवा, रोशनी आदि के प्रबन्ध के लिए एक और स्थानीय संस्था बना दी गई है। इसका नाम सुधार प्रन्यास है। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, दिल्ली, इलाहाबाद आदि नगरों में इनकी स्थापना की गई है। यह संस्था अभी तक शहरी जनता के हाथ में नहीं है। इसके सदस्य कुछ तो पद के कारण और कुछ सरकार द्वारा नाम-निर्देशित किये जाते हैं।

इलाहाबाद सुधार प्रन्यास में कुल ६ सदस्य हैं। इनमें ३ राज्य की सरकार द्वारा नाम निर्देशित किये गये हैं। नाम निर्देशित सदस्यों में जिले का कलेक्टर अवश्य होता है। यह कोई लिखित नियम नही है, बल्कि एक प्रथा सी चली आती है। दो सदस्य नगरपालिका के प्रतिनिधि होते हैं। एक सदस्य इसका चेयरमैन होता है। इससे स्पष्ट है कि ये सदस्य जनता के प्रतिनिध नहीं होते। सदस्यों की नियुक्ति ३ वर्ष के लिए की जाती है। इसकी बैठक प्रायः महीने में एक बार होती है। प्रन्यास एक वैतनिक मंत्री तथा अन्य कर्मचारियों को भी नियुक्त करता है। कलकत्ता सुधार प्रन्यास में कुल १२ सदस्य हैं।

विज्ञान तथा कला-कौशल की बृद्धि के कारण आजकल लोगों की रहन-सहन में काफी परिवर्तन हो रहे हैं। घिरे मकानों तथा गन्दी गलियों में रहना लोग पसंद नहीं करते। उनके मकान साफ-सुथरे, हवादार तथा किसी अच्छे वायुमण्डल में होने चाहिये। सड़कें भी चौड़ी और सुन्दर होनी चाहिये। हर चीज में मनुष्य सौंदर्य और सफाई चाहता है। लेकिन हमारे देश के नगर पुरानी चाल के बने हैं। उनके रास्ते पतले हैं और घरों की बनावट बहुत ही सँकड़ी है। जो नये मकान भी इधर बनाये गये उनमें स्वास्थ्य और रोशनी का ध्यान कम दिया गया है। भारत के कुछ नगरों की जनसंख्या लन्दन से भी घनी है। लंदन में १२.२ प्रतिशत आदमी एक कमरे में ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं, लेकिन लखनऊ में ५०.४ प्रतिशत व्यक्ति एक कमरे के मकान में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। बम्बई में ७४ प्रतिशत व्यक्ति एक कमरे के मकानों में रहते हैं। इतनी तंग जगह में रहने से लोगों का स्वास्थ्य खराब होता है और इसका प्रभाव उनकी संतान पर भी पड़ता है। इसी का परिणाम है कि भारतवासियों की औसत आयु अन्य देश वासियों की अपेक्षा आधी होती है। हमारे देश के २० प्रतिशत बच्चे एक वर्ष की आयु में मृत्यु के ग्रास होते हैं। जितने भी आदमी इस देश में मरते हैं उनमें पाँचवाँ भाग दुधमुँहे बच्चों का है।

सुधार प्रन्यास की स्थापना इसीलिये की गई है कि वह नगर को नये ढंग से बसाने का प्रयत्न करे। जो भाग नये बसाये जायँ वे किसी विशेष नकशे के अनुसार बनाये जायँ। घरों की बनावट, हवा तथा रोशनी पर काफी ध्यान दिया जाय। नगर के जो भाग सिकुड़े हुये हैं और जहाँ सूर्य की धूप कठिनाई से पहुँचती है, उन्हें चौड़ा करने का प्रयत्न किया जाय। सुधार प्रन्यास राज्य की सरकार के सामने अनेक योजनायें नगर को सुन्दर

और आकर्षक बनाने के लिये उपस्थित करे और स्वीकृति मिलने पर उन्हें कार्यान्वित करे। नगर के भंगियों तथा गरीबों के रहने के लिये वह अच्छा से अच्छा प्रबन्ध करे। पैसे की कमी और शिक्षा के अभाव के कारण इनका रहन-सहन बहुत ही गन्दा होता है। किसी उचित स्थान पर प्रन्यास इनके लिये साफ खुला हुआ मकान बनाने की योजना बनावे। इलाहाबाद सुधार प्रन्यास ने कई हजार रुपये व्यय करके गरीबों के लिये कितने ही अच्छे मकान तैयार कराया है। यदि ये प्रन्यास अच्छी तरह काम करते रहें तो कुछ दिनों में भारत के सभी बड़े-बड़े नगर बहुत ही आकर्षक और खुले हुये दिखाई पड़ने लगेंगे। नगरों को नये ढंग से बसाने में कुछ लोगों को काफी हानि उठानी पड़ती है। उनके मकान गिरा दिये जाते हैं और बहुत थोड़ी राशि उन्हें बदले में दी जाती है। परन्तु ये दोनों बातें नहीं हो सकतीं कि एक ओर कुछ हानि भी न हो और दूसरी ओर हमारा घर साफ और खुला हुआ दिखाई पड़े। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये सुधार प्रन्यासों के पास पैसे की कमी है। या तो सरकार इन्हें अपनी आय का कुछ अंश दे अथवा नगरपालिका की कुछ आय इनके हाथ में कर दे। अब तक इन्हें बिकी हुई जमीनों, सरकारी सहायता और ऋण पर निर्भर करना पड़ता है।

पत्तन प्रन्यास (Port Trust)

उन बड़े-बड़े नगरों में जो समुद्र के किनारे हैं निगम, नगरपालिका, तथा सुधार प्रन्यास के अतिरिक्त पत्तन प्रन्यास भी स्थापित किये गये हैं। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास में भारत के प्रसिद्ध पत्तन प्रन्यास हैं। कलकत्ते के अतिरिक्त सभी पत्तन प्रन्यासों में नाम निर्देशित सदस्यों की संख्या निर्वाचित सदस्यों से अधिक होती है। अबतक अधिकतर सदस्य योरोपियन होते रहे हैं। इन्हें भत्ता भी दिया जाता है। इनके कामों में सरकारी हस्तक्षेप अधिक होता है। पत्तन प्रन्यास का मुख्य काम समुद्र के किनारे घाट बनवाना, मालगोदाम बनाना तथा व्यापार के सुविधे के लिये नाव और जहाजों का प्रबन्ध करना है। बन्दरगाहों में विदेशों से तरह-तरह के माल आते हैं। प्रन्यास इन्हें उतारने तथा इनकी देखरेख का पूरा प्रबन्ध करता है। इसीलिये इसे अपनी अलग पुलिस रखने का अधिकार दिया गया है। इसके सदस्य कमिश्नर वा ट्रस्टी कहलाते हैं। प्रन्यास की आय के मुख्य रास्ते निम्नलिखित हैं :—

१—माल की लदाई और उतराई।

२—गोदाम के किराये तथा

३—जहाजों के कर।

स्थानीय संस्थाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि

ऊपर स्थानीय संस्थाओं के संगठन और उसके कार्यों पर विचार किया गया है। अब यह देखना है कि कहाँ तक इन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई है। प्रोफेसर राम और शर्मा के कथनानुसार स्थानीय सरकार के मुख्य ४ उद्देश्य हैं:—

१ स्थानीय विषयों की जानकारी

२—शासन-प्रबन्ध की कुशलता

३—योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति

४—समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति।

स्थानीय संस्थाओं को अपने उद्देश्य में काफी सफलता प्राप्त हुई है। स्थानीय जनता के दिलों से विदेशी सरकार की भावना बहुत कुछ दूर हो चली है। कितनी ही स्थानीय संस्थाओं ने अपनी कार्यकुशलता का इतना अच्छा परिचय दिया है कि साइमन कमीशन ने मुक्त-कंठ से इनकी प्रशंसा की है। परन्तु साथ ही कुछ ऐसी भी संस्थायें हैं जिन्होंने अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया है। इंगलैंड तथा अमेरिका आदि प्रजा-तन्त्रवादी देशों में भी स्थानीय संस्थाओं में तरह-तरह की गन्दी बातें पाई जाती हैं। स्थानीय संस्थाओं ने अपने क्षेत्र में शिक्षा का जो प्रचार किया है उसे हम नहीं भुला सकते। यह सच है कि हमारे देश में शिक्षित आदमियों की संख्या केवल १५ प्रतिशत है। परन्तु इस कूपमंडूकता का उत्तरदायित्व राज्य की सरकार पर है। स्थानीय संस्थाओं के पास इतने पैसे नहीं हैं कि वे हर गाँव में एक स्कूल खोल सकें। स्थानीय संस्थायें हमारे देश में बहुत ही बदनाम हैं। कुछ व्यक्तियों को यहाँ तक कहते सुना गया है कि "स्थानीय संस्थायें बेकार हैं।" जनता के अत्यन्त सम्पर्क में रहने के कारण इनकी टीका-टिप्पणी अनिवार्य है। इससे घबड़ा कर इनके लाभ को हमें नहीं भुलाना चाहिये। यदि हमें इसमें कुछ कमी दिखलाई पड़े तो हम उसे बार-बार सुधारने का यत्न करें। जिस स्वराज्य के लिये हम कितने वर्षों से चिल्ला रहे थे, उसके मूल को ही सम्हालने की क्षमता हम नहीं रखते तो इससे बढ़कर हमारा अभाग्य और क्या होगा। स्थानीय स्वराज्य पूर्ण स्वराज्य की जड़ है।

स्थानीय संस्थाओं के पिछले इतिहास से स्पष्ट है कि उनकी असफलता के मुख्य दो कारण हैं—वाह्य और आन्तरिक। इन संस्थाओं पर कुछ ऐसे सरकारी दबाव पड़ते हैं जिनके कारण इनकी स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। राज्य की सरकार और कमिश्नर इनके कामों में जब चाहें हस्तक्षेप कर सकते हैं। इनका सारा हिसाब-किताब कमिश्नर की मुट्ठी में रहता है। वह इन्हें अपना व्यय घटाने की आज्ञा दे सकता है। सरकार स्वयं स्थानीय संस्थाओं को अपने हाथ में रखती है। वह इन्हें जब चाहे तोड़ सकती है। स्थानीय शासन-प्रबन्ध में उसके कानूनों का प्रभाव गहरा पड़ता है। किसी स्थानीय संस्था का सभापति अथवा उपसभापति अपने आचरण तथा भूल के कारण राज्य की सरकार द्वारा हटाया जा सकता है। इन संस्थाओं के कुछ कर्मचारी राज्य की सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना नियुक्त नहीं किये जा सकते। इनके द्वारा बनाये गये नियमों को राज्य की सरकार से स्वीकृत कराना पड़ता है। यदि किसी नई योजना को कार्यान्वित करने के लिये स्थानीय संस्थायें कुछ ऋण लेना चाहें तो इसकी स्वीकृति राज्य की सरकार से लेनी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि इनकी असफलता का बहुत कुछ कारण इस प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप हैं। जब तक ये कम नहीं किये जाते तब तक स्थानीय स्वशासन अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

स्थानीय संस्थायें की असफलता के कुछ आन्तरिक कारण भी हैं। अर्थात् संस्थायें स्वयं इनके लिये उत्तरदायी हैं। इनके कुछ सदस्य अपने स्वार्थसाधन के लिये तरह-तरह की आन्तरिक बुराइयाँ फैलाते हैं। इसके कितने ही उदाहरण स्पष्ट हैं। थोड़ा-बहुत पैसा सार्वजनिक कामों में लगता है, और शेष सदस्यों तथा कर्मचारियों की जेब में जाता है। स्थानीय संस्थाओं से यह आशा की जाती है कि वे योग्य से योग्य कर्मचारी नियुक्त करें, लेकिन कार्य रूप में दलबन्दियों के चक्कर में पड़कर कितने ही अयोग्य व्यक्ति केवल बातों का वेतन लेते हैं। एक नगरपालिका के शिक्षा विभाग के चेयरमैन से उन्हें अपने पद से त्याग-पत्र दे देने के लिये कहा गया। उन्होंने तुरन्त जवाब दिया कि "हमें अपने पद की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी उस एक अन्धे और एक लँगड़े की है जो नगरपालिका के कार्यालय में काम करते हैं।" सदस्यों को इस बात की चिन्ता नहीं होती कि योग्य व्यक्ति अपने पदों पर नियुक्त किये जायँ। उन्हें अधिकतर चिन्ता अपने सम्बन्धियों और मित्रों की होती है। सदस्यों के चुनाव में कितने ही अयोग्य व्यक्ति चुन लिये जाते हैं। नागरिक शिक्षा की कमी के कारण लोग राजनीतिक अधिकारों के महत्व को नहीं समझते। क्षणिक प्रयोजनों

और झूठी प्रतिज्ञाओं के चक्कर में आकर वे स्वार्थी तथा अयोग्य व्यक्तियों को अपना मत देने पर तैयार हो जाते हैं। संस्थाओं के कार्यों में व्यक्तिगत मनोभावों का प्रभाव पड़ता है, जिससे सार्वजनिक हित में और भी बाधा पड़ती है। संस्थाओं के अन्दर घूसखोरी और बेईमानी की जो बीमारी फैली हुई है उसका कारण हमारी नागरिकता की कमी है।

यदि स्थानीय स्वशासन को सफल बनाना है तो जनता को नागरिकता की शिक्षा दी जाय। इसके अभाव में वह गन्दी बातों के प्रभाव से अपने आपको नहीं बचा सकती। सार्वजनिक कामों का महत्त्व हमारे हृदय में तब तक नहीं बैठ सकता जब तक हमें समाज-शास्त्र का थोड़ा ज्ञान न कराया जाय। मध्यम श्रेणी तक नागरिक शास्त्र को अनिवार्य विषय बना कर शिक्षा विभाग ने इस ओर ध्यान दिया है। इससे स्थानीय संस्थाओं की भीतरी त्रुटियाँ बहुत कुछ दूर हो सकती हैं। जहाँ तक ऊपरी दबाव का प्रश्न है, राज्य की सरकार इसे कम कर सकती है। लेकिन इसी से ये संस्थाएँ अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकतीं। भारत की वर्तमान परिस्थिति इस बात की आशा करती है कि देश में तरह तरह के उद्योग-धन्धे खोले जायँ। स्थानीय संस्थायें सफलता-पूर्वक इन्हें कर सकती हैं। लेकिन इनके आगे कदम न बढ़ाने का कारण पैसे की कमी है। या तो राज्य की सरकार इनकी सहायता और बढ़ाये या इन्हें कोई ऐसा रास्ता दे जिससे इनकी आय कम से कम ड्योढ़ी हो जाय। यदि ये त्रुटियाँ दूर कर दी जायँ, तो स्थानीय संस्थाएँ अपनी बुराइयों को दूर करने के साथ, देश की अधिक भलाई कर सकती हैं।

अध्याय १६

ग्राम पंचायत

ग्राम की परिभाषा

'ग्राम' शब्द के लिये कोष की आवश्यकता किसी को न होगी। यहाँ तक कि कचहरियों में भी इस शब्द के स्पष्टीकरण का प्रश्न नहीं उठ सकता। यह शब्द अत्यन्त प्रचलित है। जब कोई विदेशी भारत की जानकारी प्राप्त करना चाहता है तो उसे पहिली सूचना यह मिलती है कि वह गाँवों का अध्ययन करे। जो भारत के गाँवों का जीवन नहीं जानता वह भारतीय सभ्यता को नहीं पहचान सकता। जब देशी और विदेशी दोनों ही गाँवों से भली भाँति परिचित हैं तो इसकी परिभाषा की कोई आवश्यकता नही मालूम होती। परन्तु कुछ ऐसी भ्रान्तियाँ फैली हैं, जिन्हें निवारण करने के लिये इसे दे देना अच्छा होगा। थोड़े दिन हुये एक पुस्तक[१] देख रहा था। उसमें लिखा था कि यदि कोई आदमी भारत में किसी एकान्त स्थान में पड़ जाय और कोई रास्ता मालूम न पड़े तो वह नाक खोलकर चारों दिशाओं में साँस ले। जिधर से गन्दी हवा आती हो उधर को वह चल पड़े। कोई न कोई गाँव अवश्य मिल जायगा। यह बात प्रचलित है कि जो सरल हों और जिन्हें कोई भी ठग सके वे गाँव के रहनेवाले होते हैं। इधर दस बीस वर्षों से लोग गाँवों को छोड़ नगरों में अधिक आने लगे हैं। इसलिये नहीं कि गाँव बुरे हैं, बल्कि जीविका की खोज में उन्हें विवश होकर गाँव छोड़ने पड़ते हैं। कुछ लोग इससे भी यह अनुमान करते हैं कि गाँवों का जीवन सभी प्रकार से बुरा है, वहाँ कोई रहना नहीं चाहता।

यदि हमारे देश के गाँव सचमुच बुरे होते, और लोगों को उनमें रहने की इच्छा न होती, तो अब तक कितने ही नये नये शहर बस गये होते। वास्तव में जो गाँवों के जीवन से परिचित नहीं हैं वे उसे पहचान नहीं सकते। एक छोटे से उद्धरण से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जायेगी। श्री राय अपनी एक पुस्तक[२] में लिखते हैं कि "जब कोई योरप निवासी

१—Socrates in an Indian Village.

२—The Spirit of Indian Civilization.

भारत की यात्रा करने के लिये प्रस्थान करता था तो कुछ बातें पहले से ही उसके मस्तिष्क में बैठा दी जाती थीं। लड़कपन से ही विदेशियों को इस बात की शिक्षा दी जाती थी कि भारत के रहने वाले असभ्य होते हैं। उनके शरीर पर ठीक तरह का वस्त्र नहीं होता और वे हर समय जूते तथा दस्ताने नहीं पहने रहते। उनकी रहन-सहन निम्न श्रेणी की है। वे नंगे बदन किसी से भी मिल सकते हैं और हर समय एक ही वस्त्र में रहने के आदी होते हैं।" इसका परिणाम यह होता है कि जब कोई विदेशी इस देश में आता है तो वह उसी प्रकार का चित्र यहाँ देखता है। उसके मन में तुरन्त यह बात बैठ जाती है कि सचमुच भारतवासी असभ्य हैं। परन्तु सच तो यह है कि विदेशी भारतीय सभ्यता की गहराई को नहीं जानते। उनकी सभ्यता की नाप दस्ताने और रूमाल तक ही सीमित है। ठीक यही दशा भारतीय नगरों की है। नगर के लोग ग्रामीण जीवन को पिछड़ा हुआ समझते हैं। नई सभ्यता की चमक में गाँवों का प्राचीन जीवन उन्हें नीरस मालूम पड़ता है। कोई भारतीय नगर ऐसा न होगा जिसकी आधी जनसंख्या गाँवो से घनिष्ठ सम्बन्ध न रखती हो। नौकरी अथवा व्यापार की सुविधा के लिये लोग नगरों में रहते हैं, परन्तु उनका असली घर तथा कुटुम्ब गाँव में ही होता है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि गाँव की ठीक-ठीक सीमा क्या है, उनमें कितने कुटुम्ब होते हैं, उनकी जनसंख्या कितनी है। हमारे देश में ७ लाख से अधिक गाँव हैं। प्रत्येक का क्षेत्रफल और जनसंख्या भिन्न भिन्न है। बौद्धायन और गौतम गाँवों की परिभाषा करते हुये लिखते हैं, "वह स्थान जहाँ सच्चे और पवित्र आदमी निवास करें गाँव कहलाता है।" बौद्धायन के कथनानुसार, "कोई भी सत्पुरुष गाँव में ही रहना चाहेगा क्योंकि वहाँ खान-पान की चीजें बहुतायत से मिलती हैं। प्रत्येक गाँव चोर-डाकुओं से सुरक्षित होता है। छोटे-छोटे राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव वहाँ नहीं पड़ता। वहाँ के निवासियों का जीवन शान्त और सुखमय होता है।" कौटिल्य के शब्दों में "गाँव वह स्थान है जिसमें १०० से ५०० तक कुटुम्ब निवास करते हों। सबका घर सुरक्षित हो और उनका जीवन सम्मिलित तथा सहयोगी हो।" गाँवों में जनसंख्या की कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। ५००० से ऊपर मनुष्य जब एक जगह निवास करते हैं तो वह कस्बा कहलाता है। इससे कम जनसंख्या वाले स्थान गाँवों की कोटि में गिने जाते हैं। कुछ ऐसे भी गाँव हैं जिनमें १०० या २०० आदमी निवास करते हैं और उनमें केवल ४० या ५० घर हैं, लेकिन कुछ गाँव कस्बों

की बराबरी करते हैं। हिन्दी साहित्य में ग्राम सम्बन्धी साहित्य की अभी कमी है। जो सभ्यता हमारे गाँवों में छिपी हुई है उसका आभास अभी पढ़े लिखे लोगों को कम है। ऊपर से वे इसकी सराहना भले ही करें, परन्तु भीतर से वे नहीं जानते कि गाँवों की विशेषता क्या है।

गाँव की परिभाषा अत्यन्त रोचक और सरल है। आज कल कुछ विशेष कारणों से हमें इसमें सन्देह हो सकता है, लेकिन उसकी वास्तविकता हिन्दू काल से लेकर अभी तक मौजूद है। पेड़ों तथा बगीचों से घिरे हुये वे स्थान जहाँ कोलाहल का नाम भी न हो गाँव कहलाते हैं। प्रत्येक गाँव में प्रायः १०० या २०० घर होते हैं। इसके चारों ओर खेत या बगीचे होते हैं। यहाँ के निवासियों का मुख्य व्यवसाय खेती और गोपालन है। इनका जीवन अत्यन्त सरल और पवित्र होता है। ये चोरी और फरेब का नाम नहीं जानते। स्वभाव से ही ये परिश्रम-शील और संयमी होते हैं। अपनी सभी आवश्यकताओं के लिये ये अपने गाँव पर ही निर्भर करते हैं। प्रत्येक गाँव स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होता है। यहाँ के लोग अपनी आवश्यकतानुसार सभी चीजे पैदा कर लेते हैं। गाँव ही ऐसी जगह है जहाँ बिना रुपये-पैसे के भी आदमी सुख से रह सकता है। शहरों की तरह यहाँ बीमारी और गन्दगी का बाजार नहीं रहता। सब लोग एक दूसरे का विश्वास करते हैं। जिसे हम भारतीय सभ्यता कहते हैं, और जिसके ऊपर अब भी हमें गर्व है, वह गाँवों की चीज है। आज भी वह उसी जगह दिखलाई पड़ेगी। बृटिश शासन में गाँवों की दशा में महान् परिवर्तन हुआ है। उनकी गरीबी और बेकारी की समस्या ने देश को चिन्ता के जाल में बाँध रक्खा है। इतने पर भी हमारे गाँव स्वर्ग की तुलना करते हैं।

गाँव और भारतीय शासन

यदि गाँवों की चर्चा छोड़कर भारतीय शासन-प्रबन्ध पर विचार किया जाय तो यह बात वैसी ही बेतुकी है जैसे प्राण को छोड़कर शरीर का अध्ययन। शरीर में जो प्राण का स्थान है वह भारतीय राजनीतिक प्रबन्ध में गाँवों का। इस देश में कोई शासन-विधान तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक इसकी जड़ गाँवों में न डाली जाय। बड़े बड़े राजनीतिज्ञ और सुधारक राजनीतिक अधिकारों की उधेड़ बुन में इस को भूल जाते हैं कि जब तक गाँवों को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त न होगी, तब तक स्वराज्य की कोई सदुपयोगिता नहीं हो सकती। जिन गाँवों से ३४ करोड़ भारतवासियों का भरण-पोषण होता है, और जिनकी उन्नति अवनति पर हमारी सभ्यता

की दीवाल खड़ी की गई है, उन्हें हम कैसे ठुकरा सकते हैं। जिन ग्राम पंचायतों का चित्र काँग्रेस के मस्तिष्क में बैठा हुआ है उसके महत्व को पश्चिमी प्रजातन्त्रवाद की आँधी में हम नहीं देख सकते। केवल केन्द्रीय तथा राज्य के कर्मचारियों के अधिकारों तथा कौंसिल की बनावट से शासन-विधान का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। महात्मा गाँधी ने पूरी तौर से इसका अनुभव किया था।

भारत गाँवों का देश है। यहाँ की ६० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है। उसका मुख्य व्यवसाय खेती है। जब तक शासन-विधान के अन्दर ग्राम संगठन की व्यवस्था न की जायगी, तब तक वह सर्वथा अधूरा सिद्ध होगा। "हरेक शासन की मुख्य आवश्यकता इसीलिये होती है कि प्रजा के जन-धन की रक्षा और उन्नति होती रहे। जो शासन इन दोनों बातों में असफल हुआ, नैतिक रीति से उसने अपने को नष्ट कर दिया।"[1] अनादि काल से गाँव शासन की जड़ समझे जाते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों कालों में इनकी स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन में बाधा नहीं पड़ी। भारत के अन्दर बड़े-बड़े राजनीतिक परिवर्तन हुये, कितने ही विदेशियों ने इस देश पर आक्रमण किया, परन्तु ग्राम अपनी पंचायतों द्वारा स्वतन्त्र रूप से काम करते रहे। उन्हें इन परिवर्तनों का पता भी न चला। इन गाँवों का संगठन इतना दृढ़ और स्थायी था कि छोटे-मोटे राजनीतिक परिवर्तनों अथवा सामाजिक क्रांतियों के कारण उनकी नीव नहीं हिल सकती थी। यूरोप अपने प्रजातन्त्रवाद की डींग मारता है। ब्रिटेन हमें इस बात का आश्वासन दिलाता रहा है कि हमारे देश में सच्चे प्रजातन्त्रवाद की स्थापना होने जा रही है। पाश्चात्य प्रजातन्त्रवाद की जड़ में जो खोखलापन है उसका उदाहरण हमें स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हमारे देश में जिस प्रजातन्त्रवाद की आवश्यकता है उसका सम्बन्ध गाँवों से है। पहले प्रत्येक गाँव को स्वतन्त्र और स्वावलम्बी बनाना होगा। जब ७ लाख गाँवों को सभी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी तो प्रजातन्त्रवाद अपने आप स्थापित हो जायगा। इस देश में शासन-विधान की उपयोगिता तभी है जब वह गाँवों के जीवन के अनुकूल हो। जिस शासन-विधान का निर्माण विदेशी अथवा थोड़े से शहरी लोग सभा भवन में बैठकर करेंगे उसकी उपयोगिता में हमें सन्देह है। गाँवों के प्राचीन संगठन पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि शासन विधान में इसका कितना महत्व था।

१—हमारे गाँवों का सुधार और संगठन, अध्याय २७, पृष्ठ, ३००

ग्राम संगठन

प्राचीन काल में गाँवों के संगठन की सराहना सभी विदेशियों ने मुक्तकंठ से की है। सर चार्ल्स मेटकाफ लिखते हैं, "ग्राम पञ्चायतों के अन्दर प्रजातन्त्रवाद की सभी अच्छाइयाँ पाई जाती हैं। प्रत्येक गाँव एक छोटा सा स्वतन्त्र देश है। बाहरी सम्बन्ध की इसे कोई आवश्यकता नहीं है। जिन चीजों की रक्षा की कहीं सम्भावना नहीं है उनकी रक्षा इन गाँवों ने की है। ग्राम पञ्चायतों के इस संगठन से प्रत्येक गाँव एक स्वतन्त्र राष्ट्र की भाँति है। उनकी स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन तथा प्रसन्नता के ऊँचे पैमाने को देखते हुये पञ्चायतों के महत्व को हम भली भाँति समझ सकते हैं।"[1] आज भी गाँवों का संगठन सर्वथा नष्ट नही हुआ है। कितनी ही बातें वहाँ ऐसी दिखाई पड़ेंगी जिन्हें सब लोग मिलकर करते हैं। खेती के काम में सब लोग एक दूसरे की सहायता करते हैं। तालाब, कुएँ, नहर आदि बनाने के लिये वे एक साथ अपने घरों से निकलते हैं। यदि किसी के ऊपर किसी प्रकार की विपत्ति पड़ जाय तो सभी अपनी पूरी शक्ति से उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। गाँवों के तीन चौथाई झगड़े आज भी ग्राम पञ्चायतों में तै होते हैं। बृटिश शासन के अन्दर ग्राम पंचायतों का कोई महत्व नही था। इसीलिये इनकी उपयोगिता कम दिखाई पड़ती है। कुछ लोग तो इन्हें कहानी मात्र समझते हैं।

ग्राम संगठन का स्वरूप भिन्न-भिन्न समयों में अलग-अलग रहा है। ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने से हम इसका क्रमिक विवरण नहीं दे सकते। हिन्दू काल में गाँवों का संगठन पंचायत के आधार पर किया जाता था। गाँव ही शासन की सबसे छोटी इकाई माने जाते थे। प्रत्येक गाँव का प्रबन्ध वहाँ की पंचायतें करती थीं। १० गाँवों को मिला कर एक दूसरी पंचायत

१—The village communities are little republics having nearly every thing they want within themselves and almost independent of foreign relations. They seem to last where nothing else losts. This union of the village communities, each one forming a separate little state in itself.........is in a high degree conducive to their happiness, and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence.

बनाई जाती थी। इस संगठन को संग्रहण कहा जाता था। फिर २०० गाँवों का एक दूसरा संगठन होता था, जिसे खरबालिका कहा जाता था। इसके ऊपर ४०० गाँवों का एक संगठन बनाया जाता था, जिनका नाम द्रोणमुख था। अन्त में ८०० गाँवों का एक संगठन होता था जो स्थानीय कहलाता था। मानव धर्म शास्त्र में गाँवों का संगठन कुछ और बतलाया गया है। उसके कथनानुसार गाँवों का संगठन एक, दस, बीस, सौ, एक हजार के बीच में था। दो सौ, तीन सौ और पाँच सौ गाँवों का अलग अलग संगठन था। इस संगठन को मनु ने गुल्म कहा है।

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में इस देश का शासन गाँवों से आरम्भ होता था। श्रेणीबद्ध इनका संगठन किया जाता था। संहिता के रचयिता ने कहा है कि देश शब्द का अर्थ है एक हजार गाँवों का संगठन। हर गाँव का क्षेत्रफल सामान्य रूप से २ वर्ग मील होता था। इसमें अलग-अलग मार्ग होते थे। इनका नाम पद्म, वीथी, मार्ग तथा राजमार्ग था। इनकी चौड़ाई क्रमशः ३, ५, १० और १५ फीट होती थी। राजमार्ग की चौड़ाई १५ से ३० फीट तक होती थी। प्रत्येक गाँव में एक चौपाल (Rest House) होती थी। यात्रियों के ठहरने तथा भोजन का इसमें पूरा प्रबन्ध रहता था। शुक्राचार्य ने गाँवों का संगठन एक से दस हजार गाँवों तक माना है। प्रत्येक श्रेणी का संगठन सुदृढ़ और स्वावलम्बी था। ग्राम पंचायतें गाँवों का शासन करती थीं। परन्तु केन्द्रीय सरकार की ओर से भी उनकी देख-रेख का प्रबन्ध था। हर गाँव में एक सरकारी कर्मचारी रहता था, जो गोप कहलाता था। गाथा सप्तसती में इसका नाम ग्रामणी कहा गया है। एक से दस गाँव तक का उत्तरदायित्व इसे दिया गया था। प्रति वर्ष गाँवों की जनसंख्या की गणना की जाती थी। सरकारी कर्मचारी पंचायत द्वारा इस कार्य को करते थे और केन्द्रीय सरकार को इसकी सूचना देते थे। जनगणना के समय हर गाँव में घरों की संख्या, आदमियों तथा पशुओं की संख्या, उनकी जाति तथा आयु आदि भी दिखाये जाते थे। गोप या गाँव का मुखिया हिसाब-किताब का व्यौरा रखता था। शुक्र-नीतिसार के अनुसार गोप या मुखिया ब्राह्मण जाति के होते थे।

शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से गाँवों में कोई भेद नहीं है। जो संगठन किसी छोटे गाँव में बना हुआ है वही बड़े में भी है।

गाँवों के भेद हिन्दू काल में कुछ गाँवों की आय मन्दिरों तथा पाठशालाओं को दे दी जाती थी। परन्तु उनके शासन-प्रबन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। गाँव का हिसाब-किताब रखने वाला

उनकी आय सरकारी कोष में न भेजकर किसी संस्था को भेज देता था। प्रजा के अधिकारों में कोई कमी नहीं पड़ती थी। कभी कभी विद्वानों को कुछ गाँव माफी में दे दिये जाते थे। सरकार उसकी आय से कोई मतलब नहीं रखती थी। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो जितना चाहे गाँवों से वसूल कर ले। एक निश्चित आय से अधिक लेने का अधिकार किसी को तब तक नहीं था जब तक ग्राम पंचायत अथवा केन्द्रीय सरकार इसकी आज्ञा न दे दे। गाँव की आय चाहे जिस मद में खर्च की जाय, उसके राजनीतिक प्रबन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता था। मुसलमानी काल में कुछ लोगों को जागीरें दी जाती थीं। कितने ही कर्मचारियों को वेतन के बदले दो एक गाँव दे दिये जाते थे। परन्तु शासन प्रबन्ध में वे कोई उलट फेर नहीं कर सकते थे। जब तक गाँवों के लोग एक निश्चित राशि सरकारी कोष में भेजते रहते थे तब तक बादशाह तक उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था।[१] किसी सरकारी अथवा गैर सरकारी कर्मचारी को प्रजा से एक पाई भी अधिक वसूल करने का अधिकार न था। १०५४ ई० के एक शिलालेख से यह पता चलता है कि सरकार प्रजा के धन को उसकी एक सुरक्षित सम्पत्ति समझती थी। जिस प्रकार माली बगीचे से फल फूल चुन लेता है परन्तु बगीचे की सुन्दरता और हरियाली में कोई अन्तर नहीं पड़ता, उसी तरह सरकार प्रजा की आय का एक छोटा सा अंश वसूल करती थी। शिलालेख में एक स्त्री की कहानी लिखी गई है। गाँव के किसी कर्मचारी ने किसी स्त्री से कुछ अनुचित रकम टैक्स के रूप में लेना चाहा। स्त्री ने देने से इनकार कर दिया। कर्मचारी ने उसे कुछ बुरा भला कहा। स्त्री विष खाकर मर गई। आस-पास के गाँवों में इस विषय पर पंचायतें हुईं। १७ जिलों के गाँवों की पंचायतों में इस मामले पर विचार किया गया। कर्मचारी अपराधी ठहराया गया और उसे कड़ा दंड दिया गया।[२]

गाँवों की आय चाहे जिसके पास जाय, उसके शासन-प्रबन्ध में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। गाँवों में पंचायतों का स्वरूप एक था। सरकारी

१—It is fairly clear that during the period of Mohammadan rule the village communities were left more or less to their own resources, and practically no connection was maintained with the King's Government, except the due payment of the taxes.

२—Madras Epigraphy Annual Report, 1906—7.

टैक्स सबसे एक सा लिया जाता था। गाँवों की रक्षा और शान्ति की चिन्ता सरकार को एक सी करनी पड़ती थी। इतना अवश्य है कि कुछ गाँवों की ओर सरकार को विशेष ध्यान देना पड़ता था। इसका कारण यह था कि वहाँ के निवासियों का पेशा ऐसा होता था जिन्हें उत्साहित करना सरकार अपना कर्तव्य समझती थी। उनके कला कौशल से सारे राज्य को लाभ पहुँचता था। निम्नलिखित उद्धरणों से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। बौद्ध कालीन जातकों से यह पता चलता है कि एक गाँव में ५०० आदमी निवास करते थे और सभी बढ़ई का काम करते थे। दूसरा गाँव लुहारों का था। इसमें केवल लोहार ही बसते थे। १००० घर लुहारों के थे। इसी प्रकार एक तीसरा गाँव १००० लकड़िहारों का था। यदि इन्हें हम विभिन्न प्रकार के गाँव कहें तो कोई हानि नहीं है। सम्भव है इसी तरह किसानों, जुलाहों, मजदूरों तथा सुनारों आदि के गाँव रहे हों। परन्तु अधिकतर गाँव मिले-जुले पेशे वालों के होते थे। पेशों की भिन्नता होते हुये भी एक ही प्रकार की पंचायतें इन पर शासन करती थीं। उत्तर और दक्षिण भारत में ग्राम पंचायतों का रूप एक-सा था। चूँकि उत्तर भारत को बाहरी आक्रमण का अधिक सामना करना पड़ा और उसके ऊपर विदेशी वातावरण का अधिक प्रभाव पड़ा, इसलिये पंचायतों के संगठन में कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक था।

वर्तमान समय में गाँवों को दो प्रकारों में बाँटा गया है :—

१—रैयतवारी गाँव

२—जमींदारों के गाँव

(१) पहिले प्रकार के गाँव वे हैं जो दक्षिण भारत में पाये जाते हैं। इनका आन्तरिक संगठन बहुत ही सरल है। प्रत्येक किसान या रैयत सीधे सरकार को अपना लगान देता है। प्रजा और सरकार के बीच में कर वसूल करने वाला कोई मध्यवर्ती नहीं है। जो जितनी भूमि अपने अधिकार में रखता है वह उतने का लगान सरकार को सीधे देता है। यदि गाँव में कोई पर्ती, जंगल, बंजर अथवा ऊसर भूमि है और उसे कोई जोतता नहीं, तो वह सरकारी समझी जाती है। लेकिन गाँव के रहने वाले इनसे लाभ उठा सकते हैं। यह सबके सम्मिलित लाभ के लिये होती है। प्रत्येक खेत की अलग अलग लगान निश्चित रहती है। इससे प्रजा को लगान देने में कोई कठिनाई नहीं होती। लगान के व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से गाँव का सम्मिलित जीवन

१—जातक, भाग २-४ नं० १५६, १८७, ४६६।

नष्ट नहीं हुआ है। गाँव का मुखिया, जो पटेल या रेड्डी कहलाता है, सबका प्रधान होता है। नाई, धोबी, दर्जी, लोहार, कुम्हार सारे गाँव की सेवा करते हैं। गाँव का चौकीदार सबके घरों की रखवाली करता है। मुखिया का पद पैत्रिक होता है। गाँव का लगान वसूल करने तथा शान्ति की व्यवस्था रखने का उत्तरदायित्व इसे दिया गया है। इस प्रकार के गाँव अधिकतर मद्रास, बम्बई, बरार तथा मध्य भारत में पाये जाते हैं। जमींदारी प्रथा के पहले मध्यप्रान्त और बंगाल में भी इस प्रकार के गाँव थे।

(२) दूसरे प्रकार के गाँव जमींदारों के गाँव कहलाते हैं। एक गाँव में एक या दो चार जमींदार होते हैं। कुछ जमींदार एक से अधिक गाँवों के मालिक होते हैं। लगान वसूल करने का भार इन्हीं जमींदारों को दिया गया है। सरकार प्रजा से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। वह जमींदारों से मालगुजारी वसूल करती है। यद्यपि मालगुजारी की दर निश्चित है फिर भी जमींदार अनुचित रीति से प्रजा से धन वसूल करते हैं।[1] सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि जो लगान प्रजा से वसूल हो उसका कुछ भाग जमींदार अपने पास रख ले और शेष सरकारी कोष में भेज दे। जमींदारों का भाग लगभग १/१० माना गया है। लेकिन कार्य रूप में ऐसा नहीं होता है। जो मालगुजारी जमींदार सरकार को देते हैं उसका दूना और चौगुना प्रजा से वसूल करते हैं। गाँव की पर्ती और जंगल आदि उस गाँव के जमींदारों की सम्पत्ति समझी जाती है। हर गाँव में एक मुखिया और पंचायत होती है। प्राचीन काल में इनकी शक्ति अधिक थी, परन्तु बृटिश शासन में इन्हें कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया था।

ग्राम पंचायत

अनादि काल से भारत में गाँव ही शासन की इकाई माने गये हैं। शासन-प्रबन्ध के लिये प्रत्येक गाँव में कई पञ्चायतें होती थीं जिनका शासन और व्यवस्था में एक विशेष स्थान था।[2] राज्य तथा केन्द्रीय सरकार के जो जो

---

१ जमींदारी प्रथा को तोड़ने के लिये प्रायः सभी राज्यों में विधेयक उपस्थित किये गये हैं।

२—पञ्चायत शब्द जितना ही पवित्र है उतना ही महत्व का है। इस शब्द से संसार एवं सम्पूर्ण ब्रह्मांड की रचना हुई है। पञ्चतत्व और पञ्च महाभूत इसके आधार हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकेन्द्रीय के आधार पर मनुष्य के जीवन का संचालन होता है और पञ्चपवन (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) की शक्ति से ही मनुष्य का जीवन है। यही पञ्चपरमेश्वर है, जिसके राज्य की हमें आवश्यकता है।

विभाग आज हम देखते हैं, उनके लिये अलग अलग पञ्चायतें थीं। शिक्षा पञ्चायत, रक्षा पञ्चायत, सेवा पञ्चायत, सफाई पञ्चायत आदि गाँवों का प्रबन्ध करती थीं। जब कोई नया गाँव बसाया जाता था तो ये सभी प्रकार की पञ्चायतें वहाँ बना दी जाती थीं। गाँव बसाने का अधिकार केवल राजा को था। तेरहवीं शताब्दी के शिला-लेखों से पता चलता है कि जब कोई गाँव बसाना होता था तो यह पहले ही निश्चित कर लिया जाता था कि उसका क्षेत्रफल क्या होगा और उसमें किस किस वर्ण के लोग कितनी कितनी संख्या में बसाये जायेंगे। प्रत्येक गाँव में कुछ भूमि पर्ती रक्खी जाती थी। इसे कोई जोत नहीं सकता था। इस पर सभी लोग अपने जानवर चरा सकते थे। गाँव के बाहर जंगल होता था। लकड़ी आदि के लिए इससे सुविधा होती थी। गाँव के सभी लोग मिलकर एक या दो तालाब खोदते थे। बरसात के दिनों में इनमें पानी भर जाता था। साल भर लोग इसमें स्नान करते थे और सिंचाई का काम करते थे। जो भूमि गाँवों के लिये चुनी जाती थी उसमें सुन्दर सुन्दर रास्ते चारों ओर जाने के लिये बना दिये जाते थे। हावेल लिखता है, "चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पशास्त्र के नियमानुसार सैकड़ों गाँव बसाये गये थे।" बृटिश सरकार ने पंजाब में कितनी ही बंजर भूमि को बसाया था। 'कनाला उपनिवेश' इसी का परिणाम है। चर्च मिशनरी सोसाइटी ने भी उत्तर प्रदेश और बंगाल में इस तरह के कितने ही गाँव बसाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना है, फिर भी कितनी ही बंजर और उजाड़ भूमि उपजाऊ बनाई गई है। पूर्वी बंगाल में इन्होंने जो सन्थाल नामक उपनिवेश बसाया है उसका क्षेत्रफल १४ वर्गमील है। इसके अन्दर १० गाँव हैं और प्रत्येक का एक मुखिया होता है। पूरे उपनिवेश के प्रबन्ध के लिए इन्हीं ग्राम निवासियों की समिति बनाई गई है। आज वहाँ २५०० ईसाई निवास करते हैं। यदि कोई बाहरी आदमी वहाँ रहना चाहता है तो उसे उपनिवेश की सभी शर्तें माननी पड़ती हैं।[1]

ऊपर कहा गया है कि प्राचीन काल में गाँवों का प्रबन्ध पञ्चायतों द्वारा होता था। हर गाँव में एक सर्वप्रधान पञ्चायत होती थी। कुछ अँग्रेज लेखकों ने इन पञ्चायतों को जाती पञ्चायतें कहा है। लेकिन यह

१—Those who are not Christians sign a pledge to abstain from intoxicating drink and heathen sacrifices and to abide by the rules of the colony.

उनकी भूल है। इस देश में पञ्चायतें सदा से दो उद्देश्यों से बनाई जाती रही हैं। या तो शासन-प्रबन्ध के लिये अथवा उद्योग-धन्धों की रक्षा के लिये। गाँव के सभी अनुभवी आदमियों की एक बड़ी पञ्चायत होती थी। मुखिया इसका प्रधान होता था। कार्य की सुविधा के लिये यह पञ्चायत अपनी ओर से कई समितियों को बनाती थी। सफाई, रक्षा, शिक्षा आदि के लिये अलग अलग समितियाँ होती थीं। समिति अथवा पञ्चायत के बनाने में जातीय अथवा पेशे के कारण कोई आदमी अछूत नहीं समझा जाता था। चारों वर्णों का विधान केवल पेशे के लिये बनाया गया था।[1] लोहार, बढ़ई, जुलाहे, कुम्हार तथा सोनार समाज में सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।[2] आनन्द रंगा पिलाई, जो डूप्ले का एजेन्ट था, अपनी दिनचर्या में लिखता है, "एक गाँव में किसी मन्दिर के झगड़े का निपटारा करने के लिये पञ्चायत की बैठक बुलाई गई। इसमें ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक सम्मिलित थे।"[3]

पञ्चायत शब्द के दो अर्थ लगाये जाते हैं। वह सभा जिसमें ५ आदमी काम करें पञ्चायत कहलाती है। अथवा गाँव के शासन-प्रबन्ध के लिये सभी अनुभवशील व्यक्तियों की मंडली पञ्चायत कहलाती है। वास्तव में पञ्चायत और ५ का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। यह हो सकता है कि गाँव की बड़ी पञ्चायत किसी मामले का अन्तिम निर्णय करने के लिये ५ आदमियों की एक छोटी समिति बना देती रही हो। इस तरह की कितनी ही समितियाँ आजकल बनाई जाती हैं। मनु के ग्रन्थों से यह पता चलता है कि हर गाँव में शासन का पूरा उत्तरदायित्व पञ्चायत को दे दिया जाता था। कुछ लेखकों ने इस तरह की पञ्चायतों की तुलना ट्यूटन जाति के संगठनों से किया है। लेकिन इससे उनकी अदूरदर्शिता का परिचय मिलता है। ट्यूटन जाति में जो संगठन बनाये गये थे उनका उद्देश्य लूट-मार करना था। इसके विपरीत ग्राम पञ्चायतें शासन प्रबन्ध करने तथा शान्ति की रक्षा के लिये बनाई गई थीं। पञ्चायतों का काम अत्याचार को दबाना था। इसके सदस्य चतुर और अनुभवशील होते

१—The four-fold division of the people in itself is one according to profession.

२—Hindu Administrative Institution, p. 366.

३—The private diary of Anandaranga Pillay, pp. 332—3.

थे। पञ्चायत की आज्ञा सबको माननी पड़ती थी। गाँव की सभी घटनायें इनमें उपस्थित की जाती थीं। बारहवीं शताब्दी की एक घटना का उल्लेख मद्रास की एक सरकारी रिपोर्ट में किया गया है। एक गाँव में किसी आदमी ने अपने पड़ोसी को जान से मार डाला। जिले भर की पञ्चायतों ने यह निर्णय किया कि अपराधी की इच्छा प्राण लेने की न थी, अतएव इसे फाँसी का दंड नहीं मिलना चाहिये। अन्त में उसे यह सजा दी गई कि वह गाँव के मन्दिर में दीपक जलाये।[1]

छोटी छोटी बातों का निर्णय पेशे की पञ्चायतों में किया जाता था। गाँव की बड़ी पञ्चायत के अतिरिक्त हर पेशे वालों की एक अलग पञ्चायत होती थी। नाई, धोबी, दर्जी, कुम्हार, लोहार, सोनार आदि पेशे वाले अलग अलग पञ्चायतें रखते थे। इन्हीं पेशे की पञ्चायतों के। विदेशियों ने जाती पञ्चायत कह कर पुकारा है। जब कोई झगड़ा या मतभेद उत्पन्न होता तो दोनों पक्ष अपनी पेशे वाली पञ्चायतों को सूचित करते थे। उन्हें यह अधिकार न था कि वे सबसे पहले सरकारी दफ्तर में इसकी सूचना दें। यदि जाती पञ्चायत अथवा ग्राम की बड़ी पञ्चायत की अवहेलना करके वे सरकारी दफ्तर की शरण लेते तो दोहरे अपराध के भागी ठहराए जाते थे। तामील जिले में एक ग्राम पञ्चायत के सामने चोरी का मामला पेश हुआ। एक महीना पहले किसी ब्राह्मण के घर में चोरी हुई थी। ब्राह्मण ने तुरन्त पुलीस को इसकी सूचना दे दी थी। पुलीस को जब चोरी का कुछ पता न चला तो उसने यह कह कर इस मामले से हाथ खींच लिया कि चोरी का मामला झूठा है। जब यह बात ग्राम पञ्चायत के सामने पेश की गई तो पञ्चायत ने उस ब्राह्मण के। २० रुपया इसलिये अर्थ-दंड दिया कि पञ्चायत की अवहेलना करके उसने पुलीस को सूचना दी थी। यह रुपया ग्राम के सार्वजनिक कामों में व्यय किया गया। इसके बाद चोरी की जाँच-पड़ताल आरम्भ हुई। चार प्रधान व्यक्तियों को यह कार्य सौंपा गया कि वे चोरी का पता लगावें और चाहे जैसे हो ब्राह्मण को ३०० रुपये का आभूषण वापिस करें। इसी तरह की घटना का वर्णन रूस की एक ग्राम पञ्चायत में भी मिलता है।

ग्राम पञ्चायत के अतिरिक्त शासन-प्रबन्ध के लिये कुछ और भी कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। गाँव का मुखिया इनका प्रधान होता था।

१—Madras Epigraphy Annual Report, 1899-1900 p. 11

सरकार और ग्राम पञ्चायत के बीच में इसका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था। जब कोई सरकारी आज्ञा दी जाती तो उसकी सूचना इसी को दी जाती थी। किसी अफसर को गाँव के मामले में इसकी आज्ञा के विरुद्ध हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। सरकारी टैक्स वसूल करने का अधिकार इसी को दिया गया था। एक दूसरा कर्मचारी गाँव का हिसाब किताब रखता था। इसका काम खेतों की नाप पड़ताल करना तथा हर कुटुम्ब की आय का हिसाब रखना था। गाँव के प्रत्येक घर से सालाना कुछ अन्न इसे वेतन के रूप में दिया जाता था। यही कर्मचारी आजकल पटवारी कहलाता है। गाँव का तीसरा कर्मचारी चौकीदार कहलाता था। चौकीदार दो होते थे। एक का काम अपराधियों का पता लगाना था। गाँव में जब कोई नया व्यक्ति आता तो उसकी जाँच पड़ताल के लिये यह तैयार रहता था। इससे बाहरी चोर-डाकू गाँव में प्रवेश नहीं कर सकते थे। दूसरे चौकीदार का काम रात में पहरा देना था। वह खेती आदि की रक्षा करता था। पहले प्रकार के चौकीदार का दर्जा ऊँचा समझा जाता था। ये चौकीदार शूद्र जातियों में से नियुक्त किये जाते थे। इनका यह उत्तरदायित्व था कि वे गाँव के प्रत्येक निवासी की रहन-सहन से परिचित हों। जब कोई चोरी आदि होती तो उन्हें अपराधी का पता लगाना पड़ता था। प्रत्येक घर से सालाना अन्न उन्हें वेतन के रूप में दिया जाता था। जब तक चोरी का पता नहीं लग जाता तब तक उनका कार्य समाप्त नहीं होता था। ये गाँव से बाहर रहते थे और इनका पद पैत्रिक था।

गाँव का चौथा कर्मचारी अमीन कहलाता था। इसका काम गाँव की सीमा ठीक करना था। यदि एक गाँव के रहने वाले किसी पड़ोसी गाँव की कुछ भूमि पर अधिकार कर लेते तो दोनों गाँव के अमीन इस का निपटारा करते थे। जब कभी दो व्यक्तियों में अपने खेतों की सीमा के लिये झगड़े पैदा हो जाते तो अमीन उसका निर्णय करता था। इनके अतिरिक्त गाँव का अध्यापक, पुजारी, ज्योतिषी तथा तालाब और पानी का निरीक्षक आदि कर्मचारी गाँव की देख-रेख के लिये रक्खे गये थे। इन्हें वेतन नहीं दिया जाता था। या तो इन्हें गाँव की कुछ भूमि बिना लगान के दे दी जाती थी अथवा हर साल प्रत्येक घर से कुछ अन्न दिया जाता था। बढ़ई, कुम्हार, लोहार, धोबी, नाई, ग्वाला, वैद्य, गायक, कवि, नर्तक, भांड आदि कर्मचारियों को सालाना अन्न दिया जाता था। ये अपने-अपने पेशे द्वारा गाँव की सेवा करते थे। किसी का स्थान एक दूसरे

से कम नहीं समझा जाता था। इन सब की अलग-अलग पञ्चायतें थीं। सभी पेशे वालों के अनुभवशील व्यक्ति ग्राम की बड़ी पञ्चायत में सम्मिलित किये जाते थे। इन पेशे वालों को देखते हुए स्पष्ट है कि प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं के लिये स्वावलम्बी था। फिर भी आस-पास के गाँवों में एकता स्थापित करने के लिए पंचायतें बनाई गई थीं। राजराजा चोला प्रथम (६८५—१०१३ ई०) के एक शिला-लेख से पता चलता है कि ४० गाँवों की एक पंचायत थी जो इन सब पर शासन करती थी।[1] एक अँगरेज विद्वान लिखता है, "गाँव का प्रबन्ध करने के लिये निम्नलिखित ६ समितियाँ होती थीं; ये सब प्रधान पंचायत की अध्यक्षता में अपना कार्य करती थीं १—वार्षिक समिति, २—बाटिका समिति, ३—तालाब समिति, ४—स्वर्ण समिति, ५—न्याय समिति और ६—पंचवार समिति (यह अन्य समितियों की देख-रेख करती थी)।"

ग्राम पंचायतों का चुनाव

वर्तमान प्रजातन्त्रवाद के अन्दर मत लेने की जो प्रथा प्रचलित है वह नई नहीं है। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से यह पता चलता है कि ग्राम-पंचायतों में मत लेने की प्रथा प्रचलित थी। सभी व्यक्ति इनके सदस्य नहीं बन सकते थे। इसके लिये आयु, शिक्षा, तथा सम्पत्ति की शर्तें लगाई गई थी। जिसके पास अपना मकान होता, जो निश्चित मात्रा में सरकारी टैक्स देता, जो मन्त्रों का ज्ञान रखता, और कम से कम एक धर्मशास्त्र की पूरी जानकारी रखता वह पञ्चायत का सदस्य बन सकता था। जिसे एक वेद का पूरा ज्ञान रहता वह भी पञ्चायत का सदस्य बनने का अधिकारी समझा जाता था। इसके अतिरिक्त चरित्र और आयु का भी बन्धन लगाया गया था। ३५ वर्ष से कम और ७५ वर्ष से ऊपर की आयु का कोई व्यक्ति पञ्चायत का सदस्य नहीं बन सकता था। निम्नलिखित व्यक्ति सदस्य बनने से सर्वथा अयोग्य ठहराये गये थे :—

१—जो सदस्य किसी कारणवश एक बार अपराधी घोषित कर दिया जाता या उसके सम्बन्धी पञ्चायत के सदस्य नहीं बन सकते थे, उसके भाई, बहिन, माता, पिता आदि को पञ्चायत में स्थान नहीं दिया जाता था।

२—ब्रह्म हत्या करने वाला, शराबी, सोने की चोरी करने वाला, अथवा व्यभिचारी पञ्चायत का सदस्य नहीं बन सकता था। अर्थात् पाँच महापातकी इस पद से वंचित किये गये थे।

१—Archological Survey of India, 1904—5, p. 130

३—चोर तथा डाकू, नीचों की संगति में रहने वाले, और उतावले पञ्चायत में सम्मिलित नहीं हो सकते थे।

४—चरित्रहीन व्यक्तियों के लिये पञ्चायत में कोई स्थान न था।

५—त्याज्य भोजन करने वालों को पञ्चायत में स्थान नहीं दिया जाता था।

६—षड्यन्त्रकारी तथा गदहे पर चढ़े हुये व्यक्तियों को पञ्चायत में सम्मिलित नहीं किया जाता था।

चुने हुये व्यक्तियों में से सबसे चतुर तथा अनुभवशील १२ सदस्यों की एक समिति अन्य समितियों की देख-रेख के लिये बना दी जाती थी। इसे वार्षिक समिति कहा जाता था। दूसरे १२ सदस्यों की एक समिति बगीचों की देख-रेख के लिये और इन दोनों के अतिरिक्त ६ सदस्यों की एक तीसरी समिति तालाबों की देख-रेख के लिये बनाई जाती थी। इन समितियों का कोई सदस्य किसी अपराध में पकड़ा जाता तो वह अपने पद से हटा दिया जाता था। इनके अतिरिक्त जो अन्य समितियाँ गाँव की देख-रेख के लिये बनाई जाती थीं उनका चुनाव फिर से होता था।

इन ३० सदस्यों का चुनाव इस वैज्ञानिक ढंग से किया जाता था कि किसी को इसमें आपत्ति नहीं होती थी। गाँव को ३० बराबर भागों में बाँट दिया जाता था। प्रत्येक भाग में रहने वाले योग्य व्यक्तियों को एक एक टिकट दिया जाता था। वे इस पर अपना नाम लिख कर किसी एक जगह रखते थे। तीसों मुहल्लों की तीस ढेरियाँ लग जाती थीं। हर ढेरी पर मुहल्ले का नाम लिखा रहता था। फिर हर ढेरी के टिकट अच्छी तरह रस्सी से बाँध दिये जाते थे। यह सारा काम गाँव की सबसे बड़ी सभा के सामने, जिसमें गाँव के लगभग सभी लोग सम्मिलित रहते थे, होता था। गाँव के छोटे बड़े सभी पुजारी उपस्थित रहते थे। सबसे बड़ा पुजारी तीसों ढेरियों की अलग अलग बँधी हुई गठरियों को एक मिट्टी के बर्तन में रखता था। इसके पश्चात् वह दोनों हाथों से बर्तन को उठाकर आँख ऊपर किये किसी बच्चे को बुलाता था। बच्चे को यह मालूम नहीं था कि मिट्टी के बर्तन में क्या रक्खा हुआ है। बच्चा बर्तन से एक गठरी निकाल देता था। इसके बाद पुजारी उस गठरी के सभी टिकटों को इधर उधर फेर कर किसी दूसरे बर्तन में रख देता था। फिर वह बच्चा इनमें से एक टिकट निकालता था। एक मध्यस्थ दाहिना हाथ अच्छी तरह खोलकर पाँचों उँगलियों को

फैलाकर इस टिकट को बच्चे से ले लेता था। जिस व्यक्ति का नाम इस टिकट पर लिखा रहता था वह पंचायत का एक सदस्य घोषित कर दिया जाता था। इसी तरह बारी बारी से तीसों सदस्यों का चुनाव होता था। स्त्रियाँ भी पंचायत अथवा समितियों की सदस्या बन सकती थीं।[१]

गाँव और राजा मुसलमानी काल में बादशाहों को गाँवों के शासन में हाथ डालने की आवश्यकता कम पड़ती थी। जब तक उन्हें कर सरलतापूर्वक मिल जाता तब तक वे गाँवों की चिन्ता से सर्वथा निर्द्वन्द थे। ग्राम पंचायत तथा समितियों का वे इतना आदर करते थे कि किसी सरकारी कर्मचारी को उसमें हाथ डालने की कड़ी मनाही थी। परन्तु हिन्दू काल में यह बात न थी।[२] राजा ग्राम पंचायतों का आदर करते हुये भी गाँव के प्रबन्ध का ध्यान रखता था। वह इसे अपने राज्य का एक अंग समझता था। राजा की ओर से अनेक कर्मचारी गाँवों की देख-रेख के लिये नियुक्त किये जाते थे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि गाँव और केन्द्रीय सरकार के बीच में एक तीसरी राजनीतिक संस्था थी। गाँवों का सम्बन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार से था। हितोपदेश में एक स्थान पर कहा गया है कि :—

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे, पृथिवीं त्यजेत्।

अर्थात् कुटुम्ब की भलाई के लिये व्यक्ति को, ग्राम की भलाई के लिये कुटुम्ब को, राष्ट्र की भलाई के लिये गाँव को और अपनी भलाई के लिये व्यक्ति इस पृथ्वी को छोड़ने के लिये सर्वथा तैयार रहे।

मनु के कथनानुसार गाँव और राजा का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। गाँव का मुखिया वही नियुक्त करता था।[३] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस विषय के अनेक वर्णन मिलते हैं कि राजा गाँवों के मामलों में सीधा हाथ

१—Madras Epigraphy Annual Report, 1909-10, p. 98.

२—For Metcalfe's famous description of the Indian Village Community see Baden-Powell "Land System of British India" Vol. 1, p. 170.

३—मानव धर्मशास्त्र, अ० ८

डाल सकता था।[1] शुक्रनीति में राजा के अनेक कर्तव्यों में एक यह भी बात आवश्यक ठहराई गई है कि वह वर्ष में एक बार हर गाँव का भ्रमण करे। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह प्रजा की कठिनाइयों को स्वयं सुने, और कोई सरकारी कर्मचारी उस पर अत्याचार करता है तो उसे दंड देने की व्यवस्था करे। दक्षिण भारत के शिला-लेखों से पता चलता है कि ग्राम पञ्चायतों और राजाओं में घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। किसी गाँव की सभा ने ग्राम-वासियों का कुछ रुपया खा डाला। यह राशि किसी मन्दिर के लिये रक्खी गई थी। मन्दिर के कर्मचारियों ने राजा से इसकी शिकायत की। राजा ने दोनों पक्षों को बुला भेजा और सभा को दोषी सिद्ध किया। सभा को जुर्माना किया गया और यह राशि मन्दिर को दे दी गई।[2] १२६१ ई० में एक ग्राम की पञ्चायत ने राजा से यह शिकायत की कि अमुक ब्राह्मण चरित्रहीन है और एक विधवा स्त्री रक्खे हुये है। इस मामले में राजा का क्या निर्णय रहा इसका वर्णन नहीं किया गया है।[3] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि हिन्दू काल में राजा स्वयं गाँवों में जाते थे और प्रजा की दशा जानने का प्रयत्न करते थे। कुछ राजा तो वेष बदल कर गाँवों में घूमते थे जिससे प्रजा की ठीक ठीक दशा का ज्ञान हो। रात में राजा लोग प्रजा की दशा जानने के लिये गाँवों का चक्कर करते थे। लेकिन जब उन्हें गाँव के मामलों में हाथ डालना होता तो वे ग्राम पञ्चायतों द्वारा ऐसा कर सकते थे।

बृटिश राज्य में ग्राम पञ्चायतें

स्थानीय शासन की व्यवस्था का अपहरण होने से ग्राम पञ्चायतों का महत्व जाता रहा। गाँव के मुखिया, चौकीदार, पटवारी, अमीन सबके अधिकार छीन लिये गये। इनमें से कुछ तो सरकारी कर्मचारी घोषित कर दिये गये और कुछ सर्वथा शक्तिहीन कर दिये गये। इसका परिणाम इतना भयंकर हुआ कि गाँव असंगठित तथा अशिक्षित होते गये। जिन गाँवों के झगड़े पञ्चायतों द्वारा निर्णय किये जाते थे वे थानों और कचहरियों का मुँह ताकते थे। छोटे छोटे झगड़ों तक की रिपोर्ट पुलिस को दी जाती थी। सरकारी कर्मचारियों की ओर से जब उन पर अनुचित दबाव डाले जाते थे तो उनकी सुनाई सरकारी विभागों में कम होती थी। जिले का

१—मैसूर पत्रिका, फरवरी १६०८

२—Madras Epigraphy Annual Report 1906—7 p.71.

३—Madras Epigraphy Annual Report 1908—9, p. 83

कलक्टर और सुपरिन्टेडेन्ट, पुलिस के विरुद्ध ग्रामवासियों की कोई शिकायत नहीं सुनते थे। पुलिस के भय के कारण कोई गवाही तक करने के लिये तैयार नहीं था। यदि गाँव का जीवन संगठित होता, और सरकारी कर्मचारियों को अपनी अनुचित कार्यवाहियों के लिये पञ्चायत का डर रहता, तो वे निहत्थे ग्रामवासियों पर अनाचार और अत्याचार न करते। स्थानीय शासन की वृद्धि के साथ पञ्चायतों का फिर से श्रीगणेश किया गया है। लेकिन इसका तात्पर्य केवल ऊपरी ढाँचे से नहीं है, बल्कि ग्राम पञ्चायतों को वे सारे अधिकार प्राप्त होने चाहिये जो उन्हें हिन्दू और मुसलमानी काल में दिये गये थे।

वर्तमान समय में पञ्चायतों की स्थापना फिर से की गई है। दक्षिण भारत में पञ्चायतों ने अधिक सफलता दिखलाई है। इसका कारण यह है कि जमींदारी प्रथा न होने से प्रजा की कार्रवाइयों में कोई अनुचित हस्तक्षेप करने का साहस नहीं करता। उत्तर भारत में पञ्चायतों की स्थापना के लिये विभिन्न राज्यों में कितने ही कानून पास किये गये हैं। १९२० ई० में उत्तर प्रदेश में एक ग्राम पञ्चायत ऐक्ट पास किया गया था। बिहार और पंजाब में भी इसी प्रकार के पंचायत ऐक्ट पास किये गये थे। १९१९ ई० में बंगाल में एक ग्राम स्वराज ऐक्ट पास किया गया, तदनुसार बहुत से यूनियन बोर्ड की स्थापना की गई। १९२० ई० में उत्तर प्रदेश में जो पंचायत ऐक्ट पास किया गया था उसके अनुसार जिले के कलेक्टर को यह अधिकार दिया गया कि वह ग्रामों में पंचायतें बना सकें। गाँवों में पंचों को नियुक्त करने का अधिकार उसे दिया गया था। पंचों की संख्या कम से कम ५ और अधिक से अधिक ७ हो सकती थी। यह पंचायत या तो प्रत्येक गाँवों में हो सकती थी अथवा ४ ६ गाँवों के बीच में एक ही पंचायत बनाई जा सकती थी।

पिछली पंचायत को दीवानी और फौजदारी दोनों तरह के अधिकार दिये गये थे। २५ रुपये तक के दीवानी मुकदमे का निर्णय करने का अधिकार इसे दिया गया था। यदि किसी ने जान बूझ कर किसी का पशु पकड़ लिया अथवा ग्रामनिवासियों की सफाई में बट्टा पहुँचाया तो उसका मुकदमा पंचायत तय करती थी। जिसने १० रुपये तक की चोरी की या किसी भी तरह से १० रुपये तक की हानि पहुँचायी तो उसका मुकदमा पंचात को दे दिया जाता था। साधारण मारपीट अथवा अपमान करने वाले फौजदारी के मुकदमे पंचायत में पेश किये जाते थे। वह फौजदारी के मामलों में १० रुपये तक, पशुओं के मामलो में ५ रुपये तक, और स्वास्थ्य सम्बन्धी मामलों में १ रुपये तक अर्थ दंड दे सकती थी। जिन व्यक्तियों को नम्बर १० घोषित

किया गया था उनके मुकदमों की सुनाई पंचायत में नहीं हो सकती थी। सरकारी कर्मचारियों के मुकदमे पंचायत में पेश नहीं किये जा सकते थे। पंचायत न तो किसी को जेल भेज सकती थी और न १० रुपये से अधिक अर्थ-दंड दे सकती थी। इसका मुख्य काम गाँव की सफाई करवाना, कुएँ और तालाबों की सफाई का प्रबन्ध करना तथा शिक्षा, खेल-तमाशे, रोशनी, बगीचे आदि की व्यवस्था करना था।

पूर्ण स्वाधीनता और पंचायत राज्य

स्वतन्त्र भारत में पंचायती राज्य की भावना बढ़ रही है। सभी राज्यों में पंचायतें स्थापित की गई हैं और ऐसी व्यवस्था की जा रही है कि ग्रामीण क्षेत्र में पंचायत राज्य का प्राचीन गौरव पुनः स्थापित हो जाय। देहात के लोग अधिक ईमानदार और कम प्रपंचकारी होते हैं। उनके स्थानीय शासन की व्यवस्था उन्हीं के हाथों में सौंपना हर प्रकार से उचित है। अकेले उत्तर प्रदेश में लगभग ५०,००० पंचायतें बनाई गई हैं। प्रत्येक १००० जन-संख्या वाले ग्राम में एक ग्राम-सभा बनाई गई है। ग्राम-सभा में गाँव के सभी स्त्री और पुरुष नागरिक सम्मिलित किये गये हैं। इसी ग्राम-सभा की कार्यपालिका का नाम ग्राम पंचायत है। ग्राम पंचायत में एक हजार की जन-संख्या तक ३०, दो हजार तक ३६, दो से ३ हजार के बीच में ३९, तीन से चार हजार के बीच में ४५ और चार हजार से ऊपर की जन-संख्या पर ५१ पंच होते हैं। प्रत्येक पंचायत का सभापति और उपसभापति गाँव सभा द्वारा चुना जाता है। पंचायत के सदस्य तीन वर्ष के लिये चुने जाते हैं। गाँव सभा दो तिहाई वोटों से सभापति और उपसभापति को अलग कर सकती है।

प्रत्येक ग्राम सभा के सभी वयस्क स्त्री-पुरुष पंचायती अदालत के लिये ५ पंच चुनते हैं। तीन से पाँच ग्राम-सभाओं के चुने हुये पाँच-पाँच पंचों का एक पंच मण्डल होता है। यही अपना सरपञ्च चुनता है। सरपंच प्रत्येक मुकदमें के लिये पंच मण्डल में से ५ पंचों की एक समिति बनाता है। इसे कारावास का दण्ड देने का अधिकार नहीं है परन्तु यह १०० रुपये तक जुर्माना कर सकती है। १०० रुपये तक की सम्पत्ति का मुकदमा करने का इसे अधिकार दिया गया है। सरकार किसी पंचायती अदालत को ५०० रुपये तक की सम्पत्ति का मुकदमा करने का अधिकार दे सकती है। छोटे-मोटे फौजदारी के भी मुकदमे पंचायत में निर्णय किये जाते हैं। पंचायती अदालत की अवधि ३ वर्ष रक्खी गई है।

ग्राम पंचायत और पंचायती अदालत की विस्तृत व्याख्या के लिये एक स्वतन्त्र ग्रंथ की आवश्यकता है। इनके अधिकार और कार्य-क्षेत्र देखने में छोटे हैं परन्तु वे व्यापक हैं। सरकार का विचार पंचायतों को शासन का क्रियात्मक केन्द्र बनाना है। ग्रामोन्नति के सभी कार्य पंचायत के हाथों में रक्खे गये हैं। चूँकि यह व्यवस्था सदियों से विकृत हो गई थी, इसलिये ग्राम निवासी इसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। सरकार और जनता दोनों को धैर्यपूर्वक इसे चलाना होगा। विदेशी शासन ने जनता की मनोवृत्ति को ऐसे साँचे में ढाल दिया है जो स्वतन्त्र वातावरण पैदा करने में कठिनाई उत्पन्न करती है। कुछ वर्षों के अभ्यास से ही इसका निराकरण होगा।

अध्याय १७

न्यायालय

(JUDICIARY)

विधान-मण्डल और कार्यपालिका विभाग का कार्य विधि को बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना है। इनके अन्दर इस बात की योग्यता नहीं होती कि इन्हें कार्यान्वित करने में कहाँ तक न्याय वर्ता जा सकता है। इसीलिये सरकार का न्याय विभाग बनाया गया है कि वह राज्य में न्याय की रक्षा करे। राज्य के उद्देश्य तब तक सिद्ध नहीं हो सकते जब तक वहाँ सब कामों में न्याय नहीं है। अफलातून के कथनानुसार न्याय राज्य का अन्तिम उद्देश्य है।[1] यदि विधान-मण्डल किसी कार्य के लिये एक लाख रुपये स्वीकार करे, और कार्यपालिका विभाग केवल १० हजार व्यय करके शेष अपनी जेब में रक्खे, तो इसकी देख रेख के लिये एक ऐसा विभाग आवश्यक है जो उसे उचित दंड दे। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अच्छाई और बुराई का पारितोषिक और दंड मिलना चाहिये। जितने लोग कारागार की यातनायें भोग रहे हैं उनके साथ भी सरकार ने न्याय किया है। सचाई को असत्य से अलग करना इसी का कार्य है। जो सरकार अपने राज्य में छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, धनी-गरीब, का विचार कर कार्य करती है वह पक्षपाती और दोषी कहलाती है। इन्हीं त्रुटियों को दूर करने के लिये न्याय विभाग बनाया गया है। कचहरियों का उद्देश्य केवल आँख मूँद कर विधि को बर्तना नहीं है, बल्कि उनके उचित प्रयोग से लोगों को इस बात की चेतावनी देना है कि सच्ची स्वतन्त्रता विधियों के पालन में है।

न्यायालय का महत्व

नागरिकों के अधिकार, उनकी सुविधायें, उनकी स्वतन्त्रता तथा उनके उच्च जीवन की रक्षा की परख न्यायालयों में होती है। यदि न्याय-विभाग द्वारा दंड प्रयोग न किया जाय तो निर्बल की रक्षा बलवान से नहीं हो सकती। इस विभाग की प्रधानता के कारण सरकार का बड़ा-से बड़ा कर्मचारी अपने कर्तव्यों में सतर्क रहता है। न्याय का स्थान राज्य में जितना ही ऊँचा

१—Justice is the end of the State.

होता है उसी परिमाण में वहाँ सुख और शान्ति विराजती है। परन्तु न्याया-लयों में कार्य करने वाले पदाधिकारी योग्य और निष्पक्ष होने चाहिये। न्यायाधीश को अपने समय और परिस्थिति की पूरी जानकारी होनी चाहिये। उतावलेपन में आकर वह न्याय के बदले अन्याय कर सकता है। न्याय बर्तने में उसे निर्भय और निष्पक्ष होना चाहिये, तभी वह विधि के वास्तविक अर्थ को समझ सकता है। सरकार को स्वयं ऐसे व्यक्तियों की खोज करनी चाहिये और उन्हें अपने कर्तव्य-पालन का एक समुचित वातावरण तैयार करना चाहिये। न्याय के लिये समानता और समता का होना आवश्यक है। न्यायाधीश को शान्त, निष्पक्ष, निर्भय और प्रभाव से ऊपर होकर अपना उत्तरदायित्व निबाहना होगा। वकीलों के तर्क-वितर्क को समझने के लिये उसमें पूरी योग्यता हो और मनुष्य तथा संसार दोनों का उसे अधिक-से-अधिक अनुभव हो। पद और पैसे के लोभी व्यक्ति न्याय-विभाग को दूषित किये बिना नहीं रह सकते।

न्याय की प्राचीन व्यवस्था

बृटिश-राज्य से पहले आजकल की-सी कचहरियाँ न थीं। हिन्दू काल में हमारे देश में छोटे-छोटे एकतन्त्र राज्यों का वर्णन मिलता है। इनमें कुछ तो वर्तमान नाजीवाद से भी बुरे थे, परन्तु अधिकतर प्रजातन्त्रवादी थे। राजा लोग प्रजा की अनुमति का आदर करते थे। लोकमत की अवहेलना करने में उन्हें संकोच होता था। न्याय-विभाग यद्यपि अलग नहीं था, परन्तु इसके कर्मचारी स्थान-स्थान पर नियुक्त किये गये थे। बड़े-बड़े अभियोगों को राजा स्वयं सुनता था। अपराधियों को कारावास का दंड आजकल की तरह नहीं दिया जाता था। दंड की व्यवस्था समय-समय पर बदलती रहती थी। किसी काल में कड़े दंड का विधान था और किसी समय अपराधी को समझा बुझाकर अथवा आध्यात्मिक दंड देकर छोड़ दिया जाता था। कभी-कभी तो लोगों के हाथ-पैर तक काट लिये जाते थे। अभियोगों का निर्णय पंचायतों द्वारा होता था। लोगों को न्यायालयों की आवश्यकता नहीं होती थी। सरकार की ओर से जो कर्मचारी न्याय के लिये नियुक्त किये जाते थे वे धार्मिक और सात्विक विचारों के होते थे। मुसलमानी काल में सूबों के गवर्नर अभियोगों का निर्णय करते थे। क़ाजी और पण्डित जिन मामलों को नहीं सुलझा पाते थे उनका निर्णय गवर्नर करता था।

प्राचीन काल की न्याय-पद्धति का पूरा वर्णन हमारे विषय से बाहर की वस्तु है। इसकी चर्चा इसलिये की गई है कि प्राचीन न्याय-संस्थायें थोड़ी

थीं। उनका संगठन आजकल की तरह जटिल नहीं था। स्थानीय संस्थायें स्वयं अपना निर्णय कर सकती थीं। गाँव का मुखिया जज का भी काम करता था। लोगों को धर्म का इतना अधिक भय था कि वे झूठ बोलने तथा धोखा देने में भयभीत होते थे। उन्हें यह डर था कि किसी को धोखा देकर हम ईश्वर के सामने अपराध से नहीं बच सकते। धर्म-ग्रन्थों में यह भलीभाँति स्पष्ट किया गया है कि परलोक की यातनायें इस लोक से कहीं कड़ी हैं। इसी भय के कारण लोग अपने अपराधों को छिपाने का प्रयत्न कम करते थे। गंगा का पानी अथवा कोई धर्म-ग्रन्थ ज्योंही उनके सामने रक्खा जाता त्योंही वे साफ-साफ बातों को कह देते थे। ऊपरी वातावरण भी ऐसा था कि लोग अपने कर्तव्यों का फल भोगने में अपना गौरव समझते थे। किसी अपराधी की रक्षा करना पाप समझा जाता था। यही कारण है कि कोई भी साधारण व्यक्ति अपराधियों को पहचान सकता था। कभी-कभी तो अपराध करने वाले स्वयं पण्डितों और काजियों के पास चले आते और अपना उचित दंड चाहते थे। न्याय-ग्रन्थों में इस प्रकार के भी दंड पाये जाते हैं जब कि अपराधी अपने आप किसी पेड़ के खोखले में, अथवा पर्वत की गुफाओं में बिना अन्नजल के महीनों बैठकर प्राण त्याग देते थे। कुछ अपराधी अपने आपको अग्नि में जला लेते थे। दान और पुण्य का दँड अधिक दिया जाता था। ऐसे उच्च वातावरण में न्याय करने में सुविधा होती थी।

बृटिश राज्य में न्यायालयों का विकास

वैज्ञानिक युग आरम्भ होते ही विश्वास की भावना जाती रही। लोगों को धर्म का भय एक ढोंग मालूम पड़ने लगा। विश्वास का स्थान तर्क ने ले लिया। लोग अपने अपराधों को छिपाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। इसीलिये न्याय-विभाग का संगठन नये सिरे से करना पड़ा। जो मशीन आज दिखाई पड़ रही है वह अधिक से अधिक १५० वर्ष पुरानी है। न्याय विभाग नीचे से ऊपर तक जिस रूप में आज काम कर रहा है वह सब बृटिश सरकार की देन है। जब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी केवल व्यापार करती थी तब तक उसे न्याय करने का अधिकार नहीं था। परन्तु जब उसका व्यापार बढ़ने लगा और उसकी अधीनता में काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या काफी बढ़ गई तो उसे इस बात की आवश्यकता हुई कि अपने क्षेत्र में छोटे मोटे झगड़ों का निपटारा वह स्वयं करे। मुगल राज्य में न्याय की व्यवस्था कम न थी।

कम्पनी को यह अधिकार सरलता पूर्वक नहीं मिल सकता था। उसके

कर्मचारी मुग़ल राज्य की प्रजा थे। अतएव उसका निर्णय नव्वाबों और काजियों के हाथ से अलग कम्पनी को कैसे दिया जा सकता था।

एलिजबेथ के समय में कम्पनी को जो आज्ञा पत्र मिला, उसमें उसे यह अधिकार दिया गया था कि वह कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिये अपने अधीन कर्मचारियों को दंड दे सकती है। इसका अर्थ यह नहीं था कि कम्पनी को न्यायालय बनाने की आज्ञा मिल गई, बल्कि अपने व्यापार की सुविधा के लिये उसे कुछ साधारण अधिकार दिये गये थे। १६६१ ई० में फैक्ट्री के गवर्नरों को यह अधिकार दिया गया कि इंगलैंड के कानून के अनुसार वे अपने कर्मचारियों को दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार का दंड दे सकते हैं। १६६६ ई० में जब बम्बई कम्पनी को सौंपा गया तो कुछ समय के लिये यहाँ दो कचहरियाँ बनाई गईं। छोटी कचहरी में एक अंगरेज और दो भारतीय जज रक्खे गये। बड़ी कचहरी का नाम सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) था, इसमें डिप्टी गवर्नर और एक कौंसिल मुकदमों का निर्णय करते थे। इसका निर्णय अन्तिम माना जाता था। १६८३ ई० में जेम्स द्वितीय के समय में मद्रास में एक म्युनिसिपल बोर्ड की स्थापना की गई। इसके अध्यक्ष मेयर तथा उसकी समिति (Albermen) को दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमों को निर्णय करने का अधिकार दिया गया। १७२६ ई० में इसी तरह की कचहरियाँ कलकत्ता और बम्बई में भी स्थापित की गईं। इनके मुकदमों की अपील सुप्रीम कोर्ट में की जाती थी। ४०० रुपये से ऊपर के मुकद्मों की अपील सम्राट् की कौंसिल में होती थी।

१७७३ ई० के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट के अनुसार बंगाल में एक प्रधान न्यायालय (Supreme Court of Judicature) की स्थापना की गई। १८६२ ई० तक इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त इसमें ४ सहायक न्यायाधीश रक्खे गये। इन सबकी नियुक्ति स्वयं सम्राट् द्वारा की गई थी। इसे सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। बंगाल की प्रजा और कम्पनी के कर्मचारियों पर इस न्यायालय का अधिकार था। वारेन हेस्टिंग्ज और प्रधान न्यायालय में मतभेद आरम्भ हुआ। यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि गवर्नर-जनरल और प्रधान न्यायालय इन दोनों में कौन बड़ा और कौन छोटा है। न्यायालय के अधिकार स्पष्ट नहीं किये गये थे। अन्त में पार्लियामेंट ने एक कानून पास करके इसका निपटारा किया। १७८१ ई० में यह बात स्वीकार कर ली गई की गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल का दर्जा प्रधान न्यायालय से ऊँचा है। किसानों, जमींदारों और

पेंशन पाने वाले कर्मचारियों पर न्यायालय का कोई अधिकार नहीं ठहराया गया। इनका निर्णय मुगल राज्य के न्यायालयों में किया जाता था। कम्पनी की अधीनता में हिन्दू और मुसलमान अपराधियों का निर्णय दोनों के नियमों के अनुसार क्रमशः किया जाता था। रीति-रवाजों तथा धार्मिक नियमों का ध्यान रक्खा जाता था।

१७६५ ई० में जब कम्पनी को बंगाल और बिहार प्रान्त की दीवानी मिली तो उसे मुकदमों के निर्णय करने का भी अधिकार मुगल राज्य की ओर से दिया गया। वारेन हेस्टिंग्ज ने मुगल राज्य के न्यायालयों के आधार पर कचहरियों का निर्माण किया। टैक्स लेने तथा मुकदमों को निर्णय करने का कुल अधिकार अंगरेज कर्मचारियों को दे दिया गया। हर जिले में एक अंगरेज कलेक्टर और एक भारतीय दीवान रक्खे गये। इन दोनों के मेल से दीवानी कचहरी बनाई गई। इसके अतिरिक्त हर जिले में एक फौजदारी कचहरी बनाई गई। इस कचहरी में एक काजी, एक मुफ्ती और दो मौलवी रक्खे गये। कलेक्टर भी इनके साथ बैठता था, लेकिन वह चुपचाप इनकी कार्रवाइयों को देखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता था। दीवानी कचहरी की अपील सदर दीवानी कचहरी में होती थी। यह कचहरी कलकत्ते में थी। गवर्नर और उसकी कौंसिल और कुछ भारतीय अफसर मुकदमों का निर्णय करते थे। फौजदारी के मुकदमों की अपील सदर निजामत अदालत में की जाती थी। एक दारोगा, एक मुफ्ती, एक काजी और एक मौलवी इसके जज होते थे। पहले यह कचहरी कलकत्ते में थी, परन्तु बाद में यह मुर्शिदाबाद में कर दी गई। कचहरियों का कार्यक्रम वारेन हेस्टिंग्ज ने स्वयं निश्चित किया। यह पहला अवसर था जब कि अंगरेजी ढंग के न्यायालय हमारे देश में स्थापित हुए।

१७७४ ई० में माल और दीवानी के मुकदमें एक दूसरे से अलग कर दिये गये। दोनों विभागों के कर्मचारी अलग-अलग नियुक्त किये गये। दीवानी मुकदमों का निर्णय करने के लिये भारतीय अमीन नियुक्त किये गये। १७८० ई० में १६ दीवानी कचहरियाँ बनाई गईं। हर कचहरी का प्रधान सुपरिन्टेन्डेन्ट कहलाता था। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि न्याय विभाग के नये-नये प्रयोग और विभिन्न न्यायालय बंगाल प्रान्त से आरम्भ किये गये हैं। कम्पनी की जड़ पहले इसी प्रान्त में जमी थी। जब कार्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल हुआ तो न्यायालयों के संगठन में अनेक परिवर्तन किये गये। १७९० ई० में सदर निजामत अदालत मुर्शिदाबाद से फिर कलकत्ता बुला ली गई। छोटे-मोटे फौजदारी के मुकदमों को

निपटाने के लिये १७६३ ई० में ४ नई कचहरियाँ और स्थापित की गईं। इन्हें सरकुट कोर्ट (Court of Circuit) कहते हैं। कार्नवालिस ने कलेक्टर को फिर फौजदारी के मुकदमों का अधिकार दे दिया। इसी की देख-रेख के लिये ४ सरकुट कोर्ट स्थापित की गई थीं। कलकत्ते में एक सबसे बड़ी फौजदारी की कचहरी (Sadar Nizamat Adalat) खोली गई। गवर्नर जनरल-स्वयं इसका सभापति होता था। दीवानी के मुकदमें विशेष जजों को दिये गये। इन्हें फौजदारी मुकदमें भी निर्णय करने का अधिकार था। इनकी अपील प्रान्तीय कचहरियों में होती थी। इन प्रान्तीय कचहरियों की संख्या ४ थी। दीवानी मुकदमों के अपील की सबसे बड़ी अदालत, सदर दीवानी अदालत, स्थापित की गई। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल इसके जज नियुक्त किये गये।

लार्ड वेलजली के समय में दोनों अपील की कचहरियों (Sadar Diwani and Nizamat Adalat) में १८०१ में कुछ संशोधन किये गये। गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के अतिरिक्त ३ या इससे कुछ अधिक जज इनमें नियुक्त किये जा सकते थे। लार्ड विलियम बेंटिंग ने प्रान्तीय कचहरियों को भंग कर दिया और उनका कार्य जजों को सौंप दिया गया। कलेक्टर को फिर मजिस्ट्रेट के सारे अधिकार दे दिये गये। तब से आज तक कलेक्टर को ये दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। एक ओर तो वह अपने जिले में कार्यपालिका विभाग का प्रधान है और दूसरी ओर मुकदमों का निर्णय भी करता है। इसे अलग-अलग करने की चर्चा बहुत दिनों से चल रही है, परन्तु अभी तक यह कार्य अधूरा है। कुछ जिलों में अनुभव के रूप में ये अधिकार पृथक् किये गये हैं और राज्य की सरकार क्रमशः अन्य जिलों में भी इसे लागू करना चाहती है। इन कचहरियों के अतिरिक्त कुछ और भी छोटी-छोटी कचहरियाँ बनाई गई थीं।

१८६१ ई० में महारानी विक्टोरिया को यह अधिकार दिया गया कि वह कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हाईकोर्ट की स्थापना करे। सुप्रीम कोर्ट और अदालत कोर्ट भंग कर दी गई। इस हाईकोर्ट ऐक्ट के अनुसार प्रत्येक हाईकोर्ट में एक प्रधान जज और अधिक से अधिक १५ सहायक जज नियुक्त किये जा सकते थे। इनमें कम-से कम एक तिहाई जज बैरिस्टर हों और एक तिहाई इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य हों। १८६६ ई० में इलाहाबाद हाईकोर्ट की स्थापना की गई और इसी साल लाहौर में एक चीफकोर्ट खोली गई। १९११ ई० में एक दूसरा हाईकोर्ट ऐक्ट पास किया गया। इसके अनुसार जजों की संख्या १३ से २० तक कर दी गई।

आवश्यकता पड़ने पर किसी भी प्रान्त में हाईकोर्ट की स्थापना की जा सकती थी। इसी ऐक्ट के अनुसार पटना, लाहौर और रंगून में हाईकोर्ट की स्थापना की गई। अवध में एक चीफकोर्ट खोली गई। मध्यप्रान्त पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिन्ध में जुडीशियल कमिश्नर कोर्ट की स्थापना की गई।

प्रिवी कौंसिल

स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक प्रिवी कौंसिल भारत की सबसे बड़ी कचहरी रही है। हाईकोर्ट तथा संघ न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये मुकदमें इस कौंसिल में अपील किये जा सकते थे। फौजदारी के मुकदमें किसी विशेष परिस्थिति में ही इसमें अपील किये जा सकते थे। दीवानी मुकदमें भी तभी अपील किये जा सकते थे जब इनका मूल्य किसी निश्चित राशि से ऊपर हो; १०,००० रुपये से कम मूल्य का कोई भी मुकदमा कौंसिल में अपील नहीं किया जा सकता था। दोनों प्रकार की अपीलों की आज्ञा हाईकोर्ट से प्राप्त करनी पड़ती थी। अपील के अतिरिक्त किसी नये मुकदमें की उत्पत्ति प्रिवी कौंसिल में नहीं हो सकती थी। १९३५ के शासन-विधान के अनुसार जो संघ-न्यायालय स्थापित किया गया था वह कानूनन प्रिवी कौंसिल से छोटा था। संघ-न्यायालय में फैसल किये गये मुकदमों की अपील प्रिवी कौंसिल में हो सकती थी।

संघ न्यायालय और इसकी आवश्यकता

प्रत्येक संघ शासन-विधान में संघ-न्यायालय का होना अनिवार्य है। संघ-शासन का निर्माण कई रियासतों अथवा सूबों के मेल से होता है। केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त प्रत्येक इकाई अपनी स्थानीय सरकार रखती है। संघ-शासन की योजना इन इकाइयों को संगठित कर इनकी शक्ति को और दृढ़ करने के लिए बनाई जाती है। केन्द्रीय सरकार, जिसे संघ-सरकार भी कहते हैं, स्थानीय सरकारों को किसी भी तरह दबाने की अधिकारिणी नहीं है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये संघ और स्थानीय सरकारों के विषय अलग-अलग बाँट दिये जाते हैं। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। रियासतों या सूबों के घनिष्ठ सम्पर्क के कारण संघ की स्थापना होती है। किसी सीमा तक इनकी सहानुभूति और सहकारिता पहुँच जाने के बाद संघ का निर्माण किया जाता है। इतने पर भी दो प्रकार के भय सदैव बने रहते हैं। किन्हें भी दो सूबों में मतभेद उत्पन्न हो सकता है। विषयों के विभाजन में संघ और स्थानीय सरकार को कोई-न-कोई कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। यह

भी सम्भव है कि शासन-विधान की किसी धारा के दो अर्थ निकाल लिये जायँ। जब इस प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं तो एक ऐसी संस्था आवश्यक है जो इन्हें सुलझाने की योग्यता रखती हो। संघ-न्यायालय की स्थापना इसीलिये की जाती है। कोई भी संघ-शासन एक प्रधान न्यायालय के बिना नहीं चल सकता।

संघ-न्यायालय संघ-शासन-विधान का संरक्षक होता है।[१] इसमें काम करने वाले न्यायाधीशों को सूबों और संघ दोनों को एक दृष्टि से देखना पड़ता है। जिस प्रकार साधारण कचहरियाँ दो व्यक्तियों अथवा दो दलों में निष्पक्ष भाव से निर्णय करती हैं, उसी प्रकार संघ न्यायालय को संघ और प्रान्तीय सरकार दोनों के बीच में निर्णय करना पड़ता है। संघ-शासन-विधान की बारीकियों से इन्हें भली-भाँति परिचित रहने की आवश्यकता है। संघ-न्यायालय और अखिल भारतीय न्यायालय में कुछ अन्तर है। एक का कार्य शासन-प्रबन्ध में वैधानिक कठिनाइयों को सुलझाना है और दूसरे का कार्य भारत में सभी प्रकार के मुकदमों का अन्तिम निर्णय करना है। १६२५ ई० में भारतीय असेम्बली में इस विषय का एक प्रस्ताव पेश किया गया था कि एक अखिल भारतीय न्यायालय की स्थापना की जाय। सरकार के विरोध करने पर यह प्रस्ताव पास न हो सका। प्रिवी कौंसल के रहते इस तरह के न्यायालय बनाने में सरकार को कोई लाभ नहीं जान पड़ा। जब १६३५ के संघ-शासन विधान की कार्रवाइयाँ आरम्भ हुई तो फिर इस प्रकार की माँग की गई कि अखिल भारतीय न्यायालय स्थापित किया जाय। सफेद पत्र (White Paper) में संघ-न्यायालय और अखिल भारतीय न्यायालय दोनों की शिफारिश की गई थी। संयुक्त पार्लियामेंटरी कमेटी से संघ-न्यायालय को स्वीकार किया गया परन्तु अखिल भारतीय न्यायालय निरर्थक सिद्ध किया गया।

संघ-न्यायालय का संगठन

१६३५ के संघ-शासन-विधान के अनुसार १ नवम्बर सन् १६३७ ई० को संघ-न्यायालय की स्थापना की गई। शासन विधान में यह स्पष्ट किया गया था कि संघ-न्यायालय में अधिक से अधिक ७ जज रह सकते हैं। यदि इससे

१—"A Federal Court is an essential element in a Federal Constitution. It is at once the interpreter and guardian of the Constitution and a tribunal for the determination of disputes between the constituent units of the Federation.

अधिक जजों की आवश्यकता होगी तो संघ-विधान-मंडल गवर्नर-जनरल के सामने इस आशय का प्रस्ताव रक्खेगा और अन्त में बृटिश सम्राट से इसकी अन्तिम अनुमति ली जायगी। जजों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा की गई थी। चूँकि संघ-शासन-विधान पूरी तरह कार्यान्वित नहीं किया गया था इसलिये संघ-न्यायालय में केवल ३ जज रक्खे गये थे। जजों को नियुक्त करने और उन्हें हटाने का अधिकार केवल सम्राट् को था। अर्थात् कार्य रूप में भारत-मन्त्री इसका सर्वेसर्वा रक्खा गया था। देश का सबसे बड़ा न्यायालय एक विदेशी सरकार के हाथ में रहे, यह न्याय की दृष्टि से संगत नहीं था। लोगों का यह विचार था कि इस न्यायालय को संघ-विधान-मंडल और गवर्नर-जनरल के अधिकार में रक्खा जाय, जजों को भर्ती करने और हटाने का अधिकार इन्हीं को दिया जाय, परन्तु पार्लियामेंट के सामने उनकी एक न चली।

संघ न्यायालय के अधिकार और कर्तव्य इसके कर्तव्य दो प्रकार के थे :—

१—संघ-शासन की वैधानिक कठिनाइयों को सुलझाना।

२—प्रान्तीय हाईकोर्ट से दीवानी मुकदमों की अपील सुनना।

संघ-न्यायालय में नये और अपील दोनों प्रकार के मुकदमें आते थे। जब किसी प्रान्त और केन्द्रीय सरकार में कोई मतभेद होता तो इसका निपटारा संघ-न्यायालय में किया जाता था। यदि दो प्रान्तीय सरकारें आपस में लड़ बैठतीं तो उनका निर्णय संघ-न्यायालय करता था। जो रियासतें संघ-शासन में सम्मिलित होतीं उनके बीच में यदि किसी प्रकार का वैधानिक संकट उत्पन्न होता तो न्यायालय इसका निर्णय करता। तात्पर्य यह है कि ये मुकदमें व्यक्तियों से सम्बन्ध रखने वाले न होकर सरकार से सम्बन्ध रखते। अर्थात् संघ-शासन के अन्दर केन्द्रीय अथवा स्थानीय जितनी भी सरकारें होतीं उनके आपसी झगड़े संघ-न्यायालय में फैसल होते। इसलिये यह व्यक्तियों का न्यायालय न होकर सरकारों का न्यायालय था। संघ-न्यायालय जहाँ कहीं भी स्थापित किये गये हैं उनका मुख्य काम वैधानिक उलझनों को सुलझाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस न्यायालय का पद शासन विधान से ऊपर माना जाता है। शासन की प्रधानता होते हुये भी इसे स्पष्ट करने का

अधिकार इसी न्यायालय को दिया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रधान न्यायालय (Supreme Court) को जो स्थान प्राप्त है, वह भारतीय संघ-न्यायालय को नहीं दिया गया था। अमेरिका की सभी रियासतों पर प्रधान न्यायालय का एक सा अधिकार है, परन्तु भारतीय संघ-न्यायालय रियासतों और प्रान्तों पर समान अधिकार नहीं रख सकता था। प्रान्तों पर तो उसके अधिकार एक से थे, परन्तु रियासतों पर वे कुछ शर्तों के साथ लागू होते थे।

उपरोक्त वैधानिक मुकदमों के अतिरिक्त संघ-न्यायालय में कुछ मुकदमों की अपील भी की जाती थी। जो मुकदमें प्रान्तों अथवा रियासतों की हाईकोर्ट में फैसल होते उनकी अपील संघ-न्यायालय में होती थी, परन्तु इसकी आज्ञा हाईकोर्ट देती थी। सभी मुकदमों की अपील की आज्ञा नहीं दी जा सकती थी। जिन मुकदमों में कोई कानूनी दाँव पेच होता अथवा किसी ऐक्ट के स्पष्टीकरण की आवश्यकता होती, उन्हीं की अपील संघ-न्यायालय में होती थी। जहाँ ऐसे प्रश्न उपस्थित होते वहाँ हाईकोर्ट दोनों पार्टियों को एक प्रमाण-पत्र देती थी कि इनमें कोई भी पार्टी संघ-न्यायालय में इसकी अपील कर सकती है। इस तरह के मुकदमों की अपील संघ-न्यायालय को छोड़कर और कहीं नहीं की जा सकती थी। प्रिवी कौंसिल में ऐसे मुकदमें हाईकोर्ट से सीधे नहीं जा सकते थे। उन्हें संघ-न्यायालय से होकर गुजरना होता था। यदि संघ-न्यायालय इस प्रकार के किसी मुकदमें की अपील हाईकोर्ट से प्रिवी कौंसिल में करने की विशेष आज्ञा देता तब भी प्रिवी कौंसिल इनकी अपील नहीं सुन सकती थी।

कानूनी मामलों के अतिरिक्त कुछ मुकदमों की अपील हाईकोर्ट से संघ-न्यायालय में होती रही है। परन्तु इसकी आज्ञा केवल संघ-विधान-मंडल गवर्नर-जनरल की अनुमति से दे सकता था। यदि संघ-विधान-मंडल इस प्रकार की अपीलों का विधान बनाना चाहता तो वह गवर्नर-जनरल की सलाह से संघ-न्यायालय के अधिकार को बढ़ा सकता था। ऐसी दशा में दीवानी के कुछ मुकदमें हाईकोर्ट से प्रिवी कौंसिल में न जाकर संघ-न्यायालय में अपील किये जाते थे। इनके लिये हाईकोर्ट के प्रमाणपत्र की आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु इसमें एक बहुत बड़ी शर्त यह थी कि आरम्भ में मुकदमा कम से कम ५०००० रुपये का और अपील के समय कम से कम ३५००० रुपये का होता था। इससे कम मूल्य के माल के मुकदमें संघ-न्यायालय में तभी अपील किये जा सकते थे जब संघ-न्यायालय इसकी विशेष आज्ञा देता था। इस प्रकार की अपीलों को

कार्यान्वित करने के पहिले संघ-विधान-मंडल को एक कानून द्वारा इस बात का एलान करना पड़ता था कि अमुक-अमुक प्रकार के मुकदमें हाईकोर्ट से सीधे प्रिवी कौंसिल में अपील न किये जायँ। ऐसा करने से प्रिवी कौंसिल के अधिकार कुछ कम अवश्य हो जाते थे, परन्तु भारत से उसका नाता तोड़ा नहीं जाता था।

संघ-न्यायालय की त्रुटियाँ

भारतीय संघ-न्यायालय के कर्तव्यों को देखते हुए भली भाँति स्पष्ट है कि इसके कार्य केवल वैधानिक नहीं थे। यह वैधानिक न्यायालय कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता था। दीवानी के मुकदमों की अपील भी इसमें नहीं होती थी। संसार के अन्य संघ-शासन-विधानों के अन्दर संघ-न्यायालय प्रधान माने गये हैं। उनके निर्णय की अपील किसी दूसरी कचहरी में नहीं की जा सकती। परन्तु भारतीय संघ-न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये मुकदमों की अपील प्रिवी कौंसिल में होती थी। ऐसी दशा में संघ-न्यायालय को संघ-शासन-विधान का संरक्षक कहना निरा भ्रम था। इसीलिये कहा गया है कि, 'संघ-न्यायालय अपील की अन्तिम कचहरी नहीं थी। न तो इसका दीवानी के मुकदमों पर ही अन्तिम अधिकार था और न शासन-विधान की संरक्षता ही इसे प्राप्त थी।"[१] बम्बई के गवर्नर ने इसे "महँगी विलासिता' कहा था। इन सभी त्रुटियों के रहते हुए भी लोगों को संघ-न्यायालय से बड़ी-बड़ी आशायें थीं। उनका विचार था कि देशी रियासतों और बृटिश प्रान्तों में नैयायिक एकता स्थापित करने में यह सहायक सिद्ध होगा।

उच्चतम न्यायालय (Supreme Court)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् जब बृटेन से सभी प्रकार के सम्बन्ध विच्छेद किये गये तो न्याय विभाग में भी सम्बन्ध विच्छेद हुआ। प्रिवी कौंसिल का भारत से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। भारत में ही एक ऐसे प्रधान न्यायालय की आवश्यकता पड़ी जो न्याय के विषय में अन्तिम निर्णय देता और जिसके द्वारा वैधानिक कठिनाइयाँ भी सुलझाई जातीं। संघ-न्यायालय भंग कर दिया गया। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उच्चतम न्यायालय की स्थापना की गई। यही न्यायालय भारत का

१—It was not the final appellate authority—the last authoritative judicial interpreter of the constitution, nor the ultimate declarer of the civil law of the land.

सर्व प्रधान न्यायालय है। संविधान में इस बात का उल्लेख किया गया है कि भारत का एक उच्चतम न्यायालय होगा। इसमें मुख्य न्यायाधिपति के अतिरिक्त अधिक से अधिक ७ अन्य न्यायाधीश होंगे। न्यायाधीशों की संख्या निर्धारण का अधिकार संसद् को प्रदान किया गया है। राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा। प्रत्येक न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु तक कार्य करने का अधिकारी माना गया है। मुख्य न्यायाधिपति से भिन्न अन्य न्यायाधीश की नियुक्ति के विषय में राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से सर्वदा परामर्श करेगा। कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकेगा। कोई न्यायाधीश अपने पद से हटाया भी जा सकेगा। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिये निम्नलिखित योग्यतायें आवश्यक ठहराई गई हैं :—

१—उसे भारत का नागरिक होना चाहिये।

२—किसी उच्च न्यायालय (High Court) का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम ५ वर्ष तक उसे न्यायाधीश रहना चाहिये। अथवा

३—किसी उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का लगातार कम से कम १० वर्ष तक उसे अधिवक्ता (Advocate) रहना चाहिये। अथवा

४—राष्ट्रपति की राय में उसे पारंगत विधि-वेत्ता होना चाहिये।

उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक हटाया न जायगा जब तक कदाचार अथवा असमर्थता के लिये हटाये जाने के हेतु संसद् के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास न कर दिया जाय। इस न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिये नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति अपने पद ग्रहण करने से पूर्व राष्ट्रपति के समक्ष शपथ ग्रहण करेगा, जिसमें वह श्रद्धा पूर्वक अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करने की प्रतिज्ञा करेगा। कोई व्यक्ति, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में पद धारण कर चुका है, भारत राज्य क्षेत्र के भीतर किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत या कार्य न करेगा। मुख्य न्यायाधिपति को ५,००० रुपया प्रतिमास तथा अन्य न्यायाधीश को ४००० रुपया प्रतिमास वेतन दिया जायगा।

प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराया दिये पदावास (Official Residence) के उपयोग का हक होगा। उसे राज्य क्षेत्र के भीतर अपने कर्तव्य पालन में की गई यात्रा में किये गये व्ययों की पूर्ति के लिये ऐसे भत्ते दिये जायँगे तथा ऐसी सुविधायें दी जायँगी जैसी कि राष्ट्रपति समय समय पर विहित करे। उनकी अनुपस्थिति, छुट्टी तथा निवृत्ति वेतन के विषय में वही नियम लागू होंगे जो इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले संघ-न्यायालय के न्यायाधीशों को लागू थे। संसद् के निर्माण के पश्चात् न्यायाधीश के अधिकार, भत्ते, वेतन आदि संसद् द्वारा निर्धारित किये जायँगे। न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात् उसके अधिकार तथा वेतन आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।

जब भारत के मुख्य न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा जब मुख्य न्यायाधिपति, अनुपस्थित या अन्य कारण से, अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हो, तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उसके कर्तव्यों का पालन करेगा। उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होगा तथा उसे अपने अवमान (Contempt) के लिये दंड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायालय की सब शक्तियाँ होंगी। यह न्यायालय दिल्ली में स्थापित किया गया है, परन्तु भारत का मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति के अनुमोदन से इसका स्थान परिवर्तन कर सकता है।

उच्चतम न्यायालय को अपील तथा नये दोनों प्रकार के मुकदमें सुनने का अधिकार होगा। भारत सरकार तथा किसी राज्य के बीच अथवा दो या अधिक राज्यों के बीच किसी प्रकार का विवाद उत्पन्न होने पर इसका निर्णय सबको मान्य होगा। उच्च न्यायालयों में निर्णय किये गये मुकदमों की अपील इसमें तभी की जायगी जब उन मुकदमों में कोई विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त होगा। ऐसी अपील के लिये उच्च न्यायालय के प्रमाण की भी आवश्यकता होगी। उच्चतम न्यायालय अपने विशेषाधिकार से बिना इस प्रकार के प्रमाण पत्र के भी मुकेदमों के अपील की आज्ञा दे सकता है। उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये २०००० रुपये से अधिक के मुकदमें उच्चतम न्यायालय में अपील के लिये भेजे जा सकते हैं। उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के अन्तिम आदेश अथवा निर्णय की अपील उच्चतम न्यायालय में तब तक न होगी जब तक संसद् विधि द्वारा कोई ऐसा उपबन्ध न करे। यदि उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्यु दंडादेश दिया है

तो उसकी अपील उच्चतम न्यायालय में होगी। उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य क्षेत्र में के किसी न्यायालय द्वारा किसी वाद या विषय में किये हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दंडादेश या आदेश की अपील के लिये विशेष आज्ञा दे सकेगा। उच्चतम न्यायालय को अपने द्वारा सुनाये गये निर्णय या दिये गये आदेश पर पुनर्विलोकन करने का अधिकार होगा। इसके द्वारा घोषित विधि भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों को बन्धनकारी होगी।

यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है जो सार्वजनिक महत्व का है, तो उसे वह उच्चतम न्यायालय को सौंप सकेगा। भारत राज्य-क्षेत्र के सभी असैनिक और न्यायिक प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता में कार्य करेंगे। जब कोई विधि प्रश्न इसके सामने उपस्थित किया जायगा तो इसके निर्णय के लिये बैठने वाले न्यायाधीशों की न्यूनतम संख्या ५ होगी। उच्चतम न्यायालय के सभी निर्णय खुले न्यायालय में ही सुनाये जायँगे। प्रत्येक कार्यवाही न्यायाधीशों के बहुमत से निश्चित की जायगी। इस न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियाँ भारत का मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसके द्वारा निर्देशित उस न्यायालय का अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी करेगा। परन्तु राष्ट्रपति नियम द्वारा यह अपेक्षा कर सकेगा कि न्यायालय से सम्बन्धित किसी पद पर संघ लोक-सेवा आयोग से परामर्श किये बिना कोई व्यक्ति नियुक्त न किया जाय। इन पदाधिकारियों और सेवकों की सेवा की शर्तें मुख्य न्यायाधिपति निश्चित करेगा; परन्तु इनके वेतन, भत्ते छुट्टी या निवृत्ति वेतन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अनुमोदन की अपेक्षा होगी।

राज्यों के उच्च न्यायालय

संविधान के पाँचवें अध्याय में इस बात का उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक राज्य के लिये एक उच्च न्यायालय होगा। इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले किसी प्रान्त के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय को इस संविधान के प्रयोजन के लिए तत्स्थानीय राज्य के लिये होने वाला उच्च न्यायालय समझा जायगा। आसाम, उड़ीसा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास, मध्य प्रदेश, बम्बई, उत्तर प्रदेश, जम्मू और काश्मीर, तिर्वांकुर कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ, मध्यभारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्यप्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद राज्यों में से प्रत्येक में एक उच्च न्यायालय का विधान बनाया गया है। इन राज्यों में जहाँ जहाँ उच्च न्यायालय पहले से ही कार्य

कर रहे हैं उन्हें उस क्षेत्र का उच्च न्यायालय मान लिया गया है। अजमेर, कच्छ, कोच बिहार, कोड़गु (कुर्ग) त्रिपुरा, दिल्ली, विलासपुर, भोपाल, मनीपुर तथा हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक राज्य में उच्चन्यायालय स्थापित करने का अधिकार संसद् को प्रदान किया गया है। अवध के लिये लखनऊ में जो एक चीफ कोर्ट की स्थापना की गई थी उसे इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में सम्मिलित कर दिया गया है।

प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय (Court of Record) होगा तथा उसे अपने अवमान के लिये दंड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायालय की सब शक्तियाँ होंगी। प्रत्येक उच्च न्यायालय मुख्य न्यायाधिपति तथा ऐसे न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा जिन्हें राष्ट्रपति समय समय पर नियुक्त करना आवश्यक समझे। प्रत्येक उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की अधिकतम संख्या निर्धारित करने की शक्ति राष्ट्रपति को प्रदान की गई है। भारत के मुख्य न्यायाधिपति से, उस राज्य के राज्यपाल से तथा, मुख्य न्यायाधिपति को छोड़ अन्य न्यायाधीश की नियुक्ति की दशा में, उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को नियुक्त करेगा। न्यायाधीश तब तक पद धारण करेगा जब तक कि वह ६० वर्ष की आयु न प्राप्त करे। कोई न्यायाधीश राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपने पद को त्याग सकेगा। उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश अपने पद से तब तक हटाया न जायगा जब तक उसके कदाचार या असमर्थता के लिये संसद् का प्रत्येक सदन समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो तिहाई के बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास न कर दे। इस प्रकार का प्रस्ताव पास हो जाने के पश्चात् कोई न्यायाधीश अपने पद से राष्ट्रपति द्वारा हटाया जा सकेगा। किसी न्यायाधीश का पद, राष्ट्रपति द्वारा उसे उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किये जाने पर, अथवा राष्ट्रपति द्वारा उसे भारत राज्य क्षेत्र में के अन्य उच्च न्यायालय को स्थानान्तरित किये जाने पर, रिक्त कर दिया जायगा।

किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिये कोई व्यक्ति तब तक अर्ह (Qualified) न होगा जब तक वह भारत का नागरिक न हो; तथा भारत राज्य-क्षेत्र में कम से कम १० वर्ष तक न्यायिक पद धारण न कर चुका हो; अथवा प्रथम अनुसूची में उल्लिखित किसी राज्यों में के उच्च न्यायालय का अथवा ऐसे दो या अधिक न्यायालयों का

लगातार कम से कम १० वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो। किसी राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिये नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति, अपने पद ग्रहण करने के पूर्व उस राज्य के राज्यपाल के समक्ष शपथ ग्रहण करेगा। इसमें वह इस बात की प्रतिज्ञा करेगा कि वह श्रद्धापूर्वक अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्तव्यों को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करेगा। कोई व्यक्ति जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद इस संविधान के प्रारम्भ के बाद धारण कर चुका है, भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत या कार्य न करेगा। प्रत्येक उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को ४००० रुपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीश को ३५०० रुपये मासिक वेतन दिये जायँगे। इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले यदि उच्च-न्यायालय के न्यायाधीश को इससे अधिक वेतन मिलता था तो वह उसके कार्यकाल में घटाया न जायगा। उच्च न्यायालय का प्रत्येक न्यायाधीश भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर अपने कर्तव्य पालन में की गई यात्रा में किये गये व्ययों की पूर्ति के लिये ऐसे भत्ते पायेगा तथा यात्रा सम्बन्धी उसे ऐसी सुविधाये दी जायँगी जैसी कि राष्ट्रपति समय समय पर विहित करे। न्यायाधीशों के भत्ते, उनकी अनुपस्थिति, छुट्टी तथा निवृत्ति वेतन के बारे में निर्णय करने का अधिकार संसद् को प्रदान किया गया है। किसी न्यायाधीश के वेतन, भत्ते तथा निवृत्ति वेतन में उसकी नियुक्ति के पश्चात् कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा।

राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत राज्य-क्षेत्र में के एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर सकेगा। जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति का पद रिक्त हो अथवा जब मुख्य न्यायाधिपति, अनुपस्थिति या अन्य कारण से अपने पद के कर्तव्यों के पालन करने में असमर्थ हो तब न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों में से ऐसा एक, जिसे राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिये नियुक्त करे, उस पद के कर्तव्यों का पालन करेगा। जो उच्च न्यायालय इस संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले राज्यों में स्थापित किये गये थे उनके अधिकार तथा उनकी प्रशासित विधि पूर्ववत् बनी रहेगी। प्रत्येक उच्च न्यायालय उन राज्य-क्षेत्रों में सर्वत्र, जिनके सम्बन्ध में वह क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है, सब न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण (Superintendence) करेगा। ऐसे न्यायालयों से वह विवरणी मँगा सकेगा। उनकी कार्य प्रणाली और कार्यवाहियों के विनियमन

के हेतु वह साधारण नियम भी बना सकेगा। उच्च न्यायालय उन फीसों की दर भी स्थिर कर सकेगा जो ऐसे न्यायालयों के समस्त लिपिकों, पदाधिकारियों तथा इनमें वृत्ति करने वाले न्यायवादियों, अधिवक्ताओं और वकीलों को मिल सकेंगी। इन्हें स्थिर करने में राज्यपाल के पूर्व अनुमोदन की अपेक्षा होगी।

यदि उच्च न्यायालय को समाधान हो जाय कि उसके अधीन न्यायालय में लम्बित किसी मामले में इस संविधान से सम्बन्धित कोई विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, जिसका निर्धारित होना मामले को निपटाने के लिये आवश्यक है, तो वह उस मामले को अपने पास बुला लेगा। ऐसे मामले को या तो वह स्वयं निपटा सकेगा या अपने निर्णय की प्रतिलिपि सहित उसी न्यायालय को लौटा देगा। उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों की नियुक्तियाँ न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसके द्वारा निर्दिष्ट उस न्यायालय का अन्य न्यायाधीश या पदाधिकारी करेगा। परन्तु उस राज्य का राज्यपाल नियम द्वारा यह अपेक्षा कर सकेगा कि न्यायालय से सम्बंधित किसी पद पर राज्य-लोक सेवा-आयोग से परामर्श किये बिना कोई व्यक्ति नियुक्त न किया जायगा। राज्य के विधान-मडल द्वारा निर्मित विधि के उपबन्धो के अधीन रहते हुए उच्च न्यायालय के पदाधिकारियों और सेवकों की सेवा की शर्तें ऐसी होगी जैसी कि उस न्यायालय का मुख्य न्यायाधिपति नियमों द्वारा विहित करे। परन्तु वेतन, भत्ते, छुट्टी या निवृत्ति वेतन से सम्बन्धित विषय में उस राज्य के राज्यपाल के, जिसमें उच्च न्यायालय का मुख्य स्थान है, अनुमोदन की अपेक्षा होगी। संसद् विधि द्वारा किसी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का विस्तार अथवा अपवर्जन कर सकेगी।

जिले के न्यायालय

उच्च न्यायालय से नीचे प्रत्येक जिले में दीवानी और फौजदारी की कचहरियाँ अलग अलग बनाई गई हैं। जिले में फौजदारी की सबसे बड़ी कचहरी सेशन कोर्ट कहलाती है। इसका न्यायाधीश सेशनजज कहलाता है। यह न्यायालय किसी अपराधी को मृत्युदंड दे सकता है, परन्तु इसका अन्तिम निर्णय उच्च न्यायालय में किया जाता है। मजिस्ट्रेट की कचहरी से निर्णय किये गये मुकदमों की अपील सेशनकोर्ट में की जाती है। सेशन कोर्ट से नीचे फौजदारी की दूसरी कचहरी मजिस्ट्रेट कोर्ट है। मजिस्ट्रेट ३ प्रकार के होते हैं। पहले दर्जे के मजिस्ट्रेट को दो वर्ष का कारावास और १००० रुपया अर्थ-दंड, दूसरे दर्जे के मजिस्ट्रेट को ६ महीने का कारावास और २०० रुपया अर्थ-दंड, तथा तीसरे दर्जे के

मजिस्ट्रेट को एक महीने का कारावास और ५० रुपये अर्थ-दंड देने का अधिकार है। जिले का कलेक्टर पहले दर्जे का मजिस्ट्रेट होता है। प्रत्येक जिले की हर तहसील में एक डिप्टी कलेक्टर होता है। अपने क्षेत्र में इसे भी फौजदारी के मुकदमें सुनने का अधिकार है। बड़े नगरों में फौजदारी के मुकदमें सुनने के लिये सिटी मजिस्ट्रेट नियुक्त किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक जिले में कुछ अवैतनिक मजिस्ट्रेट भी रखे जाते हैं। जिले में दीवानी की सबसे बड़ी कचहरी डिस्ट्रिक्ट जज कोर्ट कहलाती है। दीवानी की छोटी कचहरियों द्वारा निर्णय किये गये मुकदमें इसमें अपील किये जाते हैं। ५००० रुपये से अधिक से सम्बन्ध रखने वाले किसी मुकदमें की अपील इसमें नहीं की जा सकती। इसके नीचे दूसरी कचहरी मुंसिफ कोर्ट होती है, जिसमें २००० रुपये तक के दीवानी के मुकदमें सुने जाते हैं। ५०० रुपये तक के मुकदमें खफीफा कचहरी (Small Cause Court) में सुने जाते हैं। इसके निर्णय की अपील कहीं नहीं की जा सकती। यह कचहरी केवल बड़े जिलों में होती है।

किसी राज्य में जिला न्यायाधीश नियुक्त होने वाले व्यक्तियों की नियुक्ति तथा उनकी पद-स्थापना और पदोन्नति ऐसे राज्य के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय से परामर्श करके राज्य का राज्यपाल करेगा। कोई व्यक्ति जो राज्य की सेवा में पहले से ही नहीं लगा हुआ है, जिला न्यायाधीश होने के लिये तभी पात्र होगा जब कि वह कम से कम ७ वर्षों तक अधिवक्ता या वकील रह चुका है तथा उसकी नियुक्ति के लिये उच्च न्यायालय ने सिपारिश की है। जिला न्यायाधीशों से अन्य व्यक्तियों को राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्ति राज्यपाल द्वारा, राज्य-लोक सेवा-आयोग तथा उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात् की जायगी। जिला न्यायाधीश के पद से निचले किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियों की पदस्थापना, पदोन्नति और उनको छुट्टी देने के सहित जिला न्यायालयों तथा उनके अधीन न्यायालयों का नियन्त्रण उच्च न्यायालयों में निहित होगा।

पंचायत अदालत

१९४७ ई० के बाद ग्राम पंचायतों के अन्तर्गत पंचायती अदालतें स्थापित की गई हैं। पंचायत अदालत में १० या १२ सदस्य होते हैं, जिनका निर्वाचन ग्राम पंचायत के सदस्य करते हैं। इस अदालत को गाँव के छोटे मोटे दीवानी और फौजदारी के मुकदमें सुनने का अधिकार दिया गया है। उसके निर्णय की अपील मुंसिफ के यहाँ ६० दिन के अन्दर की जा सकती

है। पंचायत अदालत को कारावास का दंड देने का अधिकार नहीं है। वह १०० रुपये तक जुर्माना कर सकती है। १०० रुपये मूल्य तक के माल के मुकदमें इसमें तय किये जा सकते हैं। पंचायत अदालत के सामने किसी वकील या मुख्तार को बहस क ने की आज्ञा नहीं दी गई है। यह अदालत २५ रुपये तक का जमानती वारन्ट जारी कर सकती है।

अध्याय १८

सरकारी नौकरियाँ

सरकारी कर्मचारियों का प्रभाव

किसी देश का शासन-प्रबन्ध वहाँ के सरकारी कर्मचारियों की योग्यता पर निर्भर करता है। जनता के साथ जैसा अच्छा या बुरा व्यवहार होगा, शासन-प्रबन्ध की महत्ता उसी मात्रा में अच्छी या बुरी समझी जायगी। यदि सरकारी कर्मचारी योग्य और सुशिक्षित हैं तो यह स्वाभाविक है कि वे शासन की मशीन को और अच्छी तरह चला सकेंगे। जब हम यह सुनते हैं कि अमुक देश में घूसखोरी अधिक चलती है और अत्याचार बहुत होते हैं तो हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वहाँ के सरकारी कर्मचारी अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन नहीं करते। प्रत्येक देश की सरकार इस बात के लिये कलंकित है कि वह अपने कर्मचारियों को अधिक-से-अधिक वेतन और सुविधायें देती है। जिस काम के लिये व्यक्तिगत नौकिरयों में पचास रुपये वेतन है उसी के लिये सरकार सौ रुपये व्यय करती है। इसके अतिरिक्त वह पेन्शन तथा कुछ और तरह की सुविधायें भी देती है। सरकार के ऐसा करने में एक बहुत बड़ा कारण है। प्रजा के धन का वह दुरुपयोग नहीं करना चाहती। लम्बे-लम्बे वेतन वह इसीलिये देती है कि कर्मचारी अनुचित ढंग से प्रजा से धन लेने की इच्छा न रक्खें। जिस कर्मचारी को आवश्यकता से कम पैसे मिलेंगे वह लगन से काम नहीं कर सकता। पैसे के लोभ से तथा सुविधाओं के कारण सरकारी कर्मचारी अधिक तत्परता और भय से कार्य करते हैं। कर्मचारियों से अलग सरकार कोई दूसरी वस्तु नहीं है। उनकी योग्यता, कार्य-कुशलता, सचाई तथा तत्परता का प्रभाव जनता के ऊपर गहरा पड़ता है।

कर्मचारियों को नियुक्त करते समय सरकार को कई बातों का ध्यान रखना पड़ता है। उनकी योग्यता के अतिरिक्त उसे सभी वर्गों की ओर एक दृष्टि रखनी पड़ती है। यदि किसी देश में एक ही वर्ग के लोग सरकारी नौकरियों में लिये जायँ तो अन्य वर्ग इस पक्षपात को सहन नहीं कर

सकते। कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये ऐसे ढंग बनाने पड़ते हैं जिसमें सभी लोगों को सम्मिलित होने का अवसर मिल सके। इसीलिये प्रजातन्त्रवादी देशों में बड़ी बड़ी सरकारी नौकरियों के लिये परीक्षाओं का विधान बनाया गया है। रूप, रंग, जाति, अथवा धर्म के कारण किसी व्यक्ति को वंचित नहीं किया जाता। परीक्षाओं में जिन्हें सबसे अधिक नम्बर मिलते हैं वे सरकारी विभाग में लिये जाते हैं। इससे दो प्रकार के लाभ हैं। एक तो योग्य व्यक्ति सरकारी नौकरियों में चले आते हैं; दूसरे प्रजा को यह कहने का अवसर नहीं मिलता कि उनकी सरकार किसी वर्ग-विशेष के साथ पक्षपात करती है। जिस विभाग में देश के योग्य से योग्य व्यक्ति काम करेंगे उसका प्रभाव साधारण जनता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। कुछ तो अपने पद के कारण और कुछ अपने चरित्र अथवा व्यक्तित्व के कारण सरकारी कर्मचारी लोगों को प्रभावित करते हैं। व्यक्तिगत योग्यताएँ हर जगह काम करती हैं। जिनमें योग्यता का आभास अधिक है और जो अपने व्यवहार से दूसरों को आकर्षित कर सकते हैं वे सरकारी विभाग में रहते हुए सार्वजनिक कामों को और अधिक उन्नत कर सकते हैं। शासन की मशीन अच्छी होने पर भी अयोग्य कर्मचारी इसे दूषित कर सकते हैं। स्थानीय संस्थायें अपने उद्देश्य में जो थोड़ी बहुत असफल हुई हैं इसका मुख्य कारण उचित कर्मचारियों का अभाव है। सरकारी विभाग में कार्य करने वाले व्यक्ति अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन कर अपने देश की सभी प्रकार से उन्नति कर सकते हैं।

भारतीय सरकारी नौकरियों का इतिहास

जब ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना हमारे देश में हुई तो उसे अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ी। व्यापार से बढ़ते-बढ़ते जब कम्पनी राजनीति में भाग लेने लगी तो कर्मचारियों की आवश्यकता और भी बढ़ने लगी। व्यापार कार्य गौण होता गया। शासन-प्रबन्ध को चलाने के लिये नये नये पदों का निर्माण करना पड़ा। कम्पनी को अपना सब काम अंगरेजी भाषा में करना था। हमारे देश में अंगरेजी पढ़े-लिखे लोगों का सर्वथा अभाव था। यदि कम्पनी अपने कर्मचारियों को योरप से बुलाती तो उसे एक का तीन देना पड़ता। कम्पनी को अपना फौजी विभाग बहुत ही सुदृढ़ रखना था। जीते हुए देशों की रक्षा के लिये तथा नये-नये देशों को बृटिश राज्य में सम्मिलित करने के लिये उसे अपने सेना विभाग पर सबसे अधिक ध्यान देना पड़ता था। कुछ समय तक कम्पनी के कर्मचारी बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स

द्वारा नियुक्त किये जाते थे, परन्तु जब कार्य अधिक बढ़ा तो गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे आवश्यकतानुसार कर्मचारियों को स्वयं भर्ती कर लें। कम्पनी के कर्मचारियों के कारनामें भारतीय इतिहास में अच्छी तरह वर्णन किये गये हैं। बृटेन निवासी कुछ दिनों के लिये भारत में कम्पनी की नौकरी करने के लिये आते और कुछ ही दिनों में मालामाल होकर अपने देश को लौट जाते थे। कहा जाता है कि १७५८ से १८१५ ई० तक अर्थात् ५८ वर्ष के भीतर कम्पनी के कर्मचारी पचीस करोड़ रुपया वेतन के रूप में अपने देश को ले गये। ब्रुक्स ऐडम्स के कथनानुसार इन्हीं धन-राशियों ने इंगलिस्तान के नवीन आविष्कारों को फैलने का अवसर दिया।

जब लार्ड कार्नवालिस भारत का गवर्नर-जनरल हुआ तो उसका ध्यान बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियो की शुद्धि की ओर आकर्षित हुआ। उसका कहना था कि बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ भारतीयों को नहीं मिलनी चाहिये। कलकत्ता में सरकारी नौकरियों की ट्रेनिंग तथा पूर्वी भाषाओं की जानकारी के लिये एक कालेज की स्थापना की गई। १८०६ ई० में हेल्स बरी नाम का एक दूसरा कालेज इंगलैन्ड में खोला गया। यहाँ के उत्तीर्ण विद्यार्थी भारत में कम्पनी की नौकरी में भेजे जाने थे। कम्पनी की बड़ी-बड़ी नौकरियाँ भारतीयों को नहीं मिल सकती थीं। वे केवल चपरासी और क्लर्क बन सकते थे। १८३५ ई० के चार्टर ऐक्ट के अनुसार सरकारी पदाधिकारियों के निर्देशन का अधिकार डाइरेक्टरों से छीन लिया गया। बड़ी-बड़ी नौकरियों का द्वार अंगरेज और भारतीय दोनों के लिये एक समान खोल दिया गया। यह निश्चित किया गया कि इंगलैंड में बड़ी-बड़ी नौकरियों के प्रार्थियों की परीक्षायें ली जायँगी। भारतीय प्रार्थी भी इसमें भाग ले सकते थे।

इंडियन सिविल सर्विस का द्वार भारतीयों के लिये खोल तो दिया गया परन्तु इसमें तरह-तरह की कठिनाइयाँ थीं। बहुत थोड़े से धनी-मानी प्रार्थी भारत से ६००० मील की दूरी पर जाकर एक नये वातावरण में रह सकते थे। इसके अतिरिक्त परीक्षा के लिये कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये थे जिनकी पूर्ति दो प्रतिशत भी प्रार्थी नहीं कर सकते थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर के भाई सत्येन्द्रनाथ टैगोर पहले भारतीय थे जिन्होंने लन्दन में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा पास की थी। इनके बाद दो चार और भारतीयों ने परीक्षा में सफल होकर अपनी बुद्धि का परिचय दिया। बृटिश सरकार को यह बात खटकने लगी। अब तक उसे यह आशा न थी कि भारतीय भी इंडियन सिविल सर्विस में अगरेजों की बराबरी कर सकते हैं।

ज उसकी आशाओं के विरुद्ध कुछ लोगों को सफलता प्राप्त हुई और भविष्य के लिये भारतीयों को कुछ उत्साह मिला तो उनकी अवस्था की रोक २६ वर्ष से घटाकर १६ वर्ष कर दी गई। अर्थात् प्रत्येक भारतीय अभ्यर्थी को १६ वर्ष से अधिक आयु का नहीं होना चाहिए। इसने भारतीय अभ्यर्थियों का द्वार बिलकुल बन्द कर दिया। भारत-मन्त्री को अपने एक पत्र में लार्ड लिटन ने लिखा कि "जिन बातों को सुनकर भारतीयों को कुछ ढाढ़स हुआ था उन्हे अस्वीकार कर हम लोगों ने उनकी कमर तोड़ दी।"[1] अर्थात् सिविल सर्विस में उत्तीर्ण होने की उनकी आशायें मिट्टी में मिल गईं।

१८७० ई० में एक ऐक्ट द्वारा भारतीय अभ्यर्थियों को सिविल सर्विस की नौकरियाँ कुछ सरल कर दी गईं। परन्तु बहुत थोड़े स्थान इस ऐक्ट के अनुसार इन्हें दिये गए। १८७६ ई० में इंडियन सिविल सर्विस के नियमों पर पुनः विचार किया गया। धनीमानी तथा प्रभावशाली नवयुवकों को विशेष सुविधायें प्रदान की गईं। सरकार द्वारा इस बात के लिये कमीशन नियुक्त किया गया कि वह कोई ऐसा रास्ता निकाले जिससे भारतीयों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ मिल सकें। १८८७ ई० में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट भारत-सरकार को दी। इसमें कुछ आवश्यक सिपारिशें की गई थीं। इसके फलस्वरूप सरकारी नौकरियाँ तीन श्रेणियों में विभाजित कर दी गईं :—

१—इंडियन सिविल सर्विस (Indian Civil Service.)

२—प्रान्तीय सिविल सर्विस (Provincial Civil Service)

३—छोटी सिविल सर्विस (Subordinate Civil Service)

कार्यपालिका तथा न्याय विभाग की बड़ी-बड़ी नौकरियाँ प्रान्तीय सिविल सर्विस के सदस्यों को दी जाती थी। इनमें प्रवेश करने के नियम तथा उपनियम प्रान्तीय सरकार द्वार बनाये जाते थे और भारत-सरकार से इनकी स्वीकृति लेनी पड़ती थी। इन पदों के लिये नाम निर्देशन, परीक्षायें तथा छोटी नौकरियों से उन्नति—इन तीनों का विधान बनाया गया था। इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य तथा सभी विभागों के अखिल भारतीय पदाधिकारी लन्दन में ही चुने जाते थे। अन्य दोनों प्रकार की नौकरियाँ भारतनिवासियों को कुछ सरलता से मिल सकती थीं। १९२२ में इलिंगटन कमीशन इस बात के लिये नियुक्त किया गया कि वह बड़े-बड़े सरकारी पदों

१—We have broken to the heart the hopes held out to the ear.

पर भारतीयों को नियुक्त करने की समस्या पर विचार करे। १९१४ ई० की जर्मनी की लड़ाई के कारण १९१७ ई० तक कमीशन की रिपोर्ट पर कुछ भी विचार नहीं किया गया। इसी बीच में १९१७ ई० के अगस्त महीने में भारत-मन्त्री ने इस बात की घोषणा की कि बृटिश सरकार की नीति भारतीय शासन में भारतीयों का अधिक से-अधिक सहयोग प्राप्त करना है। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट में इस बात की सिपारिश की गई थी कि लन्दन के अतिरिक्त भारत में भी सिविल सर्विस के अभ्यर्थी भर्ती किये जायँ।

१९१९ ई० का शासन-सुधार और सरकारी नौकरियाँ

१९१९ ई० के शासन-सुधार से सरकारी मशीन का ढाँचा बहुत कुछ बदल दिया गया। भारतीय नौकरियों पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीयों की ओर से बहुत दिनों से इस बात की माँग की गई थी कि बड़ी-बड़ी नौकरियाँ उन्हें भी दी जायँ। अंगरेज कर्मचारी इस बात को सहन नहीं कर सकते थे कि वे भारतीय अफसरों की आज्ञा को स्वीकार करें। चेम्स-फोर्ड रिपोर्ट में राय दी गई थी कि इंडियन सिविल सर्विस में ३३ प्रतिशत पदाधिकारी भारतीय हों। इनकी संख्या प्रतिवर्ष डेढ़ प्रतिशत बढ़ाई जाय। कुछ जातीय भेद-भावों को भी दूर करने की सिपारिश की गई थी। इसी रिपोर्ट के आधार पर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा १९२१ ई० से भारत में ली जाने लगी। दिल्ली इसका केन्द्र माना गया। इसमें भारतीय अभ्यर्थियों को अपनी प्रतिभा दिखलाने का अवसर मिला।

यद्यपि सिविल सर्विस की परीक्षा भारत में आरम्भ की गई, परन्तु वेतन तथा नौकरी के नियम उपनियमों में अनेक सुधारों की आवश्यकता थी। योरप-निवासियों को जो सुविधायें इन नौकरियों में पहले से दी जाती थीं वे थोड़ी भी कम न की गईं। १९१९ के शासन-विधान में नौकरियों पर अलग विचार किया गया था। इसके अनुसार सिविल सर्विस के सदस्य तब तक अपने पद पर कार्य कर सकते थे जब तक सम्राट् की इच्छा हो। जिस व्यक्ति को उन्हें भर्ती करने का अधिकार दिया गया था वह उन्हें निकाल भी सकता था। यद्यपि ये कर्मचारी विभिन्न प्रान्तों में कार्य करते थे, फिर भी इनका उत्तरदायित्व भारत-मत्री के प्रति था। वह जिसे चाहता उन्नत अथवा अवनत करता। ऊपर कहा गया है कि सिविल सर्विस के अँगरेज कर्मचारियों को भारतीय अफसरों की बराबरी में विरोध था। साथ ही छोटे कर्मचारी भारतीयों की अधीनता में काम करना स्वीकार नहीं करते थे। १९१९ के शासन सुधार के अनुसार कुछ प्रान्तीय विभागों का प्रबन्ध भारतीय मंत्रियों

को सौंप दिया गया। इसलिये यह अनिवार्य था कि उन विभागों के बड़े-बड़े कर्मचारी मंत्रियों की देख-रेख में काम करें। सिविल सर्विस के अंगरेज सदस्यों ने भारत-मंत्री से इस बात की माँग की कि उनके लिये शीघ्र से शीघ्र अपने पद से छुट्टी मिल जाने की कोई योजना बनाई जानी चाहिये।

भारत-मंत्री ने कुछ ऐसे नियम बनाये जिनसे पहली जनवरी सन् १९२० ई० के पहले नियुक्त किये गये भारतीय सिविल सर्विस के अंगरेज पदाधिकारियों को अपने पद से छुट्टी प्राप्त करने की विशेष सुविधायें दे दी गईं। वे अपनी अवधि पूरी होने के पहले ही नौकरी से छुट्टी लेकर पूरी पेन्शन के हकदार बन सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि १९२४ ई० के लगभग करीब ३४५ भारतीय सिविल सर्विस के अंगरेज सदस्य अपने पद से अलग हो गये। यद्यपि इन पदाधिकारियों के चले जाने से भारत की कुछ हानि हुई, परन्तु इसके लिये कोई दूसरा रास्ता न था। जिस सिद्धान्त से ये पदाधिकारी अपने सूत्रों में काम करते थे वे नये शासन-विधान में पुराने प्रमाणित किये गये। प्रान्तीय विधान-मंडल इन कर्मचारियों की टीका-टिप्पणी करने लगे। राष्ट्रीय भावनाओं की वृद्धि के कारण भारतीय जनता पुरानी नौकरशाही की कड़ी आवाज नहीं सह सकती थी। १९२२ के राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण विदेशी कर्मचारियों की असुविधायें और भी बढ़ गईं। इधर लड़ाई के कारण इंगलैंड में वस्तुओं का भाव बढ़ जाने से अंगरेज अभ्यर्थी भारतीय सिविल सर्विस के लिये कम लालायित होने लगे। इस उदासीनता को देखकर बृटिश सरकार बहुत ही चिन्तित हुई। वह किसी भी प्रकार से भारतीय सिविल सर्विस में अंगरेजीपन को कम करने के पक्ष में न थी। दूसरी ओर अंगरेज अभ्यर्थी भारत में पैर रखना भय से खाली नहीं समझते थे।

लार्ड मैकडानल की अध्यक्षता में एक समिति इस बात की जाँच के लिये नियुक्त की गई कि वह भारतीय सिविल सर्विस में अंगरेजी अभ्यर्थियों की उदासीनता का कारण खोज निकाले। बृटिश सरकार इतने ही से सन्तुष्ट न हुई। १९२३ ई० में लार्ड ली की अध्यक्षता में एक दूसरा कमीशन नियुक्त किया गया। भारतीय लेजिस्लेटिव असेम्बली ने इस कमीशन का विरोध किया और इस पर एक पाई भी व्यय करना अस्वीकार कर दिया। उसकी समझ में कमीशन बिलकुल व्यर्थ था और इस पर व्यय करने की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु वाइसराय ने अपने अधिकार से कमीशन के व्यय का धन भारतीय कोष से स्वीकार किया। १९२४ ई० में ली कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दे दी। रिपोर्ट काफी विस्तार के साथ दी गई थी और इसकी

बहुत सी सिपारिशों को भारत-सरकार ने स्वीकार कर लिया। पहली बात जिसकी कमीशन ने सिपारिश की वह यह थी कि भारतीय सिविल सर्विस, भारतीय पुलीस सर्विस, भारतीय जगल सर्विस तथा सिंचाई विभाग की भारतीय इन्जीनियरिंग सर्विस भारत मन्त्री के हाथ में रक्खी जाय। भारतीय शिक्षा सर्विस, भारतीय कृषि सर्विस, भारतीय इन्जीनियरिंग सर्विस, भारतीय पशु चिकित्सा सर्विस तथा भारतीय औषधि सर्विस प्रान्तीय सरकार की अधीनता में दे दी जायँ। इन कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा हटाने का अधिकार केवल प्रान्तीय सरकार को हो।

ली कमीशन की दूसरी सिपारिश भारतीय सिविल सर्विस में भारतीयों को अधिक से अधिक संख्या में सम्मिलित करने की थी। कमीशन की राय थी कि प्रान्तीय सिविल सर्विस के सभी पद भारतवासियों को दिये जायँ। उनके ऊपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध की आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक अखिल भारतीय तथा केन्द्रीय सर्विस की बात थी उसमें कमीशन ने कुछ प्रतिशत भारतीयों के लिये निश्चित कर दिया। भारतीय सिविल सर्विस में २० प्रतिशत स्थान भारतीयों के लिये निश्चित किये गये। कमीशन ने भारतीयकरण पर बल देते हुये यह कहा कि १६३६ ई० तक भारतीय सिविल सर्विस और १९४९ तक भारतीय पुलीस सर्विस में भारतीय और अँगरेज दोनों की संख्या बराबर हो जानी चाहिये। कमीशन की राय में सिविल सर्विस में अंगरेज पदाधिकारियों का होना आवश्यक ठहराया गया। भारतीय जंगल सर्विस में ७५ प्रतिशत स्थान भारतीयों के लिये और २५ प्रतिशत अँगरेजों के लिये उचित ठहराये गये।

अँगरेज अभ्यर्थियों को भारतीय सिविल सर्विस में आकर्षित करने के लिये कुछ सुविधाओं की राय दी गई। उन्हें कुछ आर्थिक भत्ते आदि की सिफारिश की गई। कमीशन का कहना था कि उनका वेतन बढ़ा दिया जाय तथा उनका कार्यकाल कुछ और सुरक्षित कर दिया जाय; अपने कार्यकाल में इंगलैंड आने-जाने के लिये चार बार छुट्टियाँ दी जायँ। उनकी पेन्शन बढ़ाने की भी सिपारिश की गई। यदि सिविल सर्विस का कोई अंगरेज पदाधिकारी भारत में मर जाय तो उसके कुटुम्ब के लिये कुछ विशेष सुविधाओं की सिपारिश की गई थी। कमीशन की रिपोर्ट में अखिल भारतीय सिविल सर्विस की रक्षा के लिये एक पब्लिक सर्विस कमीशन की सिपारिश की गई।

१६१६ ई० के भारतीय ऐक्ट में इस बात का विधान बनाया गया कि पाँच सदस्यों का पब्लिक सर्विस कमीशन बनाया जाय। इसका सभा-

पति भारत मंत्री द्वारा नियुक्त किया जाय। यह कमीशन सरकारी पदाधिकारियों को नियुक्त करने के लिये बनाया गया था। इसका कार्य-विधान बनाने का अधिकार भारत-मंत्री और उसकी कौंसिल को दिया गया था। तदनुसार १६२५ ई० में पब्लिक सर्विस कमीशन की स्थापना की गई। प्रान्तीय विधान-मंडल के ऐक्ट के अनुसार १६२६ ई० में मद्रास प्रान्त में भी एक पब्लिक सर्विस कमीशन स्थापित किया गया।

१६३५ का शासन-विधान और सरकारी नौकरियाँ

कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलनों के कारण भारतीय जनता की दृष्टि बदलने लगी। सरकारी पदाधिकारी जनता के सेवक समझे जाने लगे। लोग इस बात की माँग करने लगे कि भारत-सरकार के अन्दर छोटी और बड़ी सभी प्रकार की नौकरियाँ लोगों को इस दृष्टि से दी जायँ कि वे भारतीय जनता की अधिक से अधिक भलाई कर सकें। लम्बे-लम्बे वेतन लेकर बाबू बनने का युग पुराना ठहराया गया। लोगों का कहना था कि जब ये कर्मचारी भारतीय कोष से अपना वेतन लेते हैं तो इनका उत्तरदायित्व भी भारतीयों के प्रति होना चाहिये। इस बात की कड़े शब्दों में आलोचना की जाने लगी कि हमारे देश के बड़े-बड़े कर्मचारी भारतीय वातावरण से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वे अपने आपको सेवक के बदले जनता का स्वामी समझते हैं। बड़े आश्चर्य की बात है कि जो प्रजा उनका भरण-पोषण करे और जिसकी गाढ़ी कमाई से वे लम्बी-लम्बी तनखाहें लें, उन्हीं के ऊपर वे धौंस जमायें। ये बातें लोगों के मन में बहुत जोरों के खटकने लगीं। प्रजातन्त्रवाद की स्थापना करने की घोषणा के कारण नौकरियों का विषय और भी जोर पकड़ने लगा। संघ-शासन-विधान के लिये जब साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई तो भारतीय नौकरियों का भी प्रश्न उसके सामने रक्खा गया था। कमीशन ने नौकरियों के भारतीयकरण के सम्बन्ध में उसी तरह की सिपारिश की जैसी ली कमीशन ने की थी। प्रत्येक प्रान्त में एक पब्लिक सर्विस कमीशन स्थापित करने की सिपारिश की गई थी।

संघ-शासन-विधान के अनुसार भारतीय नौकरियाँ दो भागों में विभाजित की गईं :—

१—रक्षा सम्बन्धी नौकरियाँ (Defence Services)

२—सिविल सर्विस।

सिविल सर्विस फिर तीन भागों में विभाजित की गई थी :—

अ—वे अखिल भारतीय नौकरियाँ जो भारत-मंत्री के हाथों में रक्खी गई थीं।

ब—संघ-शासन के अन्दर वे नौकरियाँ जो गवर्नर-जनरल के हाथों में रक्खी गई थीं।

स—प्रान्तीय नौकरियाँ जो गवर्नर के अधिकार में रक्खी गई थीं।

रक्षा सम्बन्धी नौकरियाँ

संघ-शासन-विधान में रक्षा का विषय सुरक्षित विभाग था। यह एकमात्र गवर्नर-जनरल के अधिकार में रक्खा गया था। भारतीय मन्त्रियों का इस पर कोई अधिकार नहीं था। इसीलिये इस विभाग में कार्य करने वाले पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिये कुछ विशेष नियम बनाये गये थे। इस विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी कमान्डर-इन-चीफ कहलाता था। इसका वेतन और भत्ता सब कुछ भारतमंत्री और उसकी कौंसिल के हाथ में रक्खे गये थे। इस विभाग के सभी बड़े कर्मचारी भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इससे सम्राट् के दैवी अधिकार पहले की तरह सुरक्षित रक्खे गये थे। सेना विभाग के सभी बड़े कर्मचारी भारतीय कोष से वेतन लेते हुये भी बृटिश सम्राट् के प्रति उत्तरदायी थे। यद्यपि सम्राट् को यह अधिकार रहा है कि वह संघ-मंत्रिमंडल को कुछ पदाधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार दे दे, किन्तु कार्य रूप में इसकी सम्भावना कम थी। हवाई, जहाजी और स्थल हर प्रकार की सेना के बड़े कर्मचारी भारत-मन्त्री के इंगित पर काम करते रहे हैं, अर्थात् गवर्नर-जनरल द्वारा वह इन कर्मचारियों पर अधिकार रखता था।

सेना-विभाग में कुछ भारत-निवासियों को भी बड़े-बड़े पद दिये जाते थे। इसके लिये गवर्नर-जनरल भारतीय मन्त्रियों की राय से कार्य करता था। इस विभाग के अन्दर कार्य करने वाले किसी कर्मचारी को यदि किसी तरह की शिकायत करनी होती तो वह सीधे भारत-मन्त्री से कर सकता था। भारत-सरकार की सेना बृटिश सम्राट् की सेना समझी जाती थी। सेना का पूरा व्यय भारतीय संघ-सरकार सहन करती थी, परन्तु संघ-विधान-मण्डल का इस व्यय में कोई हाथ न था। वह इस विभाग के किसी कर्मचारी के वेतन आदि पर विचार नहीं कर सकता था। गवर्नर-जनरल अपने विशेष अधिकारों से इस विभाग की कार्रवाइयों को देखता

था। तात्पर्य यह है कि जो विभाग भारत की रक्षा के लिये बनाया गया था, और जिस पर प्रजा का सबसे अधिक धन व्यय किया जाता था वही जनता के हाथ से बाहर रक्खा गया था। इस विभाग की थोड़ी-बहुत नौकरियाँ, जो इने-गिने भारतीयों को दी जाती थीं दाल में नमक के बराबर रही हैं। मालूम नहीं क्यों जहाँ अन्य विभागों में भारतीयकरण की नीति बर्ती गई थी वहाँ यह विभाग अपवाद में रक्खा गया था।

सिविल सर्विस

किसी देश के शासन-प्रबन्ध में सिविल सर्विस के कर्मचारियों का क्या महत्व है इसका वर्णन इस अध्याय के आरम्भ में ही किया गया है। उसे सामने रखते हुये यह भलीभाँति स्पष्ट है कि इस विभाग के कर्मचारियों को नियुक्त करने और उन्हें हटाने की व्यवस्था बहुत ही ठीक होनी चाहिये। इनका कार्य-क्रम और वेतन आदि निश्चित करने का अधिकार भारतीय प्रतिनिधियों को मिलना चाहिये। संघ-शासन-विधान में इनका कर्तव्य पहले से कहीं अधिक बढ़ा दिया गया था। सिविल सर्विस के कुछ सदस्य भारत-मन्त्री द्वारा नियुक्त किये जाते थे। इन्डियन सिविल सर्विस, इन्डियन औषधि सर्विस तथा इन्डियन पुलीस सर्विस—इस प्रकार के कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार भारतमन्त्री को था। वह बृटिश पब्लिक सर्विस कमीशन तथा फेडरल पब्लिक सर्विस कमीशन की सिपारिश से इन्हें नियुक्त करता था। ये दोनों कमीशन अभ्यर्थियों की परीक्षा लेकर तथा उचित व्यक्तियों को चुनकर भारतमन्त्री के पास भेज देते थे। १६३६ ई० से इन्डियन सिविल सर्विस में अंगरेजों की नियुक्ति नाम-निर्देशन द्वारा इस शर्त पर होती रही है कि वे किसी बृटिश यूनिवर्सिटी की आनर्स परीक्षा पास हों। सिविल सर्विस के जिन कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार भारत-मन्त्री को दिया गया था उनकी संख्या वह अपनी इच्छानुसार घटा-बढ़ा सकता था। इसका पूरा ब्यौरा वह कामन सभा के सामने प्रति वर्ष उपस्थित करता था। इस तरह के नवीन स्थानों की आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर-जनरल का यह कर्त्तव्य था कि वह भारत-मन्त्री को तुरंत सूचना दे दे।

भारत-मन्त्री के इस अधिकार की कड़े शब्दों में आलोचना की गई थी। भारत के किसी भी वर्ग को यह बात रुचिकर न थी कि किसी भारतीय सरकारी कर्मचारी को उसे नियुक्त करने का अधिकार दिया जाय। यह बात प्रजातन्त्रवाद के बिलकुल विरुद्ध ठहराई गई। इसके बदले यह सिद्धान्त बनाया जा सकता था कि अखिल भारतीय पदाधि-

कारियों को नियुक्त करने का अधिकार भारत-सरकार को दिया जाय; शेष सभी कर्मचारी प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जायँ। कोई विदेशी हमारी आवश्यकताओं को उतना नहीं समझ सकता जितना हम स्वयं समझ सकते हैं। संघ-शासन-विधान में अन्य त्रुटियों की सूची में इसे भी सम्मिलित किया गया था।

सिविल सर्विस[1] के अन्य कर्मचारियों को नियुक्त करने का अधिकार संघ तथा प्रान्तीय सरकारों को दिया गया था। अखिल भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति, उनका वेतन तथा कार्य-काल आदि निश्चित करने का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया था। इसी प्रकार प्रान्तीय सिविल सर्विस के कर्मचारी गवर्नरों के संरक्षण में रक्खे गये थे। इन पदाधिकारियों को जो व्यक्ति नियुक्त करते उन्हें छोड़कर किसी और को इन्हें हटाने का अधिकार नहीं था। धारा सभायें इनके वेतन आदि में हाथ नहीं डाल सकतीं। एक निश्चित सीमा के अन्दर इन्हें अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की टीका-टिप्पणी करने का अधिकार जरूर दिया गया था, परन्तु यदि इन कर्मचारियों के कामों में किसी तरह की अड़चन डाली जाती तो इन्हें अधिकार था कि वे गवर्नर तथा गवर्नर-जनरल से सीधे फरियाद कर सकें। यदि इन पर किसी तरह का मुकदमा चलाया जाता या इनके विरुद्ध कोई कार्रवाई की जाती तो वे गवर्नर और गवर्नर-जनरल से अपनी रक्षा करा सकते थे।

१६२४ ई० में जब ली कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी तो उसमें यह बात भली भाँति स्पष्ट की गई थी कि भारतीय सिविल सर्विस में भारतीयकरण इस प्रकार किया जाय कि १६३६ ई० तक इसमें आधे भारतीय और आधे अँगरेज हो जायँ। भारतीय अभ्यर्थी भारत और इंगलैंड दोनों स्थानों से सिविल सर्विस में आते रहें। परिणाम यह हुआ कि इन्डियन सिविल सर्विस में अँगरेज कर्मचारियों की संख्या घटने लगी। इसी कमी को पूरा करने के लिये यह विधान बनाया गया कि भारत-मन्त्री कुछ व्यक्तियों को बिना परीक्षा के ही इन्डियन सिविल सर्विस में नाम निर्देशित कर सकता है। इतने से भी भारतीय अभ्यर्थियों की सख्या कम न हुई और वे लन्दन में जाकर बराबरी के इम्तहान में सिविल सर्विस के पद को प्राप्त करते रहे। इसे रोकने के लिये जो नियम बनाये गये उनसे भारतीय अभ्यर्थियों की

१—अब इन्डियन सिविल सर्विस का नाम इन्डियन ऐडमिनिसट्रेटिव सर्विस (I. A. S.) रक्खा गया है।

संख्या कम होती गई। जो विद्यार्थी बृटिश युनीवर्सिटी की आनर्स परीक्षा पास हों वे ही लन्दन में इन्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठ सकते थे। यह नियम भारतीय दृष्टि से बहुत ही असंगत था। किसी देश के शिक्षित नवयुवकों को सरकारी विभाग द्वारा अपने देश की सेवा करने का अवसर न देना घोर अन्याय नहीं तो और क्या था।

संघ-शासन-विधान में लोक-सेवा-आयोग (पब्लिक सर्विस कमीशन) की स्थापना का नियम बनाया गया था। अखिल भारतीय नौकर संघ लोक-सेवा-आयोग (फेडरल पब्लिक सर्विस कमीशन) द्वारा और प्रान्तीय विभाग के सरकारी कर्मचारी प्रान्तीय लोक-सेवा-आयोग (पब्लिक सर्विस कमीशन) द्वारा नियुक्त किये जाते थे। संघ पब्लिक सर्विस कमीशन के अतिरिक्त प्रत्येक प्रान्त में एक लोक-सेवा-आयोग (पब्लिक सर्विस कमीशन) बनाया गया था। पहले की स्थापना गवर्नर-जनरल द्वारा और दूसरे की गवर्नर द्वारा की गई थी। ये दोनों पदाधिकारी अपने विशेष अधिकार से इनके सदस्यों को नियुक्त करते थे। इनकी संख्या, वेतन, कार्यपद्धति तथा काल आदि निश्चित करने का एकमात्र अधिकार उन्हीं को दिया गया था। कमीशन के सदस्यों में कम-से-कम आधे व्यक्ति ऐसे होने चाहिये जो १० या १० से अधिक साल तक सम्राट् की अधीनता में भारत में नौकरी कर चुके हों। विधान-मंडल इनके खर्च पर विचार नहीं कर सकता था। यह भी विधान बनाया गया था कि यदि दो प्रान्त चाहें तो एक ही पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा काम चला सकते हैं। संघ तथा प्रान्तों में इन कमीशनों की स्थापना कर दी गई थी। बम्बई और सिंध प्रान्त के लिये एक ही लोक-सेवा-आयोग था, जो पाकिस्तान के बाद बदल दिया गया।

सिविल सर्विस के कर्मचारी इन्हीं लोक-सेवा-आयोगों द्वारा नियुक्त किये जाते थे। ये कमीशन परीक्षाओं तथा मौखिक चुनाव द्वारा अभ्यर्थियों को चुनते थे। कमीशन की यह योजना अत्यन्त सराहनीय है। लेकिन इनकी बनावट में कुछ ऐसी कमी थी जिससे ये अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते थे। अच्छा होता कि इन्हें भारतीय मन्त्रियों की अधीनता में रक्खा जाता। प्रजा के प्रतिनिधि इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि देश में किस प्रकार के कर्मचारियों की आवश्यकता है और उनके अन्दर कौन-कौन से गुण होने चाहिये। गवर्नर और गवर्नर-जनरल को इसका ज्ञान नहीं हो सकता था। उनकी दृष्टि तो मेधावी लोगों पर जाती अथवा धनी मानी लोगों की रक्षा पर। यही कारण था कि हमारे देश की सिविल सर्विस में बहुत कम

ऐसे पदाधिकारी होते थे जो राष्ट्र की आवश्यकताओं को अनुभव कर अपनी पूरी शक्ति उनमें लगाते।

सरकारी नौकरियों में सुधार

हमारे देश की सरकारी नौकरियों में कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जिन्हें दूर किये बिना हमारा राजनीतिक वातावरण शुद्ध नहीं हो सकता। पहिले हम पाठकों का ध्यान उन इनीगिनी बातों की ओर दिलाना चाहते हैं जिन्हें जाने बिना सुधार की योजना समझ में नहीं आ सकती। यह तो सभी जानते हैं कि भारत संसार के सबसे निर्धन देशों में है। यहाँ के निवासियों की गरीबी इतनी भयंकर है कि लाखों आदमियों को एक समय भी भरपेट भोजन नहीं मिलता। ऐसी दशा में कोई भी सरकार आँख मूँद कर अपने कर्मचारियों को मिट्टी की तरह चाँदी नहीं बाँट सकती। लेकिन हमारे देश में ऐसा ही हुआ है। बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारियों को इतना लम्बा लम्बा वेतन दिया जाता है कि संसार के धनी-से-धनी देश उसकी बराबरी नहीं कर सकते। जितना वेतन हमारे यहाँ गवर्नर-जनरल को दिया जाता रहा है उतना संसार के सबसे धनी देश संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसीडेन्ट तथा सबसे बड़े साम्राज्य (बृटिश साम्राज्य) के प्रधान मन्त्री को भी नहीं दिया जाता था। सरकारी विभागों के बड़े-बड़े कर्मचारी इतना अधिक वेतन पाते हैं कि देश की गरीबी को सामने रखते हुये अपव्यय का कोई दूसरा उदाहरण दिखाई नहीं पड़ता। इसलिये सरकारी नौकरियों में पहला सुधार वेतन का होना चाहिये। कांग्रेस ने ५०० रुपये मासिक का जो नियम बनाया था वह सर्वथा ठीक था। हमारे देश की वर्तमान परिस्थिति में किसी भी कर्मचारी को ५०० रुपये से अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिये। यद्यपि वर्तमान असाधारण महँगी के कारण राष्ट्रीय सरकार इस माप दण्ड को पार कर गई है, परन्तु उसका दृष्टिकोण लोकहित से विचलित नहीं है। नवीन संविधान में पदाधिकारियों के जो वेतन निर्धारित किये गये हैं उनमें बहुत बड़े सुधार की आवश्यकता है।

सरकारी नौकरियों की दूसरी कमी विदेशीपन है। इस राष्ट्रीय उद्गार के युग में भी बड़े-बड़े पदों पर विदेशी दिखाई पड़ते रहे हैं। मालूम पड़ता है मानो बड़ी-बड़ी नौकरियाँ उनके लिये सदा के लिए सुरक्षित कर दी गई थीं। बड़े-बड़े शहरों में जो पोर्ट विभाग की नौकरियाँ थीं उनमें हिसाब लगाने से पता चलता है कि १००० और १००० रुपये मासिक

की नौकरियों में हर १०४ आदमी में केवल १२ भारतीय रहे हैं। शे
स्थान अँग्रेजों को दिये गये थे। २००० रुपये से ऊपर पाने वाले कर्मचारियं
में केवल एक प्रतिशत भारतीय थे। इसी तरह सेना, जंगल तथा कुछ
अन्य विभागों में भी अधिक-से-अधिक कर्मचारी अँग्रेज दिखाई पड़ते थे
सूबों के गवर्नर लगभग सभी अँग्रेज होते थे। मुश्किल से १० प्रतिशत
कलेक्टर भारतीय दिखाई पड़ते थे। भारत-सरकार के अन्दर गवर्नर-जनरल
के सलाहकार आदि अधिकतर अँग्रेज होते थे। इन विदेशी कर्मचारियं
से दोहरी हानि उठानी पड़ती थी। एक तो हमारे देश के योग्य से योग्य
व्यक्ति बेकार रहते थे, दूसरे विदेशी कर्मचारी अपनी सारी आय अपने
देश में व्यय करते थे। जब तक वे भारत में रहते थे तब तक अधिक-से
अधिक पैसे बचाकर अपने देश को भेजते थे। पेंशन हो जाने पर उनके
वेतन की एक पाई भी हमारे देश में नहीं खर्च होती थी। यदि मुगल-
राज्य में कर्मचारियों का वेतन लम्बा था तो वह सब कुछ अपने ही देश
में व्यय किया जाता था। अरब और फारस में उसे भेजने की आज्ञा न
थी। परन्तु प्रतिवर्ष जो पेंशन की एक लम्बी रकम इंगलैंड को भेजी जाती
रही है वह हमारे ऊपर मानों सदियों का ऋण लदा हुआ था। अतएव
नौकरियों में दूसरा सुधार भारतीयकरण का होना चाहिये। हर विभागों में
सभी कर्मचारी भारतीय रक्खे जायँ। राष्ट्रीय सरकार इस दिशा में प्रयत्नशील
है। अँग्रेज कर्मचारी अपने देश को जाने लगे हैं। राज्यों के राज्यपाल तथा
राजप्रमुख अब भारतीय हैं।

वेतन और भारतीयकरण से बढ़कर एक और भी सुधार आवश्यक है।
बड़े-बड़े कर्मचारी अपने आपको जनता का स्वामी समझते हैं। उनके
हृदय में प्रजा के प्रति कोई सहानुभूति नहीं होती। थोड़े से धनी मानी
लोगों से परिचय प्राप्त कर लेने तथा दावतों और क्लबों में सम्मिलित
होने के अतिरिक्त।वे गरीबों से मिलने में अपनी मानहानि समझते हैं।
अपने भाइयों के बीच में रहते हुए भी उनकी रहन-सहन विदेशी होती
है। दुखिये और संकटग्रस्त लोग उनके बँगलों के अन्दर पाँव नहीं रख
सकते। एक समय वह था जब अशोक ने अपने राज्य में इस बात
की घोषणा कर रक्खी थी कि शौचालय तक में उसे राज्य की सूचना दी जा
सकती थी, और हर समय कोई भी आदमी उससे मिल सकता था।
जहाँगीर ने अपने दरबार में एक सोने की घंटी बाँध रक्खी थी जिसे कोई
भी खींचकर बादशाह से मिल सकता था। परन्तु बृटिश शासन में वह
दिन दिखाई पड़ता था जब कलेक्टर और कमिश्नर के बँगलों के अन्दर

साधारण आदमियों को जाने की आज्ञा न थी।[1] गवर्नर और वाइसराय की तो बात ही और थी। इसका कारण समय का अभाव नहीं, बल्कि सरकारी कर्मचारियों में राष्ट्रीय भावना की कमी थी। कर्मचारियों को अब तक इस बात का उत्साह नहीं रहा है कि वे दीन-दुखियों की कठिनाइयों को सुनें और उन्हें दूर करने का प्रयत्न करें। जिस परिस्थिति में भारतीयों के दिन कट रहे हैं उसमें बड़ी-बड़ी दावतों और मनोरंजन के लिये स्थान कम है। इसलिये कर्मचारियों को एक ऐसी ट्रेनिंग की आवश्यकता है जिसमें उनके अन्दर देश के गरीबों और दुखियों की कहानी कूट-कूट कर बैठा दी जाय, जिससे वे अपने भाइयों की वास्तविक स्थिति से मुँह न मोड़ें। उनकी ट्रेनिंग एक सच्चे सेवक बनने की होनी चाहिये।

राष्ट्रीय सरकार और सरकारी नौकरियाँ

स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी कर्मचारियों का दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल गया है। जनता की सरकार नौकरशाही की उस भावना को सहन नहीं कर सकती जिसके द्वारा सरकारी कर्मचारी अपने आपको जनता से पृथक समझें। केन्द्रीय तथा राजकीय सरकारों ने यह आज्ञा घोषित की है कि सरकारी कर्मचारी अपने आपको जनता का सेवक समझें। उनकी नियुक्ति जनता की भलाई के लिये की गई है। जो वेतन उन्हें दिया जाता है वह उसकी गाढ़ी कमाई का फल है। प्रत्येक विभाग के कर्मचारी जनता से नम्रता का व्यवहार करने लगे हैं। सरकार इस बात का अनुभव करती है कि भारतीय जनता अशिक्षित और सरल प्रकृति की है। बृटिश शासन की कड़ी पद्धति ने उसे ऐसा भयभीत कर दिया है कि वह सरकारी कर्मचारियों के सम्पर्क में आने से भय करती है। ऐसी दशा में प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति तथा सरकारी पदाधिकारियों से यह आशा की जाती है कि वे जनता की इस भावना को दूर करें। यह कार्य तभी होगा जब प्रत्येक विभाग के कर्मचारी जनता से अपना सम्पर्क बढ़ाने की चेष्टा करेंगे। राष्ट्रीय सरकार ने यह भी निश्चय किया है कि सरकारी विभाग में कोई भी पद भारतीय नागरिक के अतिरिक्त किसी और को नहीं प्रदान किया जायगा। किसी विशेष यांत्रिक शिक्षा के लिये विदेशी विशेषज्ञों की सेवायें थोड़े समय के लिये भले ही प्राप्त करली जायँ, परन्तु उन्हे स्थायी रूप से नियुक्त नहीं किया

१—राष्ट्रीय सरकार ने यह आज्ञा दी है कि सरकारी कर्मचारी अपने आपको जनता का सेवक समझें और सबके साथ नम्रता का व्यवहार करें।

जायगा। सरकार छात्रवृत्तियाँ देकर सैकड़ों विद्यार्थियों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेज रही है। जब ये विद्यार्थी किसी विषय की विशेष शिक्षा लेकर अपने देश को लौटेंगे तो उन्हें सरकारी विभागों में नियुक्त किया जायगा। बृटिश शासन में प्रायः सभी बड़े पदों पर अधिकारियों को विशेषाधिकार द्वारा नियुक्त करने की प्रथा रही है। राष्ट्रीय सरकार ने इस पद्धति को बन्द कर दिया है। सभी सरकारी कर्मचारी लोक सेवा-आयोग (Public Service Commission) द्वारा परीक्षा तथा प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्त किये जायँगे। भारतीय नौकरियों में संघ तथा राज्यों के लिये पृथक् पृथक् लोक-सेवा-आयोग स्थापित किये गये हैं। सरकारी कर्मचारियों से यह आशा की जाने लगी है कि वे अधिक परिश्रम और लगन से कार्य करेंगे। भारतीय राष्ट्र का नये सिरे से निर्माण हो रहा है। सरकार की ओर से नयी नयी योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं। इनकी सफलता बहुत कुछ सरकारी कर्मचारियों की योग्यता और सचाई पर निर्भर करती है। देश के नवयुवक सरकारी पदों को वेतन भोग के लिये ग्रहण न करें, बल्कि उनका भाव कठिन परिश्रम और लोक हित होना चाहिये। सरकारी कर्मचारियों में शुद्ध विचारों की भी बड़ी आवश्यकता है। अधिकार को प्राप्त कर वे लोभ और अहंकार के दास न बनें। राष्ट्रीय सरकार इस बात का भी ध्यान रख रही है कि कर्मचारी अपने पदों से कोई अनुचित लाभ न उठायें।

लोक-सेवा-आयोग

संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि संघ के लिये एक लोक-सेवा-आयोग तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक लोक-सेवा-आयोग होगा। दो या अधिक राज्य यह करार कर सकेंगे कि उनके समूह के लिये एक ही लोकसेवा-आयोग होगा, परन्तु इसका निर्णय राज्यों के विधान-मंडल के प्रत्येक सदनों से कराना होगा। लोकसेवा-आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों की नियुक्ति, यदि वह संघ आयोग या संयुक्त आयोग है, तो राष्ट्रपति द्वारा तथा, यदि वह राज्य आयोग है तो, राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा की जायगी। प्रत्येक लोकसेवा-आयोग के सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम आधे ऐसे व्यक्ति होंगे जो अपनी अपनी नियुक्तियों की तारीख पर भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन कम से कम १० वर्ष तक पद धारण कर चुके हैं। लोकसेवा-आयोग का सदस्य, अपने पद ग्रहण की तारीख से ६ वर्ष की अवधि तक, अथवा यदि वह संघ आयोग है तो, ६५ वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक,

तथा यदि वह राज्य आयोग या संयुक्त आयोग है तो ६० वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक, जो भी इनमें से पहले हो, अपना पद धारण करेगा। कोई व्यक्ति, जो लोकसेवा-आयोग के सदस्य के रूप में पद धारण करता है, अपनी पदावधि की समाप्ति पर उस पद पर पुनः नियुक्त नहीं किया जायगा। लोक-सेवा-आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य अपने पद से केवल राष्ट्रपति द्वारा कदाचार के आधार पर दिये गये उस आदेश पर ही हटाया जायगा, जो कि उच्चतम न्यायालय से राष्ट्रपति द्वारा पृच्छा किये जाने पर उस न्यायालय द्वारा दिया गया है। यदि लोक-सेवा-आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य दिवालिया घोषित कर दिया जाता है, अथवा अपने पद के कर्तव्यों से बाहर कोई वैतनिक नौकरी करता है अथवा राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दौर्बल्य के कारण अपने पद पर कार्य करने के लिये अयोग्य है, तो उसे राष्ट्रपति आदेश द्वारा अपने पद से हटा सकेगा।

संघ आयोग या संयुक्त आयोग के बारे में राष्ट्रपति तथा राज्य के बारे में उस राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख आयोग के सदस्यों की संख्या तथा उनकी सेवाओं की शर्तों का निर्धारण कर सकेगा। सदस्यों की नियुक्ति के पश्चात् उनके वेतन तथा भत्ते आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। संघ तथा राज्य के लोक-सेवा-आयोगों का कर्तव्य होगा कि क्रमशः संघ की सेवाओं और राज्य की सेवाओं में नियुक्तियों के लिये परीक्षाओं का संचालन करें। यदि संघ लोक-सेवा-आयोग से कोई दो या अधिक राज्य ऐसा करने की प्रार्थना करें तो वह उन राज्यों की सहायता कर सकता है। संघ तथा राज्य के लोकसेवा-आयोगों को केवल असैनिक सेवाओं के लिये नियुक्तियाँ करने का अधिकार है।

अध्याय १९

सरकारी आय-व्यय

(INDIAN FINANCE)

सरकार की आर्थिक आवश्यकतायें

अपने कर्तव्यों की पूर्ति के लिये सरकार को प्रजा से धन वसूल करना पड़ता है। परन्तु ये सारे कर्तव्य प्रजा के ही प्रति होते हैं। जो सरकार अपनी प्रजा का धन व्यर्थ व्यय करती है, अथवा निष्प्रयोजन विदेशों में भेज देती है, वह अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं करती। सार्वजनिक कामों को एक व्यक्ति नहीं कर सकता। सरकार की स्थापना इसीलिए की गई है कि वह व्यक्तिगत चिन्ता से ऊपर सम्पूर्ण समाज की भलाई सोचे। हर आदमी स्कूल और कालेज नहीं खोल सकता और न १०-२० आदमी रेल और तार का संगठन कर सकते हैं। दो-चार गाँव पूरे राष्ट्र की रक्षा का प्रबन्ध नहीं कर सकते। इस तरह के कामों को सरकार कर सकती है। उसकी शक्ति अनन्त है। यद्यपि यह शक्ति उसे जनता से ही मिली है, लेकिन वह इसे वापिस नहीं ले सकती। समाज में हम जिन वस्तुओं से लाभ उठाते हैं उन पर करोड़ों रुपये व्यय किये गये हैं। इस धन का कुछ अंश हमारी जेब से भी लगा हुआ है। तभी अपना अधिकार समझ कर हम उन्हें अपनी वस्तु समझते हैं। इन वस्तुओं पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि इन्हें बनाने तथा इनकी रक्षा के लिये जितने रुपये की आवश्यकता है उसका हम अनुमान भी नहीं कर सकते। आरक्षक, अस्पताल, रेल, तार, डाक, सड़क, पुल, जहाज, रक्षा आदि मदों में जो रुपये लगाये जा रहे हैं उनकी उपयोगिता हमारे लिये कम नहीं है। इन्हीं को सँभालने के लिये सरकार को धन की आवश्यकता पड़ती है और उसे तरह-तरह के टैक्स लगाने पड़ते हैं।

इस राशि को वसूल करने के लिये सरकार को कुछ नियमों की आवश्यकता पड़ती है। वह जिससे जितना रुपये चाहे वसूल नहीं कर सकती। प्रजा की स्थिति के अनुसार ही वह टैक्स ले सकती है। भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त जो राशि प्रजा के पास बच जाती है उसका कुछ

अंश सरकार लेती है। यह कर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से लिया जाता है। सरकार को इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि गरीबों पर टैक्स का भार कम पड़े। जो राशि प्रजा से वसूल की जाती है उसके उचित व्यय का भी ध्यान रखना पड़ता है। यदि १० रुपये वसूल करने में १५ रुपये का व्यय पड़ता है तो सरकार इस तरह कीं मूर्खता नहीं कर सकती। उसकी आवश्यकतायें प्रजा की इच्छानुसार बढ़ती हैं। जब धन की आवश्यकता अधिक होती है तो वह प्रजा की आय को बढ़ाने का प्रयत्न करती है। प्रजा की भलाई के साथ सरकार को टैक्स वसूल करने में सुविधा होती है। जिस राज्य में प्रजा की आर्थिक स्थिति अच्छी होती है वहाँ की सरकार भी धनी समझी जाती है। आवश्यकता पड़ने पर वह अधिक धन इकट्ठा कर सकती है। जिस प्रकार माली बगीचे से फूलों को चुन लेता है और फिर पानी देकर उसे हरा-भरा रखता है, उसी तरह सरकार अपनी प्रजा को सुखी और सम्पन्न बनाकर उसकी आय का थोड़ा-सा अंश ले सकती है।

बृटिश सरकार और भारतीय प्रजा

भारत की विकट गरीबी को देखते हुये यह बात समझ में नहीं आती कि किस प्रकार यहाँ की सरकार प्रजा का पेट काटकर टैक्स वसूल करती थी। लाखों आदमियों को भर पेट भोजन तक प्राप्त नहीं होता था। प्रसिद्ध इतिहास लेखक सर विलियम हंटर लिखता है, "चार करोड़ भारतीय अपर्याप्त भोजन पर अपने दिन काटते हैं।" सर चार्ल्स इलियट का अनुमान है कि "किसान वर्ग में से आधे किसानों की भूख वर्ष के आरम्भ से लेकर अन्त तक कभी भी पेट भर भोजन करके शान्त नहीं हुई।"[1] १८६१ की मनुष्य गणना की रिपोर्ट में यह बात उल्लित हैं कि "यह निश्चित प्रतीत होता है कि लगभग ७ करोड़ भारतवासी यह भी नहीं जानते कि दो बार भोजन किसे कहते हैं।" भारत के लगभग १० करोड़ व्यक्ति १८ बिस्वे जमीन जोतकर अपना दिन काटते हैं। रैम्जे मेकडानल अपनी "भारत की जागृति" नामक पुस्तक में लिखते हैं, "५ करोड़ कुटुम्ब (अर्थात् २५ करोड़ मनुष्य) साढ़े तीन आने की आय पर अपना निर्वाह करते हैं।" इस तरह के उद्धरणों से हमारा इतिहास भरा पड़ा है। इतने पर भी बृटिश सरकार ने इन गरीबों से टैक्स वसूल करने में कोई कमी नहीं की थी। टैक्स लेना सरकार का कर्तव्य है लेकिन जिसके पास

१—Industrial Decline in India—Balkrishna.

भोजन और शरीर ढकने तक का ठिकाना नहीं है उससे टैक्स लेने की नीति अन्याय पूर्ण है। बृटिश सरकार को पैसे की आवश्यकता इसलिये न थी कि उसे भारतवासियों के हित के लिये तरह तरह के कार्य करने थे। उसका ध्येय भारतीय प्रजा को किसी प्रकार जीवित रखना था, जिससे वह बृटेन का बना हुआ माल खपाती रहती। सरकारी आय का अधिकांश पदाधिकारियों के लम्बे वेतन और गृह सरकार के व्यय में लगाया जाता था। शिक्षा तथा उद्योग-धन्धें पर नाम मात्र की राशि व्यय की जाती थी। अस्त्र-शस्त्र का व्यय सबसे अधिक था। सेना में अंग्रेज सिपाहियों पर भारतीय सिपाहियों से ४ गुना व्यय किया जाता था। बृटिश साम्राज्य को फैलाने तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिये अफगानिस्तान, फारस, चीन, नैपाल तथा मिश्र में कितनी ही लड़ाइयाँ भारतीय व्यय से लड़ी गई थीं। १८५७ ई० में भारतीय स्वतन्त्रता का जो युद्ध हुआ था उसका सम्पूर्ण व्यय प्रजा को देना पड़ा था। यद्यपि टैक्स के भार से भारतीय प्रजा की दशा अत्यन्त शोचनीय थी, फिर भी प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के ऊपर ४० अरब रुपये का ऋण घोषित किया गया था।

गतमहायुद्ध में भारत की अतुल सम्पत्ति काम में लाई गई थी। यद्यपि इस महायुद्ध का उद्देश्य भारतीयों के लिये कुछ भी नहीं था, फिर भी बृटिश सरकार ने भारतीय सम्पत्ति का पूर्ण उपयोग किया। भारतीय सेना विदेशों में भेजी गई और उसका सारा व्यय भारतीय कोष से दिया गया। युद्ध के व्यय को चलाने के लिये बृटिश सरकार ने ऐसी दोष पूर्ण मुद्रा की नीति का अनुसरण किया कि कागद के नोटों का चलन आवश्यकता से अधिक हो गया। इससे पैसे की क्रय शक्ति कम हो गई और वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया। सार्वजनिक हित के सभी कार्य बन्द कर दिये गये और सरकार की सब आय कई वर्षों तक युद्ध में लगती रही। परिणाम यह हुआ कि भारत का सभी पिछला सरकारी ऋण चुका दिया गया और बृटेन के ऊपर भारत सरकार का १५ अरब ४७ करोड़ रुपये ऋण हो गया। यदि स्वतन्त्रता के पश्चात् बृटेन की सरकार भारत सरकार के इस ऋण को सोने के रूप में चुका दी होती तो भारत की आर्थिक स्थिति बहुत कुछ सुधर गई होती। परन्तु वह ऋण वस्तुओं के रूप में चुकाया जा रहा है जिससे भारत को कोई लाभ नहीं है। यह सारी कठिनाई राष्ट्रीय सरकार को उठानी पड़ती है। प्रजा की आर्थिक स्थिति को देखते हुए टैक्स लगाने में वह संकोच करती है, परन्तु देश के उत्थान के लिये नवीन योजनाओं के व्यय के लिये उसे प्रजा का ही मुँह

देखना पड़ता है। नोटों का चलन कम किया जा रहा है जिससे मुद्रा की क्रय शक्ति बढ़ जाय। विदेशी वस्तुओं का आयात, जो भारत के शोषण का बहुत बड़ा द्वार रहा है, कम किया जा रहा है। सरकार ने यह भी घोषित किया है कि १९५१ ई० के पश्चात् भोजन सामग्री का आयात नहीं किया जायगा। जनता की आर्थिक स्थिति बढ़ाने के लिये उपज शक्ति बढ़ाई जा रही है और घरेलू उद्योग-धन्धों को चालू किया जा रहा है। राष्ट्रीय सरकार यह जानती है कि वर्तमान युग में सरकारी व्यय बढ़ रहा है और जब तक प्रजा की आर्थिक स्थिति अच्छी न होगी, तब तक वह इस व्यय के भार को वहन नहीं कर सकती।

बृटिश शासन के अन्तर्गत सरकारी आय-व्यय का संतुलन ठीक न था। सरकारी आय का ४० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष 'होम चार्जेज' के रूप में बृटेन भेज दिया जाता था। सरकारी पदाधिकारियों को जो वेतन दिया जाता था वह अन्य देशों के पदाधिकारियों की अपेक्षा बहुत ही लम्बा था। जहाँ जापान के प्रधान मंत्री को ६२२ रुपया मासिक तथा टर्की के प्रधान अधिकारी को ३१८ रुपया मासिक वेतन दिया जाता था वहाँ भारत के वाइसराय तथा उसकी कौंसिल के सदस्यों को क्रमशः २१००० और ७००० रुपया मासिक वेतन दिया जाता था। सरकारी आय का ४० प्रतिशत केवल शासन प्रबन्ध पर व्यय किया जाता था। जहाँ संयुक्तराज्य अमेरिका शिक्षा पर ५५ रुपया प्रति व्यक्ति और ग्रेटबृटेन २० रु० प्रति व्यक्ति वार्षिक व्यय करते रहे हैं, वहाँ भारतीयों की शिक्षा पर केवल ९ आने पैसे प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष व्यय किया जाता था। वैज्ञानिक साधनों के कारण प्रायः सभी देशों ने अपनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि किया है। प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आय एक निश्चित सीमा पर पहुँचा दी गई थी, परन्तु भारतीयों की आय में और कमी होती गई। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक आय १०८० रुपया, ग्रेट बृटेन में ७५० रुपया, जर्मनी में ४५० रुपया, जापान में १२० रुपया आँकी गई है। एक भारतीय की वार्षिक आय केवल ६० रुपये मानी गई है। इन आँकड़ों को देखते हुए राष्ट्रीय सरकार को दो प्रकार के कार्य करने होंगे। सबसे पहले उसे उन कार्यों को अपनाना होगा जिनसे लोगों की आय में वृद्धि हो। अर्थात् सरकारी आय का अधिकांश उत्पादन-कार्यों में लगाना होगा। जनता की आर्थिक स्थिति ठीक होने पर उससे टैक्स की मात्रा बढ़ानी होगी, जिससे नवीन योजनाओं को कार्यान्वित किया जाय।

नवीन संविधान में राष्ट्रीय सरकार की आर्थिक नीति का स्पष्टीकरण

राष्ट्रीय सरकार की वित्तीय व्यवस्था

किया गया है जिसके अध्ययन से सरकारी आय-व्यय की पूरी जानकारी होती है। यह आय-व्यय किस प्रकार संचालित किया जायगा और संघ तथा राज्य सरकारों में इसका कैसे वितरण होगा, इसकी भी जानकारी होती है। संविधान के १२वें भाग में वित्तीय प्रकरण (Financial Provisions) की चर्चा की गई है। आरम्भ में ही यह कहा गया है कि विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संग्रहीत किया जायगा। भारत सरकार द्वारा प्राप्त सब राजस्व, उधार द्वारा और अर्थोपाय पेशगियों द्वारा लिये गये सब उधार, तथा उधारों के प्रतिदान में उस सरकार को प्राप्त सब धनों की एक संचित निधि बनेगी जो "भारत की संचित निधि" कहलायेगी। इसी प्रकार राज्य की सरकार द्वारा पाया सब राजस्व, उधार द्वारा और अर्थोपाय पेशगियों द्वारा लिये गये सब उधार, तथा उधारों के प्रतिदान में उस सरकार को प्राप्त सब धनों की एक संचित निधि बनेगी जो "राज्य की संचित निधि" कहलायेगी। भारत की सरकार या राज्य की सरकार द्वारा प्राप्त अन्य सब सार्वजनिक धन यथास्थिति भारत के या राज्य के लोक-लेखे (Public Account) में जमा किये जायँगे। भारत की या राज्य की संचित निध में से कोई धन विधि की अनुकूलता से, तथा इस संविधान में उपबन्धित प्रयोजनों तथा रीति से, अन्यथा विनियुक्त (Appropriate) नहीं किये जायँगे। संसद् विधि द्वारा "भारत की आकस्मिकता-निधि" के नाम से एक निधि की स्थापना करेगी जिसमें ऐसी विधि द्वारा निर्धारित राशियाँ समय समय पर डाली जायँगी। ऐसी निधि में से ऐसे व्यय की पूर्ति के लिये अग्रिम धन देने के लिये राष्ट्रपति को योग्य बनाने के हेतु उक्त निधि राष्ट्रपति के हाथ में रखी जायगी। इसी प्रकार राज्य का विधान-मंडल "राज्य की आकस्मिकता-निधि" की स्थापना करेगा और वह निधि राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख के हाथ में रखी जायगी।

ऐतिहासिक विवरण

अब तक केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्यों का आर्थिक सम्बन्ध कैसा रहा है इसकी जानकारी आवश्यक है। कारण यह है कि नवीन संविधान में जो वित्तीय व्यवस्था की गई है वह १९३५ ई० के संघ-शासन-विधान से बहुत कुछ मिलती जुलती है। १८५८ ई० तक बृटिश सरकार की नीति सभी क्षेत्रों में शक्ति-संचय की थी। आर्थिक क्षेत्र में

भी प्रान्तीय सरकारों को कोई अधिकार न था। न वे कोई टैक्स लगा सकती थीं और न कोई धन अपनी इच्छा से व्यय कर सकती थीं। वे केन्द्रीय सरकार की एजेन्ट मात्र थीं। केन्द्रीय सरकार की आज्ञानुसार वे टैक्स वसूल कर उसे भेज देतीं और अपने व्यय के लिये उससे सहायता प्राप्त करती थीं। जान स्ट्रेची लिखता है, "यदि प्रान्तीय सरकार को कोई सड़क बनवाने के लिये २० पौंड की भी आवश्यकता पड़ती तो उसे केन्द्रीय सरकार से इसकी आज्ञा लेनी पड़ती थी।"[१] केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष प्रान्तीय सरकारों को एक बची हुई राशि व्यय के लिये देती थी। यह राशि सब प्रकार से अपर्याप्त थी। १८७० ई० में लार्ड मेयो के समय में आय के कुछ मार्ग प्रान्तीय सरकारों को दिये गये। आरक्षक, शिक्षा, सड़क, रजिस्ट्री, जेल तथा अस्पताल आदि के व्यय के लिये उन्हें किसी सीमा तक स्वतन्त्र कर दिया गया। १८७७ ई० में लार्ड लिटन के समय में सरकारी आय को तीन भागों में बाँट दिया गया—केन्द्रीय विषय, प्रान्तीय विषय और सम्मिलित विषय। अफीम, नमक, तार और डाक, देशी रियासतों से कर तथा रेलवे की आय केन्द्रीय सरकार के हाथों में रखी गई। शेष विभागों की आय प्रान्तीय सरकार को दे दी गई। भूमिकर तथा आय कर की आय दोनों सरकारों में बाँट दी जाती थी। प्रान्तीय सरकारों को ऋण लेने का अधिकार न था और न वे कोई नया टैक्स लगा सकती थीं। यह प्रबन्ध केवल ५ वर्ष के लिये किया गया था। १८८२ ई० में लार्ड रिपन के समय में केन्द्रीय सरकार से प्रान्तीय सरकारों की सहायता बन्द कर दी गई। १६०४ ई० में लार्ड कर्जन ने इसे पुनः संचालित किया। १६११ ई० में लार्ड हार्डिंज ने उपर्युक्त प्रबन्ध को स्थायी कर दिया।

१६१६ ई० के शासन सुधार में सरकारी आय-व्यय के प्रबन्ध में अनेक परिवर्तन किये गये। सम्मिलित आय का विषय तोड़ दिया गया और सभी विषय केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों में बाँट दिये गये। शासन को कार्यान्वित हुए अभी दो वर्ष भी व्यतीत न हुए थे कि १६२०—२३ के बजट में सरकार को ६८३ लाख रुपये की कमी पड़ गई। इसकी पूर्ति के लिये लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। समिति ने यह रिपोर्ट दिया कि बिहार और उड़ीसा प्रान्त को छोड़ कर शेष प्रान्तों से यह कमी पूरी की जाय। १६२२ ई० में निम्नलिखित राशि प्रान्तों से ली गई :—

१—India, Its Administration and Progress, pp. 112—13.

प्रान्त			केन्द्रीय सरकार को दी गई राशि (लाख की संख्या में)
१—मद्रास	...	...	३४८
२ - बम्बई	...	...	५६
३—बंगाल	..	...	६३
४—उत्तर प्रदेश	...	...	२४०
५—पंजाब	...	...	१७५
६—ब्रह्मा	...	...	६४
७—मध्यप्रान्त और बरार		...	२२
८ – आसाम	...	...	१५
			कुल जोड़ ९८३ लाख रुपया

बिहार और उड़ीसा को इस लिये छोड़ दिया गया था कि उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। यह व्यवस्था कई वर्षों के लिये थी। पहली किश्त देने के बाद बंगाल प्रान्त ने यह असमर्थता प्रकट किया कि वह आगे कोई राशि नहीं दे सकता। इसलिये यह निश्चय किया गया कि ६ वर्ष तक बंगाल से कोई किश्त न ली जायगी। राज्य विधान-मंडलों को नये कर लगाने की शक्ति दे दी गई। उन्हें ऋण लेने का भी अधिकार दे दिया गया। मेस्टन की योजना से कोई भी प्रान्त सन्तुष्ट न था। इसलिये १९२८ ई० में प्रान्तों की किश्त बन्द कर दी गई। नये टैक्स लगाकर केन्द्रीय सरकार ने अपनी कमी को पूरा कर लिया। इसी समय संघ-शासन की चर्चा चलने लगी।

१९३५ के संघ-शासन-विधान के अनुसार सरकारी आय-व्यय का नये सिरे से बंटवारा किया गया। ब्रह्मा के अलग हो जाने से केन्द्रीय सरकार की आय में ३ करोड़ रुपये की कमी हुई थी। सिन्ध को बम्बई से पृथक् कर देने से बम्बई प्रान्त को ६० लाख रुपये की हानि हुई थी। इसी प्रकार उड़ीसा के बनाने में मद्रास और बिहार प्रान्तों को क्रमशः २० लाख और ८ लाख रुपये वार्षिक का घाटा पड़ा था। केन्द्रीय सरकार को इसे पूरा करना पड़ा। संघ-शासन को कार्यान्वित करने के लिये डेढ़ करोड़ रुपये की आवश्यकता को भी पूरा करना पड़ा। कुछ विषयों की आय को केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में रखा। ये विषय चुंगी, कारपोरेशन टैक्स तथा इन्कम टैक्स पर सरचार्ज थे। कुछ विषय ऐसे थे जिनकी आय संघ-सरकार वसूल करती, परन्तु उसे प्रान्तों अथवा रियासतों में बाँट देती थी। ये विषय स्टैम्प

कर, चेक, सरखत, बीमा, रेल की वस्तुओं तथा यात्रियों पर कर थे। कुछ विषय ऐसे थे जिनकी आय संघ-सरकार वसूल करती और उसका कुछ भाग वह प्रान्तों और रियासतों को दे देती थी। ये कर आयकर, जूट निर्यात कर, नमक कर, अफीम, आबकारी तथा निर्यात कर थे। इनके अतिरिक्त रेल, तार और डाक, देशी रियासतों से कर तथा टक्साल की आय संघ-सरकार की आय समझी जाती थी। जो प्रान्त अपने पैर पर खड़े नहीं हो सकते थे उन्हें कई वर्षों तक निम्नलिखित राशि देने की व्यवस्था की गई थी:—

१—पश्चिमोत्तर प्रदेश को १०० लाख रुपया वार्षिक।

२—उड़ीसा प्रान्त को ४७ लाख रुपया वार्षिक १९४२ तक, ४३ लाख रुपया वार्षिक १९४२ से १९४६ तक, ४० लाख रुपया वार्षिक १९४६ के पश्चात्।

३—आसाम को ४० लाख रुपया वार्षिक।

४—उत्तर प्रदेश को २५ लाख रुपया वार्षिक १९४२ तक।

५—सिन्ध प्रान्त को ५० वर्ष तक संघ सरकार कुछ वार्षिक सहायता देती रहती।

प्रान्तीय सरकारों को आय के स्वतन्त्र साधन दे दिये गये थे। भूमि कर, कृषि कर, आबकारी, उद्योग कर तथा कुछ अन्य प्रकार के कर प्रान्तीय सरकार की आय समझे जाते थे। प्रान्तों को ऋण लेने का भी अधिकार दिया गया था। संघ शासन की व्यवस्था कार्यान्वित न होने के कारण उपर्युक्त योजना पुस्तकों में ही रह गई। द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने के कारण बृटिश सरकार को कितने ही प्रकार के नये नये टैक्स लगाने पड़े। आय के सभी मार्ग केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथ में कर लिया था। यह व्यवस्था तब तक चलती रही जब तक भारत पूर्ण रूप से स्वाधीन नहीं हो गया।

नवीन संविधान और वित्तीय व्यवस्था

नवीन संविधान में संघ तथा राज्यों की आय के मार्ग पृथक् पृथक् कर दिये गये हैं। जो राज्य केन्द्र द्वारा शासित है और जिनका व्यय संघ-सरकार को वहन करना पड़ता है उनकी आय संघ-सरकार की आय मानी गई है। निम्नलिखित शुल्क और कर संघ-सरकार द्वारा आरोपित और संग्रहीत किये जायँगे:—आय कर, तम्बाकू तथा भारत में उत्पन्न अन्य मादक वस्तुओं पर कर, अफीम, कारपोरेशन टैक्स, आयात और निर्यात कर, औषधीय कर, कम्पनियों पर

साम्पत्तिक कर। इनसे उत्पन्न आय संघ-सरकार की आय होगी। केन्द्रीय सरकार द्वारा शासित राज्यों को छोड़कर अन्य राज्यों की आय के निम्नलिखित मार्ग हैं:—भूमि कर, कृषि आय कर, कृषि सम्बन्धी भूमि पर पैतृक अधिकार कर, भूमि तथा भवन कर, खनिज पदार्थों पर कर, साधारण प्रयोग की मादक वस्तुओं पर कर, चुँगी, बिजली, पत्र-पत्रिकाओं को छोड़ कर अन्य वस्तुओं पर कर, पत्र-पत्रिकाओं में किये गये विज्ञापन को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर, सड़क तथा जलमार्ग द्वारा भेजी गई वस्तुओं तथा यात्रियों पर कर, सवारी कर, उद्योग कर, व्यवसाय तथा नियुक्ति कर, विलासिता सामग्रियों पर कर, मनोरंजन कर, सट्टा तथा जुओं पर कर, मुद्रांक शुल्क तथा आय कर का भाग।

कुछ करों को लगाने का अधिकार केवल संघ-सरकार को है, परन्तु उन्हें संग्रहीत तथा व्यय करने का अधिकार राज्य की सरकारों को दिया गया है। इस प्रकार के कर निम्नलिखित हैं:—हुन्डियों पर मुद्रांक शुल्क, चेक, प्रामेजरी नोट, बीमा, हिस्सों की विक्री, औषधि कर तथा कुछ अन्य मादक वस्तुओं पर कर। निम्नलिखित कर संघ-सरकार द्वारा लगाये तथा संग्रहीत किये जायँगे, परन्तु उनकी सम्पूर्ण आय उन राज्यों में वितरित कर दी जायगी जिनसे वह संग्रहीत की जायगी। इस प्रकार के कर निम्नलिखित हैं:—कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषय कर, कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति विषयक सम्पत्ति शुल्क, रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, रेल भाड़ों और वस्तु भाड़ों पर कर, श्रेष्ठि चत्वरों और वायदा बाजारों के सौदों पर मुद्रांक-शुल्क से अन्य कर, समाचार पत्रों के क्रय विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर। कृषि आय से अतिरिक्त अन्य आय पर करों को भारत सरकार द्वारा उगृहीत और संगृहीत किया जायगा तथा नियमानुसार संघ और राज्यों के बीच में वितरित किया जायगा। जो राज्य केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में रखे गये हैं उनके करों को उगृहीत, संग्रहीत तथा व्यय करने का अधिकार संघ-सरकार को है। जब तक वित्तीय आयोग (Finance Commission) की स्थापना नहीं हो जाती तब तक करों के वितरण का सिद्धान्त राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित किया जायगा। जो कर संघ-सरकार द्वारा उगृहीत और संग्रहीत किये जायँगे, परन्तु उनकी आय राज्यों को सौंप देनी होगी, उन्हें संघ के प्रयोजन के लिये किसी भी समय बढ़ाया जा सकेगा।

पटसन या पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात कर के किसी भाग को आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्य को सौंपने के लिये

उन राज्यों के राजस्व में सहायक अनुदान के रूप में प्रत्येक वर्ष में भारत की संचित निधि पर ऐसी राशियाँ भारित की जायँगी जैसी कि विहित की जायँ। पटसन या पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर जब तक भारत सरकार कोई निर्यात शुल्क उग्रहीत करती रहे अथवा इस संविधान के प्रारम्भ से १० वर्ष की समाप्ति तक, इन दोनों में से जो भी पहले हो उसके होने तक, इस प्रकार विहित राशियाँ भारत की संचित निधि पर भारित बनी रहेंगी। कोई विधेयक या संशोधन, जो जिस कर या शुल्क में राज्यों का हित सम्बद्ध है, उसको आरोपित या परिवर्तित करता है, राष्ट्रपति की सिपारिश के बिना संसद् के किसी सदन में न तो स्थापित और न प्रस्तावित किया जायगा। ऐसी राशियाँ, जो संसद् विधि द्वारा उपबन्धित करे उन राज्यों के सहायक अनुदान के रूप में प्रति वर्ष भारत की संचित निधि पर भारित होंगी जिन राज्यों के विषय में संसद् यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है, तथा भिन्न भिन्न राज्यों के लिये भिन्न-भिन्न राशियाँ नियत की जा सकेंगी। किसी राज्य के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में भारत की संचित निधि में से ऐसी राशियाँ दी जायँगी जैसी कि उस राज्य को उन विकास योजनाओं के व्यय के उठाने में समर्थ बनाने के लिये आवश्यक हों। आसाम राज्य के आदिम जाति क्षेत्रों के प्रशासन के बारे में अधिक राशि देने की व्यवस्था की गई है।

किसी राज्य के विधान-मंडल की ऐसे करों सम्बन्धी कोई विधि, जो उस राज्य या किसी नगरपालिका, जिला मंडली, स्थानीय-मंडली अथवा उसमें अन्य स्थानीय प्राधिकारी के हित साधन के लिये वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं या नौकरियों के बारे में लागू होती है, इस आधार पर अमान्य न होगी कि वह आय पर कर है। राज्य को अथवा उसमें की किसी एक नगरपालिका, जिला-मंडली, स्थानीय-मंडली या अन्य स्थानीय प्राधिकारी को किसी एक व्यक्ति के बारे में वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर करों द्वारा देय सब राशि २५० रुपये प्रतिवर्ष से अधिक न होगी। जो कर, शुल्क, उपकर या फीस, इस संविधान से ठीक पहले किसी राज्य की सरकार द्वारा, अथवा किसी नगरपालिका या अन्य स्थानीय प्राधिकारी या निकाय द्वारा उस राज्य, नगर, जिला अथवा अन्य स्थानीय क्षेत्र के प्रयोजनों के लिये विधिवत् उगृहीत किये जा रहे थे, वे कर, शुल्क, उपकर या फीस संघ सूची में वर्णित होने पर भी उगृहीत किये जाते रहेंगे तथा उन्हीं प्रयोजनों के हेतु उपयोग में लाये जा सकेंगे जब तक कि संसद्

विधि द्वारा इसके प्रतिकूल उपबन्ध न करे । भारत सरकार जम्मू और काश्मीर, तिरुवांकुर कोचीन, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ, मध्य भारत, मैसूर, राजस्थान, विन्ध्य प्रदेश, सौराष्ट्र तथा हैदराबाद राज्यों के साथ कर उद्ग्रहण तथा संग्रह करने के लिये कोई करार कर सकेगी। इस प्रकार किया गया कोई करार अधिक से अधिक १० वर्ष की कालावधि तक प्रभावी होगा । राष्ट्रपति को अधिकार है कि करार से ५ वर्ष की अवधि के पश्चात् ऐसे किसी करार को समाप्त या परिवर्तन कर दे ।

इस संविधान के प्रारम्भ से दो वर्ष के भीतर और तत्पश्चात् प्रत्येक पंचम वर्ष की समाप्ति पर, अथवा उससे पहले ऐसे समय पर जिसे राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति आदेश द्वारा एक वित्त-आयोग गठित करेगा जो राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक सभापति और ४ अन्य सदस्यों से मिलकर बनेगा। संसद् विधि द्वारा उन अर्हताओं का, जो आयोग के सदस्यों के रूप में नियुक्ति के लिये अपेक्षित होंगी और उस रीति का जिसके अनुसार उनका संवरण किया जायगा, निर्धारण कर सकेगी। आयोग का यह कर्तव्य होगा कि वह निम्नलिखित बातों में राष्ट्रपति को सिपारिश करे:—

१—संघ तथा राज्यों के बीच में करों के शुद्ध आगम के वितरण के बारे में, तथा राज्यों के बीच ऐसे आगम के अंशों के बटवारे के बारे में:

२—भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्वो के सहायक अनुदान देने में पालनीय सिद्धान्तों के बारे में;

३—भारत सरकार और किसी राज्य की सरकार के बीच किये गये किसी करार के उपबन्धों के चालू रखने अथवा रूप भेद करने के बारे में;

४—सुस्थित वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा आयोग को सौंपे हुए किसी अन्य विषय के बारे में ।

आयोग अपनी प्रक्रिया (Procedure) निर्धारित करेगा तथा अपने कृत्यों के पालन में उसे ऐसी शक्तियाँ होंगी जो संसद् विधि द्वारा उसे प्रदान करे। राष्ट्रपति इस संविधान के उपबन्धों के अधीन वित्त-आयोग द्वारा की गई प्रत्येक सिपारिश को, उस पर की गई कार्यवाही के व्याख्यात्मक ज्ञापन के सहित, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा। संघ या राज्य किसी सार्वजनिक प्रयोजन के हेतु कोई अनुदान दे सकेगा, चाहे वह प्रयोजन ऐसा न हो कि जिसके विषय में यथास्थिति संसद् या उस राज्य का विधान-

मंडल, विधि बना सकता है। भारत की संचित निधि और भारत की आकस्मिकता-निधि की अभिरक्षा, ऐसी निधियों में धन का डालना, उनसे धन का निकालना, ऐसी निधियों में जमा किये जाने वाले धन से अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा या उसकी ओर से प्राप्त लोक-धन की अभिरक्षा, उनका भारत के लोक-लेखों में दिया जाना तथा ऐसे लेख से धन का निकालना तथा उपर्युक्त विषयों में से संसक्त या सहायक अन्य सब विषयों का विनियमन संसद् द्वारा निर्मित विधि से होगा। जब तक ऐसा उपबन्ध न किया जाय तब तक इनका संचलान राष्ट्रपति द्वारा निर्मित नियमों से होगा। इसी प्रकार राज्य की संचित निधि और राज्य की आकस्मिकता-निधि की अभिरक्षा आदि के सम्बन्ध में विधि बनाने का अधिकार राज्य के विधान-मंडल को दिया गया है। जब तक विधान-मंडल इस प्रकार का उपबन्ध नहीं बनाते तब तक इनका संचालन राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख द्वारा निर्मित नियमों से होगा। भारत सरकार या राज्य की सरकार द्वारा वसूल किये गये या प्राप्त राजस्व या लोक धन को छोड़कर, संघ या राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में नौकरी में लगे हुए किसी पदाधिकारी को उसकी उस हैसियत में; अथवा किसी वाद, विषय, लेखे या व्यक्तियों के नाम में जमा किये गये भारत के राज्य क्षेत्र के अन्दर किसी न्यायालय को प्राप्य या निक्षिप्त सब धन यथास्थिति भारत सरकार के लोक-लेखे में या राज्य के लोक-लेखे में डाले जायँगे।

किसी राज्य द्वारा अथवा राज्य के अन्तर्गत किसी प्राधिकारी द्वारा आरोपित सब करों से संघ की सम्पत्ति विमुक्त होगी। राज्य की सम्पत्ति और आय संघ के कराधान से विमुक्त होगी। संघ सरकार अथवा राज्यों की सरकार को उधार लेने की शक्ति प्रदान की गई है। भारत सरकार राज्य की सरकारों को उधार दे सकेगी। भारत के जल प्रांगण में, समुद्र के नीचे की सब भूमियाँ, खनिज तथा अन्य मूल्यवान चीजें संघ में निहित होंगी तथा संघ के प्रयोजनों के लिये धारण की जायँगी। भारत संघ के नाम से, भारत सरकार व्यवहार वाद ला सकेगी अथवा उसके विरुद्ध व्यवहार वाद लाया जा सकेगा तथा किसी राज्य के नाम से, उस राज्य की सरकार व्यवहार वाद ला सकेगी अथवा उसके विरुद्ध व्यवहार वाद लाया जा सकेगा। भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम अबाध होगा। संसद् विधि द्वारा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच अथवा भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग के भीतर व्यापार, वाणिज्य या समागम की स्वतन्त्रता पर ऐसे निबन्धन आरोपित कर सकेगी जैसे लोक हित में अपेक्षित हों।

अन्य राज्यों से आयात की गई वस्तुओं पर राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा कोई ऐसा कर आरोपित कर सकेगा जो उस राज्य में निर्मित या उत्पादित वैसी ही वस्तुओं पर लगता हो। राज्य का विधान-मंडल विधि द्वारा उस राज्य के साथ या भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन आरोपित कर सकेगा जैसे लोक-हित में अपेक्षित हों। ऐसे प्रयोजन के लिये कोई विधेयक या संशोधन राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना राज्य के विधान-मंडल में पुरःस्थापित या प्रस्तावित नहीं किया जायगा। यदि किसी देशी राज्य के शासक को भारत सरकार ने कोई राशि देने का आश्वासन दिया है तो यह धन भारत की संचित राशि पर आधारित होगा और इस पर कोई आय कर नहीं लिया जायगा। किसी देशी राज्य का कोई भाग किसी स्वायत्त राज्य (Autonomous State) में सम्मिलित कर लिया गया है तो वह राज्य उस कालावधि तक उस देशी राज्य के शासक को एक ऐसी राशि देता रहेगा जिसे राष्ट्रपति निर्धारित कर दे।

वर्तमान आय-व्यय

इस अध्याय के आरम्भ में वर्णन किया गया है कि बृटिश सरकार ने भारत की सम्पत्ति का किस प्रकार शोषण किया है और उसके कारण राष्ट्रीय सरकार को क्या क्या कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं। गत वर्ष भारत सरकार को १३० करोड़ रुपये की भोजन सामग्री विदेशों से मँगानी पड़ी थी। भारत सरकार की कुल आय ३०७ ७४ करोड़ रुपये थी और उसका कुल व्यय ३२२-५३ करोड़ रुपये था। अर्थात् सरकार को १४·७६ करोड़ रुपये की कमी पड़ी। इसे पूरा करने के लिये सरकार को कुछ नये कर लगाने पड़े हैं। सरकार ने, जनता की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए, उन्हीं वस्तुओं पर कर लगाया है जिनका उपयोग धनी अथवा व्यापारी वर्ग के लोग करते हैं। मोटर के तेल पर जो १२ आना प्रति गैलन टैक्स लगा हुआ था वह १५ आना प्रति गैलन कर दिया गया है। इससे सरकार को लगभग ढाई करोड़ रुपये की बचत हुई है। सुपारी पर जो १० आना सेर टैक्स लगता था वह १५ आना सेर कर दिया गया है। इससे एक करोड़ रुपये की बचत हुई है। सिगरेट का आयात कर १५ प्रतिशत और बढ़ा दिया गया है। जिससे ६० लाख रुपये की बचत हुई है। चीनी, मोटर टायर तथा बहुमूल्य कपड़ों पर कर की मात्रा पहले से अधिक कर दी गई है। इससे सरकार को कई करोड़ रुपये की बचत हुई है। देश की आन्तरिक व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण सरकार को एक बहुत बड़ी राशि अस्त्र-शस्त्र तथा सुरक्षा

पर व्यय करनी पड़ती है। गतवर्ष यह राशि १५७·३७ करोड़ थी। शरणार्थियों पर सरकार को लगभग ५३ करोड़ रुपये व्यय करने पड़े थे। भारत सरकार ने राज्यों को लगभग २७ करोड़ रुपया अनुदान के रूप में और ४६ करोड़ रुपया उधार के रूप में विकास योजनाओं के रूप में दिया था। अस्त्र-शस्त्र निर्माण सम्बन्धी कारखाने तथा मुद्रा निर्माण की संस्थाएँ भारत में ही होने के कारण पाकिस्तान में इसी तरह की संस्थाओं की स्थापना के लिये भारत सरकार ने ६ करोड़ रुपया पाकिस्तान सरकार को दिया।

ऐसी कठिन परिस्थिति में इतने बड़े व्यय का भार वहन करते हुए भी राष्ट्रीय सरकार ने कितने ही करों को बन्द कर दिया है तथा कुछ करों की मात्रा कम कर दिया है। पूंजी लाभ टैक्स, (Capital Gains Tax) जिससे भारत सरकार को एक करोड़ रुपये की हानि हुई है बन्द कर दिया गया है। इसके बन्द करने का उद्देश्य यह है कि देश में व्यापारिक संस्थाओं का उत्साह बढ़े। आय कर तथा अतिरिक्त आयकर की मात्रा कम कर दी गई है। इससे भारत सरकार को ५ करोड़ रुपये की हानि हुई है। सरकार की इस नीति को देखते हुए यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय सरकार अपनी आय-व्यय को इस प्रकार संतुलित करना चाहती है जिससे कर का भार उन्हीं व्यक्तियों पर पड़े जो इसे वहन कर सकते हैं। उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिये कम्पनियों तथा कल कारखानों को कितनी ही प्रकार की सुविधायें दी गई हैं। सरकार के इस वर्ष के बजट को देखते हुए यह पूरी आशा की जाती है कि देश की आर्थिक स्थिति शीघ्र ही सुधर जायगी। सरकार ने कुछ ऐसी लम्बी योजनाओं को भी अपने हाथ में लिया है जिनसे बड़े पैमाने पर उत्पादन में वृद्धि होगी। इन्हीं योजनाओं की पूर्ति के लिये उसे संयुक्त राष्ट्र संघ से ऋण भी लेना पड़ा है। भोजन और वस्त्र के उत्पादन की वृद्धि में तल्लीन होने के कारण ये योजनायें अभी मन्द गति से चलाई जा रही हैं।

अध्याय २०

शिक्षा

शिक्षा की आवश्यकता

मनुष्य अपने जीवन को सुखमय बनाने की चिन्ता में निमग्न रहता है। इसके लिये वह समाज को अपना साधन बनाता है। उससे अलग होकर वह सांसारिक सुख का अनुभव नहीं कर सकता। जब यही आवश्यकता सम्पूर्ण समाज की है तो उसके कार्यों तथा विचारों में एक प्रकार की समता लानी होगी। इसी के आधार पर मानव-समाज एकत्र होकर अपने सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है। इसी उद्देश्य से जो वस्तु सम्पूर्ण समाज को एक सूत्र में बाँधती है उसे शिक्षा कहते हैं। हम कुत्ते, बिल्ली तथा चिड़ियों की विचार-धारा से परिचित न होकर उनके सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकते। उनकी उन्नति-अवनति की प्रगति हमारी बुद्धि से बाहर की वस्तु है। यदि हमारे और उनके बीच में विचारों के आदान-प्रदान का कोई साधन होता तो मानव-समाज से बृहत् एक प्राणी समाज की स्थापना हुई होती। शिक्षा के कारण मनुष्य अपने आपको मानव-समाज का एक अंग समझता है। समाज में रहने तथा लोगों के साथ व्यवहार करने की सामग्री उसे प्रचलित शिक्षा से प्राप्त होती है। अपनी उन्नति के साथ वह समाज की प्रगति को जानने में अपने को समर्थ पाता है। शिक्षा उसकी मस्तिष्क शक्ति को इतनी व्यापक बना देती है जिससे एकान्त में बैठे हुए भी वह मानव-समाज को देखता है। शिक्षित मनुष्य के नेत्र दूर तक देखते हैं; उसके कान उड़ते हुए शब्दों को भी सुनते हैं और उसकी बुद्धि अदृश्य पर भी विचार कर सकती है।

शिक्षा मनुष्य के जीवन को सफल बनाने की कुंजी है। डेविडसन लिखता है, "शिक्षा द्वारा मनुष्य अपने अन्दर एक ऐसे संसार की रचना करता है जो उसे वाह्य संसार में रहने के योग्य बनाता है।"[1] शिक्षा द्वारा

१—Education consists in building up an inner world at fits into the outer world.

मनुष्य की आन्तरिक शक्तियाँ बाह्य जगत को भली भाँति पहिचानने लगती हैं। समय प्रति क्षण बदलता रहता है। जिसे इसका ज्ञान न होगा और जो समयानुकूल अपने विचारों को बनाने में समर्थ न होगा वह दुःख और कठिनाइयों के जाल से नहीं निकल सकता। शिक्षा समय के परिवर्तन का ठीक-ठीक ज्ञान कराती है। किस समय हमें कैसे विचार रखने चाहिये, किन वस्तुओं को प्राचीन समझ कर छोड़ देना चाहिये तथा किन पुरातन वस्तुओं को पुनः अपनाना चाहिये—इन सब का ज्ञान प्रचलित काल की शिक्षा द्वारा होता है। विचारों में पीछे रह कर जैसे कोई व्यक्ति अपनी और समाज किसी की भी भलाई नहीं कर सकता, उसी तरह कोई राष्ट्र अशिक्षित तथा कूपमंडूक रह कर दुनिया के सामने अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। जो देश अपनी उन्नति करना चाहता है वह उचित शिक्षा को ग्रहण करे। मनुष्य स्वभाव से ही रूढ़िवादी है। जिन वस्तुओं को वह एक बार ग्रहण करता है उन्हें वह छोड़ नहीं सकता। शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जो उसे प्रतिक्षण नवीनताओं का पाठ पढ़ाती रहती है। यह एक साधारण कहावत है कि "जिस जाति को जैसा बनाना है उसे उसी प्रकार की शिक्षा दी जाय।"

शिक्षा द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को भली भाँति पहचान सकता है। इसी से स्वावलम्बन तथा स्वाभिमान की उत्पत्ति होती है। उसके अन्दर एक ऐसी शक्ति पैदा होती है जो उसके जीवन को आगे बढ़ाती है। जिस युग में हम रहते हैं उसे समझने के लिये भूत और भविष्य की थोड़ी जानकारी आवश्यक है। शिक्षा द्वारा हम अपने आपको पहिचान सकते हैं कि सृष्टि के आरम्भ से हम कितनी दूर पर खड़े हैं। शरीर को सुडौल बनाने के लिये व्यायाम की आवश्यकता पड़ती है। हमारे मस्तिष्क में कुछ ऐसी शक्तियाँ मौजूद हैं जिनका विकास शारीरिक अवयवों से कम आवश्यक नहीं है। बाह्य पदार्थ हमें जितना सुख और आनन्द दे सकते हैं उससे कहीं बढ़कर सुख हमारे आन्तरिक विचार देते हैं। इन आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाने का एक मात्र साधन शिक्षा है। आत्मबल के सामने शारीरिक बल तुच्छ सी वस्तु है। अतएव हमारा ध्यान आन्तरिक विकास की ओर सबसे अधिक होना चाहिये। जीवन के आरम्भ में हमें जिस प्रकार की ट्रेनिंग मिलेगी उसी प्रकार के कार्य हम करते रहेंगे। इसीलिये शिक्षा में सबसे अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

जिस शिक्षा में इतने अधिक गुण हैं और जिसे हमारी उन्नति-अवनति

उचित शिक्षा

का मापदंड होने का श्रेय प्राप्त है उसकी बुराई से हमें बचना होगा। जिस प्रकार शरीर पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है और हमारी सारी रहन-सहन अपनी भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार बन जाती है, उसी प्रकार शिक्षा का प्रभाव हमारे जीवन पर बहुत ही गहरा पड़ता है। उल्टी और बुरी शिक्षा किसी देश को अवनति के गड्ढे में डाल सकती है। इसके विपरीत आवश्यकता और अनुभव के आधार पर दी गई शिक्षा किसी पिछड़े हुए देश को उन्नतिशील बना सकती है। यह कहना असम्भव है कि उचित शिक्षा का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है। प्रत्येक देश या समाज को विभिन्न प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है। एक ही समाज में व्यक्तियों की आवश्यकतायें भिन्न-भिन्न होती हैं। सबके विचार अलग-अलग होते हैं। इसी के अनुसार उचित शिक्षा का निर्माण किया जा सकता है। एक ही शिक्षा किसी समय उचित और किसी समय अनुचित हो सकती है। जैसे-जैसे हमारा विकास होता है उसी प्रकार शिक्षा में भी परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है।

उचित शिक्षा का स्वरूप निश्चित करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। हमें यह मालूम नहीं है कि किन-किन घटनाओं का प्रभाव हमारे जीवन पर किस प्रकार पड़ेगा, किस प्रकार की परिस्थिति का सामना हमें समय-समय पर करना होगा। हो सकता है कि किसी असाधारण परिस्थिति में पड़कर हमारे देशवासी आलसी और निरुद्यमी हो जायँ और उनके अन्दर आशा और उत्साह लेशमात्र भी शेष न रहे। उस अवसर पर हमारी शिक्षा का ढाँचा आजकल से भिन्न होगा। वर्तमान समय में हमारे देश की शिक्षा कोरी किताबी है। इसे प्राप्त कर लोगों के अन्दर रचनात्मक बुद्धि का विकास नहीं होता। देश के शिक्षित नवयुवक तथा नवयुवतियाँ बेकारी का शिकार बनती हैं। इसीलिये वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर टिप्पणियों की बौछार उड़ायी जाती हैं। यह बात सर्वसम्मति से मान ली गई है कि भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली समय के अनुकूल नहीं है। इस समय हमारे देश को एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है जो हमारे हाथों को चलायमान करे अर्थात् हमारी बुद्धि किताबी न होकर व्यावसायिक और रचनात्मक हो। उचित शिक्षा वह है जो व्यक्ति की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

उचित शिक्षा प्राप्त व्यक्ति को किसी और पर निर्भर करने की आवश्यकता नहीं है। जो शिक्षा समाज की आवश्यकताओं से परे होती

है वह नवयुवकों के अन्दर एक प्रकार का विकार पैदा करती है। जब शिक्षा का तात्पर्य समाज को सुखी और सम्पन्न बनाना है तो इसका विधान समय और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिये। उचित शिक्षा समयानुकूल बदलती रहती है। वाह्य तथा आन्तरिक कारणों से कभी-कभी सामाजिक संगठन ढीला पड़ जाता है। उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिये शिक्षा की प्रणाली बदलनी पड़ती है। उचित शिक्षा प्रतिबन्धों से रहित होती है। जो शिक्षा केवल थोड़े से लोगों के लिये ग्राह्य है उसकी उपयोगिता उतनी नहीं है जितनी उस शिक्षा की जिसका द्वार छोटे और बड़े सब के लिये एक-सा खुला हुआ है। उदाहरण के लिये हम अँगरेजी शिक्षा की ओर देखें। यह शिक्षा केवल थोड़े से धनीमानी लोगों के लिये किसी विशेष उद्देश्य से बनाई गई है। इसके वर्तमान ढाँचे को देखते हुये यह निश्चित है कि ६० प्रतिशत भारतीय इसे ग्रहण नहीं कर सकते। अतएव यह शिक्षा-प्रणाली उचित नहीं कही जा सकती। जो शिक्षा सब को इस बात का अवसर दे कि वे इसे प्राप्त कर अपने जीवन की समस्याओं को हल करें वही उचित शिक्षा कहलाने की अधिकारिणी है। जब हम किसी देश की समस्याओं को विकट देखें और उन्हें सुलझाने का कोई मार्ग दिखलाई न पड़े तो इसका निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि वहाँ उचित शिक्षा का अभाव है। जीवन के प्रश्न बड़े ही गम्भीर होते हैं। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किस वस्तु से और किन उपायों से हमारा जीवन सुखी बन सकता है। इस प्रश्न को सुलझाने में शिक्षा सबसे अधिक सहायक होती है, परन्तु उसका आकार बहुत ही अनुभव के साथ बनना चाहिये। शुभमूर्ति सरोजनी नायडू ने केन्द्रीय शिक्षा बोर्ड में भाषण देते हुये यह व्यक्त किया था कि "कोई भी शिक्षा-नीति हम क्यों न कार्यान्वित करें, किन्तु उसमें सत्य की दृढ़ता और घृणा-निवारण पर सबसे अधिक बल दिया जाय।"

शिक्षा में परिवर्तन — हमारे देश में शिक्षा के इतिहास को देखते हुये यह पता चलता है कि इसमें परिवर्तनों की कोई गणना नहीं की जा सकती। एक ऐसा समय था जब कि यहाँ की शिक्षा बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी, उसका द्वार सबके लिये खुला हुआ था। राजा-महाराजा विद्वानों का आदर करते थे; शिक्षित वर्ग अपने आपको समाज का सेवक समझता था। परन्तु एक ऐसा भी समय आया जब पुस्तकालय जलाये गये; पुरानी पाठशालाओं का अवशेष जाता रहा। किसी समय हमारे देश का एक-एक घर स्कूल था, प्रत्येक मन्दिर

तथा मसजिद शिक्षा का केन्द्र था लेकिन आज वह दिन भी हमें देखने पड़ रहे हैं जब कि हमारे देश में केवल १५ प्रतिशत आदमी लिख-पढ़ सकते हैं। कभी तो हमारी शिक्षा धर्म से मिली हुई थी और कभी उससे अलग। कभी हमारे देश के शिक्षित व्यक्ति समाज के सेवक रहे और कभी उन्हीं के व्यसन से जनसाधारण को कष्ट उठाने पड़े। कभी शिक्षित व्यक्तियों का आचरण आदर्श माना जाता था और समाज में उन्हें हर तरह की सुविधायें प्राप्त थीं, लेकिन एक ऐसा भी दिन आया जब पढ़े-लिखे लोग चरित्रहीन, निरुद्यमी और भार-स्वरूप समझे जाने लगे। किसी समय हमारे देश के पढ़े-लिखे लोगों को भारतीय सभ्यता पर गर्व था लेकिन आज वह दिन भी हमें देखने पड़ते हैं जब कि शिक्षित वर्ग अपनी सभ्यता की जड़ अपने ही हाथों से काट रहा है। किसी समय ऋषि-महर्षियों के आश्रम विद्या के केन्द्र कहलाते थे और किसी समय कालेज और विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े विशाल भवन बनवाए गए। इतना परिवर्तन किसी सभ्य देश के इतिहास में शायद ही मिलेगा।

प्राचीन भारत में शिक्षा

जिस भारत की चर्चा विदेशों में की जाती है उसका चित्र आजकल से भिन्न है। यहाँ की सभ्यता की प्रशंसा विदेशियों ने मुक्त कंठ से की है। यह तो सभी जानते हैं कि किसी देश को सभ्य बनाने का मूल कारण वहाँ की शिक्षा है। हिन्दूकाल की शिक्षा प्रणाली में कुछ ऐसी विशेषतायें पाई जाती हैं जो संसार के किसी भी देश में दिखाई नहीं पड़तीं। व्यक्ति का संपूर्ण जीवन चार भागों में बाँट दिया गया था। आरम्भ के पहले २५ वर्ष केवल शिक्षा प्राप्त करने के लिये रक्खे गये थे। ६ वर्ष की आयु में ही माता-पिता बच्चे को किसी गुरु के पास छोड़ देते थे। गुरु का स्थान ही गुरुकुल कहलाता था। यह प्रणाली ब्राह्मणकाल में प्रचलित थी। २५ वर्ष की आयु तक बच्चे को गुरु के पास रहकर शिक्षा-प्राप्त करनी पड़ती थी। बौद्धकाल में इसका स्वरूप कुछ बदल गया। शिक्षा के लिये बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित किये गये। इन्हें विहार अथवा महाविहार कहते थे। इसमें किसी विशेष आयु तक लोग शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। प्रयाग में भारद्वाज ऋषि का आश्रम आजकल के किसी विश्वविद्यालय से कम न था। विहारों में गुरु के अतिरिक्त शिक्षित सन्यासी भी रहते थे। वे घूम घूम कर आस पास के गाँवों में लोगों को शिक्षा देते थे। नालन्दा महाविहार में १०,००० विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करते थे। उपरोक्त दोनों प्रणालियों में विद्यार्थियों की रहन-सहन पर कड़ी दृष्टि रक्खी जाती थी।

हिन्दूकाल की शिक्षा उपयोगी और सार्थक थी। आजकल की तरह वह विलासिता की सामग्री न थी। चारों वर्णों को उनकी आवश्यकतानुसार शिक्षा दी जाती थी। इससे समाज के धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संगठन में सदैव एकता रहती थी। जो व्यक्ति जिसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त होता वह उसी प्रकार की शिक्षा का भागी समझा जाता था। शिक्षालयों में धनी और गरीब का कोई भेद-भाव नहीं किया जाता था। कृष्ण और सुदामा की कहानी सबको ज्ञात है। विद्यार्थियों के खान-पान, व्यवहार तथा वेष भूषा की समानता को भी ध्यान रक्खा जाता था। जीवन के आरम्भ में विद्यार्थियों का ऐसा कठिन अभ्यास कराया जाता था जिसे प्राप्त कर वे किसी भी परिस्थिति में अपने आपको रख सकते थे। लड़कियों की शिक्षा लड़कों से भिन्न होती थी। दोनों की आवश्यकतानुसार उनके विषय भिन्न-भिन्न होते थे। लड़कों की शिक्षा का उद्देश्य उचित नागरिक बनाना था और लड़कियों को सुगृहिणी। इन दोनों की शिक्षा साथ साथ नहीं होती थी। इन दोनो के स्कूल अलग-अलग होते थे। शिक्षाकाल में जीवन की शुद्धता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। इसीलिये विद्यार्थियों को बार-बार घर आने का आज्ञा न थी। किसी विशेष अवसर पर वर्ष में एक बार वे किसी गुरु की अध्यक्षता में अपने घर जा सकते थे। गुरु और शिष्य के व्यवहार आजकल के से न थे।

प्राचीन शिक्षा एकाङ्गी न थी। साहित्य, न्याय, धर्म, दर्शन, राजनीति इत्यादि विषयों के अतिरिक्त विद्यार्थियों को कलाकौशल का भी ज्ञान कराया जाता था। संगीत, पच्चीकारी और वास्तुकला में कितने ही विद्यार्थी इतने कुशल होते थे कि उनकी कीर्तियाँ अभी तक ऐतिहासिक स्थानों में पाई जाती हैं। अजन्ता की गुफा में जो चित्रकारी दिखाई पड़ती है वह उस काल की शिक्षा का प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा का निर्माण समाज की आवश्यकताओं के आधार पर किया गया था। दैनिक आवश्यकताओं के सभी विषय विद्यार्थियों को सिखला दिये जाते थे। शिक्षालयों से निकल कर वे स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर सकते थे। कुछ विद्यार्थी विद्या में इतने निमग्न हो जाते कि उन्हें गार्हस्थ्य जीवन रुचिकर मालूम नहीं पड़ता था। ऐसे विद्यार्थियों के सम्पूर्ण जीवन के लिये विद्याध्ययन का विधान बनाया गया था। देश के विभिन्न स्थानों में विशेष प्रकार की शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया था। काशी में दर्शनशास्त्र, साहित्य तथा धर्म की विशेष शिक्षा दी जाती थी। वहाँ पर निःशुल्क शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियों को भोजन और वस्त्र भी दिया जाता था। तक्षशिला विश्वविद्यालय

में संस्कृत व्याकरण की विशेष शिक्षा दी जाती थी। इसी विश्वविद्यालय ने पाणिनि और कौटिल्य जैसे विद्वानों को पैदा किया था। कएव विश्व-विद्यालय में वेदों की विशेष शिक्षा दी जाती थी। उज्जैन में ज्योतिष की शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया था।

मुसलमानो काल की शिक्षा-प्रणाली हिन्दूकाल से कुछ भिन्न थी।

मध्ययुग की शिक्षा-प्रणाली

शिक्षा के मुख्य दो प्रकार के केन्द्र थे। एक को मकतब और दूसरे को मदरसा कहते थे। हर मसजिद में एक मकतब होता था। लगभग दस वर्ष की आयु तक हर एक मुसलमान का बच्चा इसमें शिक्षा ग्रहण करता था। यह शिक्षा अधिकतर धार्मिक होती थी। कुरान की आयतें सबको कण्ठस्थ करा दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त गणित, भूगोल और इतिहास का भी साधारण ज्ञान करा दिया जाता था। इन मकतबों का व्यय कुछ व्यक्तिगत चन्दे और दान से चलता था और कुछ सरकार देती थी। मुसलमानी काल में धर्म के नाते मसजिदों को सरकार की ओर से सहायता दी जाती थी। इसी सहायता से मकतब का व्यय चलाया जाता था। मकतब के अतिरिक्त जगह-जगह पर मदरसे खोले गये थे। इनमें उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। सरकार इन्हें सहायता देती थी। बदायूँ, आगरा, जौनपुर, दिल्ली, मुल्तान आदि शहरों में मदरसे खोले गये थे। इनमें केवल मुसलमान विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। हिन्दुओं की शिक्षा के लिये अलग संस्थायें स्थापित की गई थीं। सरकार की ओर से सहायता नहीं दी जाती थी। सेठ-साहुकारों की सहायता से इनका व्यय चलता था। पंडित लोग अपने घर पर विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। संस्कृत-शिक्षा की उन्नति के लिये सरकार की ओर से कोई उत्साह नहीं दिया जाता था। केवल थोड़े से इने-गिने बादशाहों को छोड़ कर हिन्दुओं की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किसी के समय में भी नहीं किया गया था।

मध्ययुग में मुगल बादशाह शिक्षा तथा कला-कौशल के विशेष प्रेमी थे। हुमायूँ बादशाह के पास बहुमूल्य पुस्तकों का भंडार था। अकबर स्वयं विद्वानों की मण्डली में बैठकर विद्या की चर्चा करता था। औरंग-जेब कवियों का सम्मान करता था। हुमायूँ की बहिन को लिखने का बड़ा चाव था। हुमायूँ नामा ग्रन्थ उसी का लिखा हुआ है। कला-कौशल में इन मुगल बादशाहों ने भारतीय इतिहास में जो स्थान प्राप्त किया है उसकी बराबरी संसार का कोई भी देश नहीं कर सकता।

जीवन के सभी क्षेत्रों में इन बादशाहों की अमर कीर्तियाँ देश के कोने-कोने में पाई जाती हैं। इन उद्धरणों से हमारा तात्पर्य इतना ही नहीं है कि भारतीय इतिहास का मध्यकाल योरप के मध्ययुग की तरह अशान्ति और कुव्यवस्था का युग नहीं था बल्कि देश में शिक्षा का प्रचार था; फारसी और अरबी के अच्छे-अच्छे विद्वान् इस काल में विद्यमान थे; समाज में विद्वानों का आदर था। विद्या के क्षेत्र में मुगल बादशाह जाति का पक्षपात कम करते थे। हिन्दी के धुरन्धर विद्वान् इसी काल में पैदा हुये। मुसलमान सूफियों ने हिन्दू और मुसलिम सभ्यता को मिलाने का जो सराहनीय प्रयत्न किया उसका प्रभाव आज भी दिखाई पड़ता है। मुसलमान युग की शिक्षा हिन्दू काल से भिन्न होते हुये भी एकता और समानता की विरोधी न थी। दोनों के सम्पर्क से एक नई सभ्यता का जन्म हुआ। अरबी और फारसी के गूढ़ रहस्य हिन्दुओं को और संस्कृत की गम्भीर बातें मुसलमानों को मालूम हुईं।

आधुनिक शिक्षा का विकास

ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद भारत की राजनीतिक परिस्थिति डावाँडोल होने लगी। इसका प्रभाव शिक्षा संस्थाओं पर बड़ा गहरा पड़ा। जब कम्पनी की दशा कुछ सुदृढ़ हुई तो उसे शिक्षा की ओर ध्यान देना पड़ा। कम्पनी को पहली आवश्यकता कर्मचारियों की थी। गोदाम और कारखानों में काम करने के लिये वह इंगलैंड से कर्मचारी नहीं बुला सकती थी। उसके पास इतना रुपया नहीं था कि वह छोटी-छोटी जगहों पर लम्बे-लम्बे वेतन वाले अँगरेजों को रखती। वारेन हेस्टिंग्ज का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। १७८१ ई० में उसने कलकत्ता-मदरसा नामक एक स्कूल खोला। इसमें विद्यार्थियों को फारसी की शिक्षा दी जाती थी। यह स्कूल केवल मुसलमानों के लिये था। १७९१ ई० में लार्ड कार्नवालिस ने बनारस में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की। इसमें केवल हिन्दू विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षा-संस्थाओं से कम्पनी को दो प्रकार के लाभ पहुँचते थे। एक तो कम-से-कम वेतन पर भारतीय क्लर्क मिल जाते, दूसरे पाश्चात्य निवासियों को पूर्वीय विचारों को समझने में सुविधा होती। कम्पनी के अधिकारी इन्हीं शिक्षालयों द्वारा भारत के रीति रिवाजों की जानकारी प्राप्त करते थे। इनके निकले हुये विद्यार्थी कम्पनी के न्यायालयों में मुकदमा निर्णय करने में भी उनकी सहायता करते थे।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त ईसाई मिशनरी भी शिक्षा का प्रचार करते थे। उनका उद्देश्य हिन्दू और मुसलमान दोनों को ईसाई बनाना था। हिन्दू समाज में इन मिशनरियों को किसी सीमा तक सफलता प्राप्त हुई। पैसे तथा पद के लोभ के कारण कितने ही व्यक्ति ईसाई होने लगे। परन्तु मुसलमानों ने अपने को इनसे अलग रक्खा। १८१३ ई० में पार्लियामेंट ने कम्पनी को एक चार्टर में यह आदेश दिया कि वह भारत की भलाई के लिये कम-से-कम एक लाख रुपया शिक्षा पर व्यय करे। अब तक जो शिक्षा कम्पनी की ओर से लोगों को दी जाती थी उसका माध्यम संस्कृत या फारसी था। परन्तु अब यह प्रश्न उठा की शिक्षा का माध्यम क्या हो। लार्ड मेकाले ने (१८३५ ई०) अपना विचार प्रकट करते हुये यह कहा कि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होना चाहिये। कुछ ईसाई मिशनरियों ने भी इसका समर्थन किया। राजा राममोहनराय ने भी इसका समर्थन किया। अन्त में लार्ड विलियम वेन्टिंग के समय में यह निर्णय किया गया कि शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होगा। इससे कम्पनी को शासन-प्रबन्ध में अनेक सुविधायें प्राप्त हुईं। साथ ही कम्पनी ने यह भी घोषित किया कि धार्मिक मामलों में उसकी नीति निष्पक्ष रहेगी।

१८१६ ई० में कलकत्ते में एक हिन्दू कालेज की स्थापना की गई। राजा राममोहनराय तथा डेविड हेयर के उद्योग से इसकी नींव डाली गई थी। १८१८ ई० में बंगाल में सिरामपुर नामक स्थान में पहिला मिशनरी कालेज खोला गया। १८५२ ई० में सर चार्ल्स उड की अध्यक्षता में पार्लियामेंट ने एक समिति इस बात के लिये नियुक्त किया जो भारतीय शिक्षा की जाँच करे। समिति ने अपनी रिपोर्ट में प्रारम्भिक, माध्यमिक और युनिवर्सिटी शिक्षा को अलग-अलग करने की सम्मति दी। सर चार्ल्स उड का कहना था कि सरकार अपने ही बनाये हुये कालेजों पर रुपया व्यय न करे। छोटे-छोटे स्कूलों तथा कालेजों को सहायता देने का भी नियम बनाया जाय। रिपोर्ट का यह परिणाम हुआ कि शिक्षा का एक अलग विभाग (Department of Public Instruction) बनाया गया। साथ ही अंगरेजी भाषा के साथ देशी भाषाओं को पढ़ने-पढ़ाने की सम्मति दी गई। इसी के फलस्वरूप १८५७ ई० में कलकत्ता, मद्रास और बम्बई नामक स्थानों पर तीन विश्वविद्यालय खोले गये। १८७८ ई० में भारत-सरकार ने शिक्षा का प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारों को दे दिया। परन्तु इसका व्यय केन्द्रीय सरकार से प्राप्त होता था। १८८२ ई० में इन्टर कमीशन की नियुक्ति की गई। इसने प्रारम्भिक शिक्षा की वृद्धि

पर बहुत ही बल दिया। लार्ड रिपन के समय में जब स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था की गई तो प्रारम्भिक शिक्षा का भार नगर-पालिका तथा जिला-मंडली को सौंप दिया गया।

१६०२ ई० में लार्ड कर्जन के समय में यूनिवर्सिटी कमीशन नियुक्त किया गया। इसकी रिपोर्ट के आधार पर १६०४ ई० में यूनिवर्सिटी ऐक्ट पास किया गया। इससे सरकार का अधिकार यूनिवर्सिटियों के ऊपर और कड़ा कर दिया गया। साथ ही इनका क्षेत्र निश्चित करके स्कूल तथा कालेजों पर इन्हें पूरा अधिकार दे दिया गया। १६१० ई० में भारत-सरकार ने एक शिक्षा विभाग बना कर इसका भार शिक्षा मेम्बर को सौंप दिया। इसका उद्देश्य प्रान्तीय सरकारों को शिक्षा में सलाह देना था। १६१७ ई० में भारत-सरकार ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन की नियुक्ति की। इसकी रिपोर्ट में यूनिवर्सिटी शिक्षा को फिर से संगठित करने का अच्छा विवरण दिया गया है। १६१६ ई० में भारतीय राजनीतिक सुधार के अनुसार शिक्षा का विषय पूर्णतया प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिया गया। केन्द्रीय सरकार इसमें किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। प्रान्तों में भारतीय मंत्रियों को यह विषय सौंप कर उन्हें इस बात का अवसर दिया गया कि वे अपनी आवश्यकतानुसार शिक्षा संस्थाओं में सुधार करें। १६२७-२८ ई० में एक कमीशन की नियुक्ति की गई। सरफिलिप हरटाग इसके सभापति नियत किये गये। इसका उद्देश्य भारतीय शिक्षा की जाँच करना था। समिति की रिपोर्ट में जो बातें कही गई उनसे हम लाभ उठा सकते हैं।

१६३७ में जब प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना हुई तो काँग्रेस का ध्यान शिक्षा-सुधार की ओर आकर्षित हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा में अनेक सुधार किये गये। प्रौढ़ तथा रात्रि पाठशालायें खोली गईं। जगह-जगह पुस्तकालय तथा वाचनालय स्थापित किये गये। शिक्षा के प्रचार के लिये शिक्षा-सप्ताह मनाने की योजना बनाई गई। माध्यमिक शिक्षा सुधार करने पर अभी विचार किया जा रहा था कि काँग्रेस सरकारों को त्यागपत्र दे देना पड़ा। फिर भी कितने ही प्रान्तों में हाई स्कूल तक की शिक्षा का माध्यम हिन्दी कर दिया गया। उत्तर प्रदेश की सरकार ने तो एफ० ए० में भी शिक्षा का माध्यम हिन्दी घोषित कर दिया। विद्यार्थियों को यह सुविधा दी गई कि वे प्रश्नों का उत्तर हिन्दी या उर्दू में भी दे सकते हैं। यूनिवर्सिटी शिक्षा पर भी काँग्रेस का ध्यान गया था। उत्तर प्रदेश में एक समिति इस पर विचार करने के लिये बनाई गई थी।

इन सुधारों के अतिरिक्त कॉंग्रेस का ध्यान बुनियादी शिक्षा की ओर दिलाया गया था। तब से यह नई योजना कितने ही राज्यों में काम में लाई जा रही है। यदि इस योजना में सफलता मिली और उपरोक्त सुधारों को कार्य रूप में परिणत किया गया तो शिक्षा में एक महान् क्रान्ति की सम्भावना है।

अभी तक शिक्षा की प्रगति का वह इतिहास वर्णन किया गया है जिसका सम्बन्ध एकमात्र सरकार से है, परन्तु इसके अतिरिक्त हमारे देश में अनेक सार्वजनिक संस्थायें शिक्षा के प्रचार में लगी हैं। इनका प्रयत्न सरकार की योजनाओं से कम महत्व नहीं रखता। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च श्रेणी की शिक्षा का प्रबन्ध करने में इन संस्थाओं ने सरकार को भी मात कर दिया है। कुछ तो साम्प्रदायिक भावनाओं के कारण और कुछ सेवा की लगन से आज कितनी ही शिक्षा-संस्थायें हरी-भरी दिखलाई पड़ रही हैं। हजारों लड़के और लड़कियाँ इनमें शिक्षा प्राप्त करती हैं। आर्य समाज ने शिक्षा को फैलाने में जो सफलता प्राप्त की है उसकी बराबरी किसी देश की सरकार भी नहीं कर सकती। शायद ही कोई जिला या नगर शेष हो जिसमें डी० ए० बी० स्कूल न हों। मुसलमानों के प्रयत्न से अलीगढ़ यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई। ईसाई मिशनरियों के कितने ही स्कूल आज चल रहे हैं। सिख और हिन्दुओं की कितनी ही शिक्षा-संस्थायें काम कर रही हैं। पण्डित मदन-मोहन मालवीय के प्रयत्न से हिन्दू यूनिवर्सिटी की स्थापना हुई है। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने शान्ति निकेतन और विश्व भारती की स्थापना की है। इनके अतिरिक्त संस्कृत की हजारों पाठशालायें और मुसलमानों के मकतब विद्यार्थियों को शिक्षा दे रहे हैं। अभी तक शिक्षा का जो विकास हमारे देश में हुआ है, उसका संक्षिप्त इतिहास यहीं समाप्त किया जाता है। वर्तमान शिक्षा किन-किन श्रेणियों में विभाजित की गई है और उसका प्रबन्ध किस प्रकार किया जाता है इसका वर्णन आगे किया गया है।

वर्तमान शिक्षा-संगठन

ऊपर कहा गया है कि १९१९ ई० में शिक्षा का पूरा प्रबन्ध राज्य की सरकारों को सौंप दिया गया। राज्य के मन्त्रि-परिषद् में शिक्षा मन्त्री इसका प्रधान होता है। इसका विभाग शिक्षा-विभाग कहलाता है। यह मन्त्री अपने कार्यों के लिये राज्य के विधान-मंडल के प्रति उत्तर-दायी होता है। शिक्षा मन्त्री के नीचे राज्य में एक शिक्षा-संचालक (Director of Education) होता है। इसका कार्य

राज्य के शिक्षा-विभाग के कर्मचारियों की देख रेख करना तथा शिक्षा-मन्त्री को उचित सम्मति देना है। प्रत्येक राज्य कुछ विभागों में बाँट दिया जाता है। हर विभाग का प्रधान रीजनल इन्सपेक्टर कहलाता है। इसकी सहायता के लिये असिस्टेन्ट इन्सपेक्टर तथा डिप्टी इन्सपेक्टर होते हैं। प्रत्येक जिले में एक डिस्ट्रिक्ट इन्सपेक्टर होता है। उसके नीचे सब-डिप्टी-इन्सपेक्टर्स होते हैं। योरोपियन स्कूलों की देख-रेख तथा संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षण के लिये अलग इन्सपेक्टर होते हैं। जो संस्थायें किसी विशेष कला अथवा कृषि आदि की शिक्षा देती हैं उनकी देख-रेख शिक्षा-विभाग से अलग उनसे सम्बन्ध रखने वाले विभागों द्वारा की जाती है। सरकार शिक्षा-संस्थाओं को कई प्रकार से सहायता देती है। कुछ को तो वह स्वयं चलाती है और कुछ को सहायता देती है।

वर्तमान शिक्षा तीन श्रेणियों में विभाजित की गई है :—प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा यूनीवर्सिटी। अब तक माध्यमिक शिक्षा का तात्पर्य दो प्रकार की संस्थाओं से रहा है, हिन्दी और अँगरेजी। हिन्दी के मिडिल तक की शिक्षा को माध्यमिक शिक्षा कहते रहे हैं। अँगरेजी में हाई स्कूल तक की शिक्षा भी माध्यमिक शिक्षा कहलाती थी। राष्ट्रीय सरकार ने इस तरह के भेदभाव को मिटा दिया है। कई राज्यों में शिक्षा का माध्यम हिन्दी घोषित कर दिया गया है। हिन्दी एक अनिवार्य विषय है। हिन्दी और अँग्रेजी स्कूलों का अन्तर भी हटा दिया गया। सभी स्कूल प्रारम्भिक, जूनियर हाई स्कूल तथा हाइयर सेकेन्ड्री स्कूल कहलाते हैं। माध्यमिक शिक्षा में हिन्दी और अँगरेजी स्कूलों में जो पाठ्यक्रम में अन्तर रहा है, वह भी दूर कर दिया गया है। इन तीनों श्रेणियों का वर्णन अलग-अलग किया गया है।

प्रारम्भिक शिक्षा

हमारे देश में शिशु शिक्षा का प्रायः अभाव है। यदि जड़ ठीक कर दी जाय तो सरकार का बहुत-सा धन व्यर्थ न होगा। साथ ही प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करने के बाद लोग अपने अध्ययन से कुछ लाभ भी उठा सकेंगे। शिशु शिक्षा का प्रबन्ध जिला-मंडली तथा नगर-पालिका करती हैं। कुछ तो अपनी आय से और कुछ राज्य की सरकार की सहायता से इनका व्यय चलता है। प्रारम्भिक शिक्षा कक्षा पाँच तक होती है। १९११ ई० में लेजिस्लेटिव कौंसिल में गोखले ने भाषण देते हुए कहा था कि प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। अनिवार्य

शिक्षा का विधान तभी सफल हो सकता है जब यह निःशुल्क कर दी जाय। पैसे की कमी के कारण सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया था। मद्रास राज्य में ६ से १० वर्ष की आयु तक कुछ विशेष जगहों में शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क की गई है। उत्तर प्रदेश और बम्बई में भी इसका अनुभव किया जा रहा है। कहीं-कहीं यह नियम लड़के और लड़कियों के लिये एक सा बर्त्ता जाता है।

प्रारम्भिक शिक्षा का निरीक्षण राज्य की सरकार के कर्मचारी करते हैं। राज्य के शिक्षा-विभाग द्वारा पाठ्य पुस्तक आदि निश्चित की जाती हैं। कहा जाता है कि प्रारम्भिक शिक्षा की बहुत-सी राशि व्यर्थ चली जाती है। हिसाब लगाने से पता चला है कि केवल १५ प्रतिशत लड़के प्रारम्भिक शिक्षा को समाप्त कर पाते हैं। अर्थात् ८५ प्रतिशत लड़कों पर जो धन व्यय किया जाता है वह व्यर्थ चला जाता है। कारण यह है कि प्रारम्भिक शिक्षा से कम दरजे पास करने पर विद्यार्थी को कोई लाभ नहीं पहुँचता। यहाँ तक कि इसे समाप्त करने पर भी कुशलता नहीं आती कि विद्यार्थी अपने दैनिक जीवन में कुछ सफलता प्राप्त कर सके। इस शिक्षा का आधार कोई-न-कोई व्यवसाय होना चाहिये। परन्तु अभी तक बच्चों को केवल पुस्तकीय ज्ञान कराया जाता है। बुनियादी शिक्षा में इस बात पर बल दिया गया है कि आरम्भ से बच्चों को हाथ के काम सिखाये जायँ। प्रारम्भिक शिक्षा में कृषि एक अनिवार्य विषय होना चाहिये। इस कक्षा तक उन्हीं अध्यापकों को नियुक्त करना चाहिये जो बाल-विज्ञान से परिचित हों। लेकिन आज-कल ऐसा देखा जाता है कि कम-से-कम पैसे देकर अयोग्य अध्यापक प्रारम्भिक स्कूलों में रक्खे जाते हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि एक स्कूल खोलने का अर्थ एक जेल को तोड़ना है। प्रारम्भिक शिक्षा लेने वाले विद्यार्थियों की संख्या भारत में १ करोड़ से ऊपर है। १९४७ ई० में प्रारम्भिक स्कूलों की कुल संख्या २ लाख से कुछ ऊपर थी।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा दो प्रकार की है। ६ से ८ तक जो हिन्दी की श्रेणियाँ हैं वे माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत गिनी जाती हैं। इनका प्रबन्ध स्थानीय संस्थायें करती हैं। हाई स्कूल तक की शिक्षा को भी माध्यमिक शिक्षा कहते हैं। इनका प्रबन्ध विभिन्न राज्यों में अलग-अलग ढंग से किया जाता है। कुछ राज्यों में ये स्कूल यूनिवर्सिटियों के अधिकार में रक्खे गये हैं। कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति तथा इनका पाठ्यक्रम आदि सब कुछ ये ही बनाती हैं। कुछ प्रान्तों में इनका प्रबन्ध एक बोर्ड द्वारा किया जाता

है। उत्तर प्रदेश में हाई स्कूल तथा इन्टरमीजियट के लिये एक अलग बोर्ड की स्थापना की गई है। यूनिवर्सिटियों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये हाई स्कूल दो प्रकार के होते हैं। कुछ को सरकार स्वयं चलाती है और शेष जनता द्वारा चलाए जाते हैं। परन्तु इनकी स्वीकृति प्रान्तीय सरकार के शिक्षा विभाग से लेनी पड़ती है। सरकार इन्हें कुछ सहायता भी देती है। इन स्कूलों का निरीक्षण इन्सपेक्टर तथा असिस्टेन्ट इन्सपेक्टर द्वारा किया जाता है। कुछ हाई स्कूल उन्नति करते-करते इन्टरमीजियट कालेज भी हो सकते हैं। परन्तु इसकी स्वीकृति बोर्ड से लेनी पड़ती है।

प्रायः प्रत्येक जिले में एक गवर्नमेंट हाई स्कूल होता है। कहीं-कहीं पर इसे इन्टरमीजियट कालेज भी बना दिया गया है। उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा का माध्यम हिन्दी है। इस शिक्षा के विषय में लोगों की अनेक सम्मतियाँ हैं। कुछ लोगों का कहना है कि माध्यमिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो विद्यार्थी के अन्दर सभी व्यावहारिक बातें बैठा दे। संसार के अन्य देशों में इस श्रेणी तक के विद्यार्थी अपने आपको पूर्ण समझते हैं। हमारे देश में हाई स्कूल पास लड़कों को साधारण व्यावहारिक बातों का भी ज्ञान नहीं होता। पुस्तकीय ज्ञान पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। जब तक शिक्षा का माध्यम अँगरेजी था इन स्कूलों से निकले हुये विद्यार्थी भारतीय वातारण के सर्वथा अयोग्य होते थे। परन्तु इधर थोड़े दिनों से कुछ सुधार के कारण इसमें थोड़ी उन्नति दिखाई पड़ती है। फिर भी इसका स्वरूप सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता। माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ करने वाले ७५ प्रतिशत विद्यार्थी इसी श्रेणी तक चल पाते हैं। इतनी बड़ी संख्या को देखते हुए यह नितान्त आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा बहुत ही सुलझी हुई होनी चाहिए। इसके बाद ही देश के अधिकतर नवयुवक जीवन में प्रवेश करते हैं। सुधार की जितनी आवश्यकता यूनिवर्सिटी-शिक्षा में है उससे कहीं अधिक आवश्यकता माध्यमिक शिक्षा में है।

यूनिवर्सिटी शिक्षा

शिक्षा की सबसे ऊँची चोटी यूनिवर्सिटी कहलाती है। इस समय भारत में कुल १६ यूनिवर्सिटियाँ हैं। कानपुर, गोरखपुर तथा बनारस में भी नई यूनिवर्सिटी खोलने पर विचार किया जा रहा है। कुछ कालेजों को यूनिवर्सिटी की शिक्षा की बराबरी में लाया जा रहा है। लखनऊ तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी को वैज्ञानिक शिक्षा के लिये बढ़ाया जा रहा है। पाठकगण यह भी याद रक्खें कि जापान में जिसकी जनसंख्या बंगाल

से कुछ ही अधिक है, ४६ यूनिवर्सिटियाँ हैं। केवल टोकियो शहर में १८ यूनिवर्सिटी हैं। १८५७ ई० में पहले-पहल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में ३ यूनिवर्सिटियाँ बनाई गई। इसके बाद १८८२ में पंजाब यूनिवर्सिटी, १८८७ में इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९१६ में बनारस तथा मैसूर यूनिवर्सिटी, १९१७ में पटना यूनिवर्सिटी, १९१८ में उस्मानिया यूनिवर्सिटी, १९२० में अलीगढ़ और लखनऊ यूनिवर्सिटी, १९२१ में ढाका यूनिवर्सिटी, १९२२ में दिल्ली यूनिवर्सिटी, १९२३ में नागपुर यूनिवर्सिटी, १९२६ में आन्ध्र यूनिवर्सिटी, १९२८ में आगरा यूनिवर्सिटी, और १९२९ में अनामली यूनिवर्सिटी की नींव पड़ी।

यूनिवर्सिटियाँ अपने प्रबन्ध के लिए सभी प्रकार से स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक यूनिवर्सिटी का प्रधान चान्सलर कहलाता है। यह प्रायः राज्य का राज्यपाल होता है। इसके नीचे वाइसचान्सलर होता है। यह पदाधिकारी यूनिवर्सिटी की कार्यपालिका द्वारा चुना जाता है। सारा प्रबन्ध सिनेट द्वारा किया जाता है। ये यूनिवर्सिटियाँ दो प्रकार की होती हैं। कुछ तो केवल परीक्षायें लेती हैं, उनमें पढ़ाई नहीं होती। शेष यूनीवर्सिटियाँ पढ़ाई का भी प्रबन्ध करती हैं। कुछ वर्षों से यूनिवर्सिटी-शिक्षा विलासिता की एक कुंजी समझी जाने लगी हैं। जिनके पास पैसे हैं वे अपना समय व्यतीत करने के लिये वर्षों उसमें पड़े रहते हैं। विद्यार्थी और अध्यापक पढ़ने-पढ़ाने पर उतना ध्यान नहीं देते जितना वेष-भूषा और मनोरंजन पर। ऊँची शिक्षा का उद्देश्य जहाँ सरलता और चरित्र संगठन ठहराया गया था वहीं आज विलासिता की सारी सामग्रियाँ इकट्ठी हो गई हैं। सारा वातावरण नौकरियों की चर्चा से ओत-प्रोत रहता है। सबकी इच्छा सरकारी विभाग में कोई-न-कोई पद प्राप्त करने की रहती है।

औद्योगिक शिक्षा

प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा यूनिवर्सिटी-शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियों को कुछ हाथ के काम सिखलाने के लिये भी स्कूल खोले गये हैं। कृषि की शिक्षा देने के लिये सभी राज्यों में स्कूल तथा कालेज स्थापित किये गये हैं। अन्धों, गूँगों और बाहरों के लिये भी स्कूलों का प्रबन्ध किया गया है। बड़े-बड़े नगरों में संगीतालय खोले गये हैं। डाक्टरी, इंजीनियरिंग, जंगल विभाग की शिक्षा देने के लिये अलग स्कूल और कालेज खोले गये हैं। हवाई जहाज तथा मशीनों की विशेष जानकारी के लिये अभी हाल में प्रबन्ध किया गया है। हमारे देश में औद्योगिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उनके सामने इन स्कूलों तथा कालेजों की संख्या

कोई महत्व नहीं रखती। इन कालेजों से निकले हुए विद्यार्थी नौकरी के अतिरिक्त हाथ के कामों से संकोच करते हैं।

विदेशों में भारतीय विद्यार्थी

कुछ भारतीय विद्यार्थी विदेशों में जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। १९३०-३१ में उनकी संख्या २१०६ थी। परन्तु १९३२-३३ में वह घट कर १९०० के लगभग हो गई। शिक्षा ग्रहण करने के लिये विदेशों में जाना कोई बुरा नहीं है। परन्तु जिस उद्देश्य से भारतीय विद्यार्थी विदेशों में जाते हैं वह एक-मात्र नौकरी है। अधिकतर विद्यार्थी इंगलैंड में जाते हैं। कहा जाता है कि विदेशों में शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों में भारतीय विद्यार्थी सबसे अधिक पाये जाते हैं। इनका उद्देश्य यह होता है कि वे इंगलैंड से कोई उपाधि लेकर जल्दी-से-जल्दी अपने देश को लौटें और किसी सरकारी विभाग में नौकरी करें। १५०० से अधिक विद्यार्थी इंगलैंड में अध्ययन करते हैं। यदि प्रत्येक विद्यार्थी का व्यय २५०० रुपये वार्षिक रख लिया जाय तो ३८ लाख के लगभग राशि प्रतिवर्ष इस पर व्यय की जाती है। हम यह न समझ बैठें कि अपने विषयों में विशेष अध्ययन करने के लिये ये विद्यार्थी विदेशों में जाने का कष्ट करते हैं। जिन विषयों का प्रबन्ध हमारे देश में हो सकता है उन्हें भी वे विदेशों में जाकर सीखते हैं। यदि इनके साथ विदेशियों का व्यवहार अच्छा होता तो कोई बुरा न था, परन्तु विदेशों की कितनी ही शिक्षा संस्थायें इन्हें प्रवेश तक की आज्ञा नहीं देतीं। उनमें रूप रंग तथा जाति का भेद-भाव किया जाता है। भारतीय विद्यार्थी जिन दर्जों को यहाँ से पास करके इंगलैंड में जाते हैं उन्ही में उनका प्रवेश किया जाता है। कुछ वर्षों से विदेशों में जाने की प्रथा कम हो चली है। यह भी हमारे देश का एक सौभाग्य है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् विदेशी उपाधियों की मनोवृत्ति कम हो गई। राष्ट्रीय सरकार दासता की इस भावना को उत्साहित नहीं करना चाहती। भारत सरकार ने यह घोषित कर दिया है कि जिन विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध इस देश में किया गया है उनके लिये विद्यार्थियों को विदेशों में जाने की अनुमति न दी जायगी। कुछ विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति देकर सरकार ने विदेशों में विशेष अध्ययन के लिये भेजा है। सरकार का विचार है कि जो देश विज्ञान में उन्नति कर गये हैं उनकी वैज्ञानिक शिक्षा से लाभ उठाना चाहिये। विद्यार्थियों के विदेशों में जाने से सांस्कृतिक समन्वय भी होता है। विदेशी विश्वविद्यालयों में भारतीय विद्यार्थियों का सम्मान किया

जाने लगा है। कितने ही विदेशी विद्यार्थी भारत में संस्कृत तथा दर्शन की शिक्षा के लिये आने लगे हैं। कुछ देशों ने भारत सरकार को विशेष रूप से लिखा है कि वह अपने देश के विद्यार्थियों को वहाँ भेजे। मशीनों की उन्नति तथा उद्योग-धन्धों के अनेक यन्त्रों का अध्ययन करने में भारतीय विद्यार्थियों को विदेशों में सुविधायें मिलने लगी हैं। भारत सरकार यह अनुभव करने लगी है कि जब तक कुछ बड़े बड़े कारखाने स्थापित न किये जायँगे तब तक कुटीर उद्योगों का प्रचार नहीं हो सकता। हमारे देश में यंत्र बनाने की कला का ज्ञान नहीं है। भारतीय विद्यार्थी इसी उद्देश्य से विदेशों में भेजे गये हैं कि वे यन्त्र उत्पादन का ज्ञान प्राप्त करें। यदि हमारे देश में मशीनें बनने लगें तो करोड़ों रुपया विदेशों में जाने से बच जाय, साथ ही उत्पादन में भी वृद्धि हो। वर्तमान वैज्ञानिक युग में यन्त्रों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यूनिवर्सिटी शिक्षा बहुत कुछ वैज्ञानिक उन्नति का केन्द्र बनाई जा रही है।

बुनियादी शिक्षा

अँग्रेजी शिक्षा के कुपरिणाम को देखते हुये हमारे राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान शिक्षा-सुधार की ओर आकर्षित हुआ। लोगों को यह मालूम पड़ने लगा कि शिक्षित लोगों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो गई है। परन्तु दूसरी ओर जब अशिक्षितों की संख्या पर ध्यान दिया गया तो पता चला कि ६० प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित हैं। केवल २½ प्रतिशत लोग अँग्रेजी पढ़ सकते हैं। यह बात लोगों को और खटकने लगी कि पढ़े-लिखे लोगों की संख्या दाल में नमक के बराबर होते हुये भी शिक्षित लोगों में इतनी बेकारी क्यों कर है। अन्त में यह बात निश्चित ठहराई गई कि जो शिक्षा हमारे देशवासियों को दी जा रही है उसकी हमें आवश्यकता नहीं है। वह हमें दास और अकर्मण्य बनाती है। जाकिर हुसेन की अध्यक्षता में एक समिति इस पर विचार करने के लिये बनाई गई। इसकी रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट की गई कि हमारी शिक्षा में उद्योग धन्धों का कोई स्थान नहीं है। सिद्धान्त की बड़ी-बड़ी बातें पढ़कर लड़कों की बुद्धि तो बढ़ जाती है, परन्तु उनके मस्तिष्क से क्रियात्मक शक्ति निकल जाती है। हाथ और पैर दोनों से वे बेकार हो जाते हैं। अतएव समिति ने बुनियादी शिक्षा को प्रारम्भ करने की सिफारिशें की।

बुनियादी शिक्षा का तात्पर्य व्यावहारिक ज्ञान से है। हमें जितनी आवश्यकता अपनी बुद्धि को बढ़ाने की है उससे बढ़कर आवश्यकता अपनी रोटी और वस्त्र की है। वह शिक्षा निरर्थक है जो हमारी साधारण आव

श्यकता की भी पूर्ति नहीं कर सकती। बुनियादी शिक्षा में शरीर के सम्पूर्ण अवयवों की उन्नति पर बल दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी को शरीर और मस्तिष्क दोनों से काम लेना चाहिए। जब हम ६ घन्टे अपने मस्तिष्क से काम लेते हैं तो कम-से-कम ४ घन्टे हमें शारीरिक परिश्रम भी करना चाहिये। प्रत्येक विषय का ज्ञान किसी व्यवसाय द्वारा कराना चाहिए। शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए। बुनियादी शिक्षा प्राप्त कर विद्यार्थी अपने पैर पर खड़ा हो सकता है। सारांश यह है कि उस ज्ञान से हमें कोई लाभ नहीं जिसे हम कार्य रूप में परिणत नहीं कर सकते। बुनियादी शिक्षा का प्रयोग किया जा रहा है। काँग्रेस सरकारों ने इसकी सफलता पर काफी बल दिया था और आज भी यह योजना कार्यान्वित की जा रही है। भविष्य में इसे कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी यह नहीं कह सकते।

स्त्री-शिक्षा

हमारे देश में स्त्री-शिक्षा का कभी भी अभाव नहीं रहा है। इतना अवश्य है कि उनकी शिक्षा पुरुषों से भिन्न रही है। इधर कुछ वर्षों से स्त्रियाँ भी कालेजों और यूनिवर्सिटियों में जाने लगी हैं और उनकी संख्या काफी बढ़ रही है। बड़े-बड़े नगरों में महिला-विद्यापीठ, सेवा-सदन, शिल्प-भवन आदि खोले गये हैं। जिला-मंडली तथा नगर-पालिका भी लड़कियों की शिक्षा पर बल देने लगी हैं। आर्य समाज ने स्त्रियों की शिक्षा के लिये कन्या-गुरुकुल स्थापित किया है। इतना प्रयत्न करने पर भी अभी तक स्त्रियाँ केवल ३ प्रतिशत पढ़ी लिखी हैं। कुछ तो पर्दे के कारण और कुछ धनाभाव से शिक्षा प्राप्त नहीं कर पातीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियों की शिक्षा पुरुषों से कहीं आवश्यक है, परन्तु दोनों की शिक्षा में अन्तर होना चाहिये। दोनों की आवश्यकतायें अलग-अलग हैं। समाज के दोनों दो अंग हैं। एक का क्षेत्र बाह्य उद्योग है और दूसरे का कुटुम्ब को सुखमय बनाना। इसलिये दोनों को एक ही प्रकार की शिक्षा से समाज को हानि के बदले कोई लाभ नहीं हो सकता। अंगरेजी शिक्षा के प्रचार से हमारे कुटुम्बों का संगठन विकृत हो गया है। स्त्रियों की शिक्षा का सम्बन्ध गृह-प्रबन्ध और शिशुपालन से होना चाहिये। कोरा पुस्तकीय ज्ञान उन्हें पुरुषों से अधिक हानि पहुँचायेगा। पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण से हमें काफी हानि उठानी पड़ी हैं। शिक्षा हमारे जीवन का आधार है। इसके सभी पाये अपनी भौगोलिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं पर टिकने चाहिये। हमारी वर्तमान आवश्यकता उद्यमी

और कार्यशील बनने की है। अंगरेजी शिक्षा ने हमें काहिल और निष्क्रिय बनाया है।

शिक्षा में सुधार की आवश्यकता

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली केवल बौद्धिक है। स्वास्थ्य को खोकर मस्तिष्क को बढ़ाया जाता है। इसमें पहिला सुधार यह होना चाहिये कि शारीरिक परिश्रम को स्थान दिया जाय। इससे कार्य का महत्व बढ़ेगा और बेकारी भी दूर होगी। उद्योग-धंधों से सम्बन्ध रखने वाले तरह-तरह के स्कूल और कालेज खोले जायँ। इनमें विद्यार्थियों को ऐसी व्यावहारिक शिक्षा दी जाय जिसके द्वारा वे अपनी जीविका सरलता पूर्वक कमा सकें। ऊँची शिक्षा पर जो राशि व्यय की जा रही है उसे कम किया जाय और वह धन गाँवों में छोटे-मोटे उद्योग-धन्धों की वृद्धि में लगाया जाय। जितनी शिक्षा-संस्थायें आज नगरों में खुली हुई हैं उनसे रुपये और समय की हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। शिक्षा-विभाग को चाहिये कि अधिकतर स्कूल गाँवों में खोले और कृषि उनमें एक अनिवार्य विषय हो। सरकार हाथ के कामों का मूल्य उतना ही समझे जितना बौद्धिक कामों का। हमारे समाज में यह कमी है कि एक हाई स्कूल पास क्लर्क १०० रुपये मासिक पाये और दिन भर दौड़ने वाले चपरासी को भर पेट भोजन भी न मिले। यदि शिक्षा में परिश्रम को स्थान दिया जाता तो यह अन्तर नहीं रहता।

शिक्षा लोगों को आवश्यकतानुसार मिलनी चाहिये। वर्तमान परिस्थिति को देखते हुये 'शिक्षा ज्ञान के लिये' वाला सिद्धान्त नहीं चल सकता। शिक्षित वर्ग की भयकर बेकारी इस बात को पुकार कर रही है कि शिक्षा में एक महान् क्रान्ति की आवश्यकता है। राज्य की सरकार को जनता की आवश्यकता जाननी चाहिये और उसकी संतान को वही शिक्षा देनी चाहिये जो उन्हें वर्तमान आर्थिक संकट से निकाल सके। किसी भी विद्यार्थी को तब तक कोई प्रमाण पत्र न दिया जाय जब तक उसे कम-से-कम एक उद्योग का पूरा ज्ञान न हो। सूत कातने से लेकर महल बनाने तक का काम उसे सिखाया जा सकता है। लड़के और लड़कियों की शिक्षा के पाठ्यक्रम अलग-अलग हों; दोनों को दो प्रकार की शिक्षा दी जाय। प्रचलित विषयों का साधारण ज्ञान दोनों को कराया जाय, परन्तु इनकी आवश्यकताओं और उत्तरदायित्व को देखते हुये इनके स्कूल एक दूसरे से अलग हों और उनमें भारतीय वातावरण की पुट हो।

अध्याय २१

सेना, आरक्षक और कारागार

बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना तथा आन्तरिक शान्ति रखना सरकार का प्रमुख कर्तव्य है। जो सिद्धान्तवादी

रक्षा और शान्ति

सरकार के कर्तव्यों को न्यूनतम स्तर पर मानते हैं उनकी सूची में भी ये कर्तव्य प्रथम स्थान रखते हैं। यदि देशवासी बाह्य आक्रमण से भयभीत रहते हैं और उनकी सरकार उन आक्रमणों को रोकने में अपने को असमर्थ पाती है तो इसका प्रभाव देश की आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति पर बुरा पड़ता है। न तो ऐसी स्थिति में देश का उत्पादन बढ़ सकता है और न विभिन्न प्रकार के संगठन बनाये जा सकते हैं। व्यापारी एवं व्यवसायी अपनी पूंजी तभी लगाते हैं जब उन्हें सुरक्षा और लाभ की आशा दिखाई पड़ती है। आक्रमण के भय से कोई भी नागरिक स्थिर बुद्धि से कार्य नहीं करता। देश की पाशविक शक्तियाँ इस अशान्त वातावरण से अनुचित लाभ उठाती हैं। चोरी, डाका, लूट-खसोट —इनकी मात्रा बढ़ जाती है। सरकार के सामने आन्तरिक शान्ति का विकट प्रश्न उपस्थित हो जाता है। अपराधों की संख्या बढ़ जाने से शासन प्रबन्ध ढीला पड़ जाता है। शिक्षा तथा सांस्कृतिक उन्नति से सम्बन्धित संस्थायें छिन्न भिन्न हो जाती हैं। चित्त अशान्त होने से लोगों का मन अध्ययन अध्यापन में नहीं लगता। देश की उन्नति के लिये सरकार कोई बड़ी योजना कार्यान्वित नहीं कर सकती। उसकी दुर्बलताओं से लाभ उठाकर नागरिक उसका सहयोग नहीं करते और उसे पर्याप्त साधन भी उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि इसका कुपरिणाम नागरिकों को स्वयं भोगना पड़ता है, फिर भी सरकार की बागडोर ढीली हो जाने से उनकी बुद्धि मन्द पड़ जाती है। इसीलिये देशवासियों को, चाहे वे किसी भी पक्ष के क्यों न हों, सरकार की टीका-टिप्पणी वहीं तक करनी चाहिये जहाँ तक वह उसे सुदृढ़ बनाती है। उसे दुर्बल एवं कलंकित करने के लिये जो आलोचनायें की जाती हैं वे राष्ट्रीय हित के विरुद्ध होती हैं।

बाह्य आक्रमणों से रक्षा के लिये सरकार सदैव तत्पर रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के अनुसार वह रक्षा का साधन एकत्र करती है। उसे नवीन वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा अस्त्र शस्त्र की विभिन्न सामग्रियों का ध्यान रखना पड़ता है। वह देखती रहती है कि अन्य देशों की तुलना में उसकी रक्षा के साधन पिछड़े हुए तथा अपर्याप्त न हों। वर्तमान युग में प्रत्येक उन्नतिशील देश एटम बम तथा इससे भी भयंकर शस्त्र बनाने की तैयारी में हैं। उसका विश्वास है कि इसी से उसका राष्ट्रीय सम्मान बढ़ेगा और किसी महायुद्ध के छिड़ने पर उसकी विजय होगी। इसीलिये प्रत्येक राष्ट्र अपनी आय का बहुत बड़ा अंश शिक्षा तथा उद्योग-धन्धों पर व्यय न कर अस्त्र-शस्त्र पर व्यय करता है। इससे कई प्रकार की हानियाँ हैं और यह सब भार नागरिकों को ही सहना पड़ता है। थोड़ा समय भी व्यतीत नहीं होता कि एक विश्वव्यापी युद्ध की आशंका बनी रहती है। उन्नतिशील राष्ट्र अपनी शक्तियों का जो दुरुपयोग करते हैं उससे अन्य राष्ट्रों की भी हानि होती है। जो भी हो प्रत्येक राष्ट्र बाह्य रक्षा के निमित्त अपनी सैनिक शक्ति का संगठन करता है। सैनिकों को तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र दिये जाते हैं और समय-समय पर उनका प्रदर्शन किया जाता है। देश की सीमा पर रक्षा के प्रचुर साधन तैयार रखे जाते हैं। जल, थल तथा विमान बल में वृद्धि की जाती है। आन्तरिक शान्ति के लिये आरक्षक बल (Police Force) का संगठन किया जाता है। यह आरक्षक बल देश में इतने विस्तृत रूप से फैलाया जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति तथा गाँव की गति विधि की सूचना सरकार को मिलती रहे। इतने पर भी कुछ व्यक्ति आन्तरिक शान्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। उन्हें दण्ड देने के लिये न्यायालयों का संगठन किया जाता है और कारागार बनाये जाते हैं। सरकार अपनी इन दोनों शक्तियों से यह प्रभावित करना चाहती है कि कोई आक्रमणकारी अथवा देशद्रोही अपनी कुचेष्टाओं में सफल नहीं हो सकता। अवसर आने पर वह उन्नति एवं विकास की सभी योजनाओं को बन्द कर सकती है, परन्तु अपनी सैनिक एवं सुरक्षा की शक्ति में कमी नहीं कर सकती।

भारतीय सेना

भारत का वर्तमान सैनिक संगठन बृटिश शासन में निर्माण किया गया था। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ वह संगठन आज भी कार्य कर रहा है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा पाकिस्तान की स्थापना से इसमें जो उलट फेर की गई है, उसका सैनिक संगठन पर कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। फिर भी इसकी जानकारी के लिये बृटिश शासन के अन्तर्गत किये गये इसके संगठन

का इतिहास जानना आवश्यक है। लार्ड किचनर के समय में १९०४ ई० में सेना का संगठन नये सिरे से किया गया। सम्पूर्ण देश सैनिक संगठन के लिये ३ भागों में विभाजित कर दिया गया—उत्तरी कमान, पूर्वी कमान और पश्चिमी कमान। १९०७ ई० में इस विभाजन को दोषपूर्ण माना गया और इसे तोड़कर सम्पूर्ण सेना उत्तरी और दक्षिणी कमानों में बाँट दी गई। प्रत्येक कमान का एक अध्यक्ष (General Officer) नियुक्त किया गया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् १९१८ ई० में सेना का पुनः संगठन किया गया। दोनों कमान के अध्यक्षों के अधिकार बढ़ा दिये गये और उनके कर्मचारियों की संख्या में भी वृद्धि कर दी गई। १९२० ई० में कमानों की संख्या ४ कर दी गई और प्रत्येक का एक अध्यक्ष नियुक्त किया गया। १९३८ ई० में पश्चिमी कमान फिर तोड़ दिया गया। १९४७ ई० में, जब पाकिस्तान की स्थापना हुई, यह आवश्यक ठहराया गया कि भारत और पाकिस्तान दोनों ही अपनी सैनिक शक्ति पृथक् पृथक् रखें। रायल इन्डियन नेवी, इन्डियन आर्मी तथा रायल इन्डियन एयर फोर्स दोनों देशों में विभाजित कर दिये गये। इनका एक तिहाई पाकिस्तान को दिया गया और दो तिहाई भारत को मिला। पाकिस्तान ने इन तीनों शक्तियों का नाम रायल पाकिस्तान नेवी, पाकिस्तान आर्मी तथा रायल पाकिस्तान एयरफोर्स रख लिया। दोनों के सहयोग और बंटवारे के लिए एक सुप्रीम कमान्डर की नियुक्ति की गई। यह कार्य समाप्त हो जाने पर १९४८ ई० में संयुक्त रक्षा परिषद् (Joint Defence Council) तथा उसका पद समाप्त कर दिया गया।

भारत तथा बृटिश सम्राट की सरकार में एक सन्धि की गई कि शासन सत्ता हस्तान्तरित होने के पश्चात् बृटिश सेना भारत से हटा दी जायगी। इसके फलस्वरूप १७ अगस्त १९४७ को लगभग १५०० बृटिश सैनिक अपने देश को चले गये। २८ फरवरी १९४८ ई० तक सभी बृटिश सैनिक भारत से बिदा हो गये। भारत सरकार ने निर्णय किया कि अन्य सेवाओं की तरह सैनिक सेवा का भी राष्ट्रीयकरण किया जायगा। राष्ट्रीयकरण के लिये श्री गोपालस्वामी अयंगर की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई जिसने अपनी रिपोर्ट १९४७ के अन्त तक दे दी। सेना में अंग्रेज पदाधिकारियों की संख्या १९४८ ई० में सब से अधिक थी। इनकी कुल संख्या २५७ थी। धीरे-धीरे ये सभी पदाधिकारी अपने देश को चले गये। १५ जनवरी १९४९ ई० को अन्तिम बृटिश कमान्डर इन-चीफ एक भारतीय कमान्डर इन-चीफ को अपना कार्य भार देकर देश से बिदा हो गये। विशेष शिल्पी जानकारी के कारण लगभग १५० अंग्रेज पदाधिकारी आज भी

भारतीय सेना में कार्य कर रहे हैं। भारतीय विमान बल में एक भी अंग्रेज पदाधिकारी नहीं है। भारत सरकार ने लगभग एक दर्जन पदाधिकारियों को इस बल में उधार के रूप में नियुक्त किया है। जल सेना में भारतीय पदाधिकारियों का सर्वथा अभाव है। जानकारी के अभाव के कारण सेना के इस विभाग में बृटिश पदाधिकारियों से ही कार्य चलाया जा रहा है।

सम्पूर्ण भारतीय सेना भारत सरकार के रक्षा-मंत्री के अन्तर्गत रखी गई है। सैनिक प्रशासन के लिये कई समितियों का निमार्ण किया गया है। इन समितियों में रक्षा-मंत्री की समिति सबसे ऊपर है। कमान्डर इन-चीफ सेना विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी है। भारतीय सेना कई शाखाओं में विभाजित की गई है। संगठन की दृष्टि से सेना को ३ कमानों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक का प्रधान लेफ्टिनेन्ट जनरल कहलाता है। प्रत्येक कमान क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक क्षेत्र का कमान मेजर जनरल कहलाता है। प्रत्येक क्षेत्र छोटे क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक छोटे क्षेत्र का प्रधान ब्रिगेडियर कहलाता है। सेना का उत्तरी कमान पाकिस्तान सरकार को दे दिया गया है। पूर्वी पश्चिमी तथा दक्षिणी कमान भारत में स्थापित किये गये हैं। उत्तरी सीमा की रक्षा के लिये एक नये कमान की स्थापना की गई है जिसे दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब कमान कहते हैं। जम्मू और काश्मीर के युद्ध का संचालन यही कमान करता रहा है। १९४८ ई० में यह कमान पश्चिमी कमान के साथ जोड़ दिया गया। कहा जाता है कि भारतीय सेना का संगठन वैज्ञानिक नहीं है। इसीलिये जुलाई १९४८ ई० से एक समिति भारत सरकार की ओर से बनाई गई है जो सैनिक संगठन को वैज्ञानिक रूप देने पर विचार कर रही है। सेना में तीन श्रेणी के पदाधिकारी नियुक्त किये जाते हैं। पूना में एक नेशनल वार एकेडमी की स्थापना की गई है, जहाँ इन तीनों प्रकार के पदाधिकारियों को ट्रेनिंग दी जा रही है। सैनिक विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये जालन्धर, अजमेर, बेलगाँव तथा बंगलोर में पहले से ही संस्थायें कार्य कर रही हैं। देहरादून में भी एक सैनिक कालेज की स्थापना की गई है। सैनिक पदाधिकारीयों को विदेशी भाषाओं का ज्ञान कराने के लिये पहली फरवरी १९४९ ई० से दिल्ली में एक संस्था की स्थापना की गई है। प्राय. २०० पदाधिकारियों को उसमें फ्रेंच, चीनी, अरबी, जर्मन तथा रूसी भाषा सिखलाई जा रही है। सैनिक पदाधिकारियों को प्रशासन तथा शिल्पी ट्रेनिग देने के लिये पूना के निकट किरकी में एक संस्था की स्थापना की गई है। पूना में एक

सैनिक मेडिकल कालेज की भी स्थापना की जा रही है। विमान-बल में पदाधिकारियों की शिक्षा के लिये एक ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की जा रही है। जल सेना के पदाधिकारियों के लिये कोचीन में एक संस्था की स्थापना की गई है।

कुछ देशों में विद्यार्थियों के लिये सैनिक शिक्षा एक अनिवार्य विषय है। भारत सरकार ने भी राष्ट्र की रक्षा का ध्यान रखते हुए शिक्षा को एक अनिवार्य विषय निर्धारित किया है। हाई स्कूल के बाद सभी कक्षाओं में सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जायगी। देश की रक्षा का भार सभी नागरिकों पर समान रूप से है। जब तक देश के नवयुवक रक्षा सम्बन्धी विषयों का ज्ञान नहीं रखते तब तक आवश्यकता पड़ने पर वे सरकार की पूरी सहायता नहीं कर सकते। वर्तमान वैज्ञानिक युग में शारीरिक बल का महत्व नहीं के बराबर है। जब तक सैनिकों को शिल्पी शिक्षा न दी जायगी, उन्हें विदेशी भाषाओं का ज्ञान न कराया जायगा, नये शस्त्रों का उपयोग उन्हें न सिखाया जायगा, तब तक उनकी सेवाओं की रक्षा नहीं हो सकती। इसी ध्येय से तरह-तरह की संस्थाओं का निर्माण किया जा रहा है। भारतीय सेना में सैनिकों की संख्या क्या है अथवा अस्त्र-शस्त्र की मात्रा कितनी है—यह विषय गोपनीय है। कोई भी देश अपने इस गोपनीय विषय की जानकारी दूसरों को नहीं करा सकता। इससे विपक्षी देश अनुचित लाभ उठा सकते हैं।

आरक्षक (Police)

लोगों की यह धारणा गलत है कि आरक्षक का काम जनता को डरवाना और कष्ट पहुँचाना है। गाँवों में मातायें अपने बच्चों को 'सिपाही' कह कर डरवाती हैं। 'लाल पगड़ी' देखकर अब भी अशिक्षित ग्रामीण भय खाते हैं। इधर पिछली शताब्दी में आरक्षक का व्यवहार इतना बुरा था कि लोग इन्हें मनुष्य कोटि से बाहर गिनने लगे थे। घूसखोरी की बीमारी जितनी इस विभाग में चलती रही है उतनी सरकार के किसी भी विभाग में नहीं थी। आज भी, जब कि लोगों में राष्ट्रीय भावना काफी जाग्रत हो गई है, आरक्षक निर्दोष और सेवक की दृष्टि से नहीं देखे जाते। जब किसी गाँव में थाने के दारोगा या आरक्षक पहुँच जाते हैं तो लोगों को यह सन्देह हो जाता है कि देखें किसकी तलाशी होती है और कौन चोरों अथवा बदमाशों की सूची में सम्मिलित कर लिया जाता है। आरक्षक का किसी गाँव में जाना अशुभ समझा जाता है। पढ़े-लिखे लोगों का विचार है कि इस विभाग में देश के नवयुवक तो भर्ती किये

जाते हैं, परन्तु वे इतने अशिक्षित और संकुचित विचार के होते हैं कि इनसे लाभ के बदले हानि होती है। अधिकतर व्यक्ति रुपये कमाने की इच्छा से इसमें भर्त्ती होते हैं। चूँकी इनका सम्पर्क सीधे जनता से होता है, इसीलिये वे अपने अधिकारों का अनुचित लाभ उठाते हैं।

वास्तव में आरक्षक का काम रक्षा करना है। सरकार लोगों के धन-जन की रक्षा इसी विभाग द्वारा करती है। राज्य में अच्छे और बुरे सभी प्रकार के लोग होते हैं। आरक्षक का कर्तव्य है कि वह गुंडे तथा दुराचारियों पर कड़ी दृष्टि रक्खे। उसकी थोड़ी सी असावधानी से अशान्ति बढ़ सकती है। यदि यह विभाग इतना तत्पर और कठोर न हो तो अच्छे और भलेमानुष लोग सुख की नींद नहीं सो सकते। चोरी, व्यभिचार, डाका, फौजदारी अथवा किसी भी प्रकार का अपराध सबसे पहले आरक्षक के सामने आता है। इसी की जाँच पर न्यायालयों में वादविवाद और निर्णय किये जाते हैं। यदि इस विभाग के कर्मचारी अपने उत्तरदायित्व को समझें तो राज्य में दुष्ट लोगों की अनुचित कार्यवाहियाँ न हों। आरक्षक गाँवों और नगरों की रखवाली के लिये बनाये गये हैं। थोड़ा वेतन लेकर ८ और १० घन्टे तक पूरी वर्दी पहन कर इन्हें अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। इनकी नियमबद्धता बड़ी ही कठोर होती है। छिपी-से-छिपी कार्रवाइयों का इन्हें पता लगाना पड़ता है। चोर डाकुओं के गिरोहों का सामना करने के लिये इन्हें अपनी जान पर खेल जाना पड़ता है। राज्य के सभी व्यक्ति अपने प्रति किये गये अपराधों की रिपोर्ट पहले थानों में करते हैं। आरक्षक इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके हल्के में किसी प्रकार के लड़ाई-झगड़े न हों, कोई किसी को कष्ट न पहुँचाये और सब लोग सरकारी नियमों का पालन करें। जब कभी हम अपने पड़ोसी द्वारा सताये जाते हैं तो आरक्षक हमारी रक्षा करते हैं। यदि देश के पढ़े-लिखे लोग सेवा का थोड़ा भी भाव लेकर इस विभाग में सम्मिलित हों तो उनसे दीन-दुखियों की अधिक सेवा हो सकती है।

भारतीय आरक्षक का विकास

लार्ड कार्नवालिस पहला गवर्नर-जनरल था जिसने आरक्षक विभाग की नींव डाली। इसने जमींदारों को रक्षा और रखवाली के भार से मुक्त कर दिया। लेकिन उनके साथ जो इस्तमरारी बन्दोबस्त किया गया, उसमें इस विभाग का व्यय जोड़ दिया गया। हर जमींदार से भूमिकर के साथ कुछ राशि वसूल कर आरक्षक विभाग को दी जाती थी। कार्नवालिस ने १७९३ ई० में बंगाल प्रान्त के जिला-न्यायाधीशों

को आदेश दिया कि वे अपने-अपने जिले में हर ४०० मील की दूरी पर एक थाना बनावें। इससे जो अधिकार अब तक जमींदारों को मिले हुये थे वे सब जिले के कलेक्टर को दे दिये गये। प्रत्येक थाने में थानेदार और कुछ आरक्षक रक्खे गये। मुखिया और चौकीदार भी अपना काम करते रहे, परन्तु धीरे-धीरे इनके अधिकार कम होने लगे। कहने के लिये तो आज भी ये दोनों कर्मचारी बने हुये हैं और जब कभी थानेदार को किसी गाँव में आना पड़ता है तो इन दोनों से उसे सहायता मिलती है, लेकिन इनकी बातों का वह मूल्य नहीं रहा जो पहले था। विभिन्न प्रान्तों में इसका संगठन एकही साथ नहीं हुआ। मदरास में थामस मनरो ने १८१६ ई० में इसे संगठित किया। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों कम्पनी का राज्य बढ़ता गया, यह विभाग नये सिरे से संगठित होता गया। १८०१ से १८६० ई० तक सभी प्रान्तों में यह विभाग अच्छी तरह संगठित कर दिया गया। १८५७ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम ने अँगरेजों को सचेत कर दिया। उन्हें फिर इस बात का अनुभव हुआ कि इसका नये सिरे से संगठन किया जाय।

१८६० ई० के अगस्त के महीने में भारत-सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया। इसका काम सम्पूर्ण भारत के आरक्षक संगठन का अध्ययन करना था और इस पर अपनी सम्मति प्रकट करनी थी। १८६१ ई० में इसकी रिपोर्ट तैयार हुई और उसी आधार पर ऐक्ट बनाया गया जो बृटिश शासन के अन्त तक काम में लाया जाता रहा है। आरक्षक विभाग में संगठन का जो सिद्धान्त निश्चित किया गया वह आज भी प्रचलित है। आयोग की रिपोर्ट में एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि आरक्षक विभाग प्रान्तीय बना दिया जाय। इसी के अनुसार प्रत्येक प्रान्त में एक इंसपेक्टर-जनरल नियुक्त किया गया। पुलीस विभाग का यह सबसे बड़ा पदाधिकारी था। इससे नीचे हर जिले में एक सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस और सहायक सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस होते थे। ये तीनों पद केवल अँगरेजों को दिये जाते थे। थाने पर एक थानेदार और एक सहायक थानेदार रक्खे गये। कुछ आरक्षक भी रहते थे। १८०६ के आयोग ने इस बात की सिपारिश की थी कि हर एक मील के घेरे में एक थाना बनाया जाय अथवा एक हजार जनसंख्या के ऊपर एक थाना हो। सरकार ने इतने थानों की आवश्यकता न समझा और आज २५ या ५० मील तक के घेरे में इसकी संख्या एक रक्खी गई है।

१९०२ ई० में आरक्षक विभाग के पुनर्संगठन के लिये एक दूसरा

आयोग नियुक्त किया गया। इसकी रिपोर्ट में बहुत-सी नई बातों की सलाहें दी गई थीं। इनमें से कुछ बातें निम्नलिखित थीं :—

१—गुप्तचर विभाग की व्यवस्था की जाय।

२—भारतीय थानेदार बनाये जायँ।

३—हर जिले में आरक्षक भर्ती हों और उन्हें उचित ट्रेनिंग दी जाय।

रिपोर्ट की अधिकतर सलाहें मान ली गईं। लगभग सभी प्रान्तों ने इससे लाभ उठाया। वर्तमान आरक्षक संगठन इसी के अनुसार काम कर रहा है।

वर्तमान आरक्षक संगठन

आरक्षक विभाग अखिल भारतीय नहीं है। यह विभाग राज्य की सरकारों को सौंप दिया गया है। प्रत्येक राज्य में आरक्षक और कारागार विभाग की देख-रेख के लिये एक मंत्री होता है। अपने कार्यों के लिये वह राज्य के विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी है। शांति और रक्षा (Law and Order) विभाग के मंत्री को इसका उत्तरदायित्व दिया गया। राज्य का सबसे बड़ा आरक्षक पदाधिकारी इंसपेक्टर-जनरल (I. G.) कहलाता है। इसी की अधीनता में इस विभाग के कर्मचारी कार्य करते हैं। प्रत्येक राज्य कई भागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक भाग रेंज (Range) कहलाता है। रेंज का प्रधान डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल होता है। इन्सपेक्टर जनरल की अधीनता में यह कार्य करता है। एक रेंज में प्रायः ८ या १० जिले होते हैं। जिले में आरक्षक विभाग का प्रधान सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस (S. P.) कहलाता है। इसकी सहायता के लिये एक डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस रहता है। इन दोनों कर्मचारियों का उत्तरदायित्व दोहरा होता है। एक ओर तो ये इन्सपेक्टर-जनरल और डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल के प्रति उत्तरदायी होते हैं और दूसरी ओर जिले के कलेक्टर की सम्मति से कार्य करते हैं। सुपिरिन्टेन्डेन्ट पुलीस का कर्तव्य है कि वह जिले भर की शान्ति सम्बन्धी सूचना कलेक्टर को देता रहे। जहाँ कहीं कलेक्टर को आवश्यकता हो वह आरक्षक की सहायता ले सकता है। सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस उसकी आज्ञाओं को टाल नहीं सकता।

प्रत्येक जिला पाँच या सात क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। इन्हें सरकिल कहते हैं। हर सरकिल का प्रधान इन्सपेक्टर कहलाता है। एक सर्किल में ८ या १० थाने होते हैं। थाने का प्रधान सब-इन्सपेक्टर कहलाता

है। हर थाने पर एक मुंशी और मुहर्रिर होते हैं। इनका काम अपने क्षेत्र की रिपोर्ट लिखना और कागजों को रखना है। इनके अतिरिक्त वहाँ १० या १५ आरक्षक रहते हैं। चौकीदारों को यह आदेश दिया गया है कि वे अपने गाँवों की साप्ताहिक रिपोर्ट थाने में लिखवाते रहें। लगभग १०० वर्ग मील घेरे में एक थाने की व्यवस्था की गई है। जिले पर कुछ सुरक्षित आरक्षक रक्खे जाते हैं जिनकी संख्या २०० के आस-पास होती है। इनमें से कुछ आरक्षक हर समय सशस्त्र तैयार रक्खे जाते हैं। जब कहीं कोई आवश्यकता पड़ती है और थाने के आरक्षक पर्याप्त नहीं होते तो ये वहाँ भेजे जाते हैं। हर जिले में सरकारी कोष होता है जिसकी रक्षा का भार इसी सुरक्षित आरक्षक पर रहता है। आरक्षक की भर्ती जिले पर सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलीस द्वारा की जाती है। गत वर्ष आरक्षक तथा कारागार विभाग पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने लगभग ८ करोड़ रुपया व्यय किया था।

नगरों में कोतवाल होते हैं। इनकी अधीनता में कुछ आरक्षक और दस-बीस छोटे-छोटे थाने होते हैं। कलकत्ता, बम्बई और मदरास नगरों में आरक्षक का प्रधान पुलीस-कमिश्नर कहलाता है। यह इन्सपेक्टर-जनरल की अधीनता में नहीं होता। इसका सम्बन्ध सीधे राज्य की सरकार से होता है। रेलवे विभाग अपना अलग आरक्षक रखता है। इनका प्रबन्ध जिले की पुलीस से भिन्न होता है। यद्यपि इन दोनों का सहयोग रहता है, परन्तु इनके पदाधिकारी अलग-अलग होते हैं। खुफिया पुलीस (C. I. D.) का विभाग इन दोनों से अलग होता है। लार्ड कर्जन के समय में १९०३ में इसकी व्यवस्था की गई थी। इसके कर्मचारी डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल की अधीनता में कार्य करते हैं। इनका कार्य छिपी हुई बातों का पता लगाना और गुप्त संगठनों तथा अपराधों की सूचना देना है। सरकार इस विभाग में काफी विश्वास करती है, इसीलिये इसके कर्मचारी किसी भी व्यक्ति पर मुकदमे चला सकते हैं। सरकार को इनके द्वारा छोटी-छोटी बातों की सूचनायें मिलती रहती हैं। बहुत से अपराध इतने गुप्त रीति से किये जाते हैं कि वर्षों अपराधी का पता नहीं चलता। फिर भी इस विभाग के कर्मचारी तरह-तरह के उपायों से इन्हें खोज निकालने में समर्थ होते हैं।

जनता की रक्षा और भलाई के लिये सरकार ने आरक्षक का जाल-सा फैला रक्खा है। बीहड़ से बीहड़ जगहों में बसे हुये गाँव इससे बाहर

आरक्षक के अनुचित कार्य

नहीं रक्खे गये हैं। लेकिन पत्र-पत्रिकाओं[1] तथा कचहरियों में कुछ ऐसी बातें देखने में आती हैं जो मनुष्यत्व से बाहर होती हैं। कभी-कभी तो झूठे मुकदमे चलाकर लोगों को आरक्षक कष्ट देते हैं। शारीरिक यातनायें अभी तक लोगों को दी जाती हैं। हमारे देशवासियों की अशिक्षा और सादगी का अनुचित लाभ इस विभाग के कर्मचारी भलीभाँति उठाते हैं। जब कहीं कोई मामला हुआ तो उसकी जाँच आरम्भ होती है। आरक्षक अपनी सफाई के लिये तथा अपने उत्तर-दायित्व से बचने के लिये कितने ही निर्दोष आदमियों को फँसा देते हैं। इसके सैकड़ों उदाहरण विद्यमान हैं। यह सच है कि उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और लोग सरलता पूर्वक सच्ची बातों को खोल नहीं सकते, लेकिन इस स्वतन्त्रता और समानता के युग में सच्चे और भलेमानुष व्यक्तियों को अपराधी ठहराना सर्वथा अन्याय है। आरक्षक को इसे रोकना चाहिये। शिक्षा की वृद्धि से कालेजों और यूनिवर्सिटियों के उत्तीर्ण विद्यार्थी अब इस भाग में जाने लगे हैं। आशा है वे इन त्रुटियों को काफी अंश तक दूर कर सकेंगे।

उत्तर प्रदेश की सरकार ने आदर्श आरक्षक का भी प्रबन्ध किया है। लखनऊ जिले में यह योजना काम में लायी जा रही है। इसका उद्देश्य यह है कि जहाँ तक संभव हो लोगों को समझा बुझाकर अपराधों की संख्या कम की जाय। आरक्षक अपने को जनता का सेवक और उसी का एक अंग समझें। बृटिश शासन के अन्तर्गत जनता में आरक्षक के प्रति अविश्वास और भय उत्पन्न हो गया था। राष्ट्रीय सरकार उसे दूर करना चाहती है। आरक्षक विभाग में शिक्षा का माप दंड बढ़ा दिया गया है। सब-इन्स्पेक्टर होने के लिये कम से कम एफ० ए० तक की शिक्षा होनी चाहिये। साधारण आरक्षक के लिये लिखने पढ़ने की जानकारी आवश्यक है। उत्तर प्रदेश की सरकार आरक्षक विभाग का पुनर्संगठन करना चाहती है। कुछ नगरों में आरक्षक कार्य दो श्रेणियों में विभाजित कर दिये गये हैं। कुछ आरक्षक केवल रखवाली तथा रक्षा कार्य के लिये होते हैं और कुछ प्रशासन कार्य में सहायता देते हैं। आरक्षक के साथ जनता का सहयोग बढ़ रहा है। इस विभाग के कुछ पुरानी मनोवृत्ति के कर्मचारियों

---

[1] स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकारी कर्मचारियों का दृष्टिकोण बदल रहा है। आरक्षक के अनुचित कार्य अब दूर हो रहे हैं।

की शिकायतें आज भी सुनी जाती हैं। परन्तु सरकार ऐसे कर्मचारियों को बुरा समझती है।

कारागार

कारागार का ऐतिहासिक विकास

आधुनिक कारागार का इतिहास कोई पुराना नहीं है। बृटिश काल में इनकी नींव आज से १०० वर्ष पहले डाली गई थी। उससे पहले भी जेल थे, परन्तु उनका वर्णन करना हमारे विषय से बाहर की वस्तु है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि ऐतिहासिक युग में कोई भी ऐसा राजनीतिक प्रबन्ध नहीं मिलता जिसमें कारागार की व्यवस्था न रही हो। अपराधियों के दंड की व्यवस्था भिन्न-भिन्न होते हुये भी कारागार का वर्णन हर समय मिलता है। १८३६ ई० में एक समिति कारागार-सुधार के लिये बनाई गई। लार्ड मेकाले इसके एक सदस्य थे। १८६४ और १८८६ ई० में दो और समितियाँ नियुक्त की गई। १८९२ ई० में चौथी समिति फिर नियुक्त की गई। इन सबकी रिपोर्ट के आधार पर एक कारागार कानून (Prison Act) पास किया गया। इसी के अनुसार आजकल भारतीय कारागारों का संगठन किया गया है। आरक्षक की तरह यह विभाग भी उसके साथ ही राज्य की सरकार के अन्तर्गत रक्खा गया है।

वर्तमान संगठन

कारागार ३ प्रकार के होते हैं :—

१—केन्द्रीय जेल—इनमें लम्बी-लम्बी सजाओं के अपराधी रक्खे जाते हैं। एक साल से कम के अपराधी इनमें नहीं रक्खे जाते। इस प्रकार के कारागारों की वर्तमान संख्या ५१ हैं।

२—जिला-कारागार—प्रत्येक जिले में एक कारागार होता है। इनकी संख्या इस समय १८२ है। हर तरह के अपराधी इनमें रक्खे जाते हैं।

३—हवालात—इन जेलों में अधिकतर वे कैदी रक्खे जाते हैं जिनका मुकदमा कचहरियों में आरम्भ होता है। इनमें कोई भी अपराधी २४ घंटे से अधिक नहीं रखा जा सकता। इनकी संख्या ९७० है।

इनके अतिरिक्त जब कभी कैदियों की संख्या बढ़ जाती है तो सरकार कैम्प जेल स्थापित करती है। राज्य में जेल विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी

इंसपेक्टर-जनरल कहलाता है। यह प्रायः इंडियन मेडिकल सर्विस का सदस्य होता है। केन्द्रीय कारागार सुपरिन्टेन्डेंट की देख-रेख में रहते हैं। इसके नीचे जेलर तथा वार्डर आदि अनेक कर्मचारी होते हैं। जिला कारागार का प्रधान सिविल सर्जन होता है। वह नित्य इसका निरीक्षण करता है। जो कर्मचारी २४ घंटे कैदियों की देख-रेख करते हैं उनमें जेलर सर्वप्रधान होता है। उसके नीचे सहायक जेलर, वार्डर तथा अन्य छोटे-छोटे कर्मचारी होते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों से अलग रक्खी जाती हैं। एक ही कारागार में इनकी बैरेक पुरुषों से अलग होती है। इसकी देख-रेख के लिये स्त्रियाँ वार्डर नियुक्त की जाती हैं। जिन कैदियों को लम्बी सजाये दी गई होती हैं उन्हें प्रायः वार्डर आदि बना दिया जाता है और ३ या ४ रुपया मासिक वेतन भी दिया जाता है।

कारागारों का सुधार

लोगों की धारणा है कि भारतीय कारागार संसार के और देशों के कारागारों मे बुरे हैं। हमारे यहाँ कैदियों को पशु से भी निकृष्ट समझा जाता है। कारागार के कर्मचारी इन्हें सुधारने के बदले और बिगाड़ देते हैं। कैदी सुविधाओं की कमी के कारण चोरी, व्यभिचार तथा झूठ बोलने की आदत सीख जाते हैं। कारागार का तात्पर्य यह नहीं है कि वहाँ कैदियों को पशुओं की तरह कुछ दिन तक बाँध रक्खा जाय और अवधि पूरी होने पर उन्हें छोड़ दिया जाय। हमारे देश में इनका यही तात्पर्य समझा जाता है। यही कारण है कि अधिकतर व्यक्ति बार-बार अपराध करते हैं और कारागार उनका घर हो जाता है। लेकिन सरकार का यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि कुछ लोग इसे धर्मशाला या बैठक समझ लें। कारागार केवल सुधार की दृष्टि से बनाये जाते हैं। कुछ लोग अपने कर्त्तव्यों का पालन करना नहीं जानते। वे अपने जीवन में कुछ ऐसी भूलें करते रहते हैं जिनसे उनकी और दूसरों की हानि होती है। इसी से बचने के लिये उन्हें कारागार का दंड दिया जाता है। सुधार के अतिरिक्त यहाँ पर एक प्रकार की चेतावनी भी दी जाती है। कारागार का जीवन बहुत ही नियमित होता है। हर काम ठीक समय पर किया जाता है। खाना, सोना, नित्य कर्म, काम करना इत्यादि कामों के लिये ठीक समय निर्धारित होते हैं। उद्योग-धंधों के तरह-तरह के कार्य किये जाते हैं। कैदियों को इस बात का अवसर दिया जाता है कि वे तरह-तरह की कलायें सीख कर कारागार से बाहर निकलें और यदि चाहें तो उनसे अपनी जीविका कमा सकें। भारतीय कारागारों को अभी इतनी सफलता प्राप्त नहीं है।

राष्ट्रीय-आन्दोलन की वृद्धि के कारण सरकार को विवश होकर कारागारों के सुधार के ऊपर ध्यान देना पड़ा। जब राजनीतिक कैदी कारागारों में गये और उन्हें वहाँ की सारी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं तो उन्होंने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। १६१६ ई० में एक कारागार समिति भारत सरकार की ओर से बनाई गई। इसे यह कार्य सौंपा गया कि वह भारतीय कारागारों का निरीक्षण करके इस बात की रिपोर्ट दे कि इनमें किस-किस प्रकार के सुधार की आवश्यकता है। वास्तव में कारागार की यह पहली समिति थी। इसने बड़ी गहराई के साथ कारागारों का अध्ययन किया और सरकार को इस बात की सलाह दी कि भारतीय कारागारों की दशा बड़ी ही शोचनीय है। रिपोर्ट में कैदियों के सुधार के लिये कुछ नई नई योजनायें रक्खी गई थीं। इनमें से एक सलाह यह भी थी कि फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के कैदी अलग-अलग रक्खे जायँ। तनहाई और शारीरिक दण्ड देने की व्यवस्था को दूषित ठहराया गया था। कितने ही राज्यों ने इन सलाहों को स्वीकार किया और तदनुसार कारागारों में अनेक सुधार किये गये। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीय कारागारों की समस्यायें हल हो गईं।

हमारे देश के कारागार कैदियों का सुधार नहीं करते। उनके अन्दर उन्हें ऐसी शिक्षायें नहीं दी जातीं जिनसे वे अपने जीवन को सुधार सकें। जिस निर्दयता के साथ आँखें बन्द करके उनके साथ व्यवहार किये जाते हैं उन्हें सामने रखते हुये जीवन को सुधारने की अभिलाषा उनके हृदय से जाती रही है। कर्मचारियों की धौंस इतनी कड़ी होती है कि उनसे कुछ सीखने की बात असंगत हो जाती है। छोटी-छोटी भूलों के लिये तनहाई और चक्की का दंड दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सरकार ने कारागारों में कुछ व्यवसाय सिखलाने का प्रबन्ध किया है, परन्तु कारागार से निकल कर लोगों के पास इतने पैसे नहीं होते कि वे उन्हें अपनी जीविका का साधन बना सकें। अपराधी होने के नाते कैदियों को हम मनुष्य की कोटि से बाहर नहीं कर सकते। जिस प्रकार हमें मनोरंजन और विश्राम की आवश्यकता है उसी प्रकार कैदियों को भी वे मिलने चाहिये। इतनी सुविधायें तो दूर रहीं, गुड़ और मिर्चे के लिये भी भारतीय कैदी तरसते रहते हैं। जो तुला हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है उसके अन्दर न तो कोई स्वाद है और न पौष्टिकता।

१६३७ ई० में जब काँग्रेस ने मंत्रिपद ग्रहण किया तो उसका ध्यान

कारागारों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। उनकी कठिनाइयों का उन्हें पूरा-पूरा अनुभव था। उत्तर प्रदेश की काँग्रेस सरकार ने एक ऐसी सोसाइटी (Discharged Prisoners Aid Society) प्रत्येक जिले में स्थापित की जो छूटे हुये कैदियों की हर तरह से सहायता करे। सोसाइटी का प्रधान कार्यालय लखनऊ रक्खा गया। इसकी ओर से प्रतिमास एक पत्रिका जेल सुधारों पर निकाली जाती थी। कुछ विशेषज्ञों की एक समिति इस बात के लिये नियुक्त की गई जो कुछ ऐसे ढंग खोज निकाले जिनसे कारागारों का जीवन बदल दिया जाय। इसकी कुछ सलाहें तो तुरन्त मान ली गईं, परन्तु बड़ी-बड़ी बातों के लिये एक पंचवर्षीय योजना बनाई गई। समिति ने इस बात पर बल दिया कि कुछ ऐसे विशेष प्रकार के कारागार खोले जायँ जिनमें बार-बार अपराध करने वालों का सुधार किया जाय। कारागार के कर्मचारियों की ट्रेनिंग के लिये विशेष प्रबन्ध किया जाय। कारागारों में पंचायतें स्थापित की जायँ और अपढ़ सयानों को शिक्षा दी जाय। इस प्रकार की रायें इसी बुनियाद पर दी गईं कि जेल एक आध्यात्मिक संस्था होनी चाहिये और उसके चलाने वाले आध्यात्मिक पुरुष होने चाहिये। अमेरिका, इंगलैंड तथा अन्य देशों में कारागारों का उपयोग इसी दृष्टि से किया जाता है। कारागारों के सुधारने के लिये तथा कर्मचारियों को ट्रेनिंग देने के लिये उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक बहुत बड़ा कालेज स्थापित करने का विचार किया था। इसके लिये एक जगह चुन ली गई थी। रुपया भी स्वीकृत कर दिया गया और यहाँ तक कि उस कालेज के प्रिंसिपल की भी नियुक्ति हो गई थी। परन्तु इसी बीच में सरकार को त्याग-पत्र दे देना पड़ा था। काँग्रेस-सरकार फिर इस पर विचार कर रही है।

बच्चों के लिये कारागार की अलग व्यवस्था की गई है। मिर्जापुर जिले में बच्चों का एक कारागार स्थापित किया गया है। अवयस्क व्यक्ति इन्हीं कारागारों में रक्खे जाते हैं और उन्हें उचित शिक्षा दी जाती है। राजनैतिक कैदी साधारण कैदियों से अलग रक्खे जाते हैं। इन्हें अ, ब और स तीन श्रेणियों में रक्खा जाता है। पहिली दो श्रेणियों में जो सुविधायें इन्हें दी गई हैं वे काफी अच्छी हैं, परन्तु तीसरी श्रेणी के कैदियों को किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं दी गई है। हमारे देश में कुछ लोगों को आजन्म अपराधी घोषित कर दिया गया है। यहाँ तक कि इनके लड़के बच्चे जन्म से ही अपराधी गिने जाते हैं। ये लोग विशेष प्रकार के कारागारों में रक्खे जाते हैं। इन्हें अपराधी जाति (Criminal Tribes) कहते हैं।

द्वितीय भाग

अध्याय २२

हमारा सामाजिक जीवन

समाज में जो एकता और पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है उसके मूल में कुछ संगठन और संस्थायें हैं। उन्हीं के अध्ययन से सामाजिक जीवन की जानकारी होती है। भारतीय समाज में कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। कुछ विदेशियों ने उनकी कड़े शब्दों में आलोचना की है। विद्यार्थियों को उनकी ठीक जानकारी कराने की आवश्यकता है। वर्तमान युग प्रगतिशील है। इसमें विचारों की गति अत्यन्त तीव्र है। समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों को अपने समाज का अध्ययन बड़ी ही लगन से करना चाहिये जिससे वह इसकी उन्नति में सहयोग दे सकें।

वर्ण-व्यवस्था

लोगों का कहना है कि हमारे देश के प्राचीन इतिहास में राजनीतिक सामग्री कम है। भारतीय ऋषि-महर्षियों तथा विचारकों ने धार्मिक चिन्तन मनन पर सब से अधिक ध्यान दिया है। वे राजनीति को कोई महत्व नहीं देते थे। राजनीति की जो थोड़ी बहुत चर्चा पाई जाती है वह धर्म का अंग-मात्र है। परन्तु यह उनका कोई दोष नहीं है। राजनीति का उद्देश्य एक व्यवस्थित समाज का निर्माण करना है। राजनीतिज्ञ इसे वैधानिक रीति से सरकारी संगठनों द्वारा स्थापित करना चाहते हैं। भारत के प्राचीन विचारकों का भी उद्देश्य एक सुव्यवस्थित समाज का निर्माण करना था। इसकी पूर्ति वे धार्मिक रीति से करना चाहते थे। इसीलिये प्राचीन काल में जो स्थान धर्म को प्राप्त था वह आज राजनीति को प्राप्त है। समाज की व्यवस्था के लिये सम्पूर्ण जन संख्या ४ वर्णों में विभाजित कर दी गई थी। ब्राह्मण अध्ययन अध्यापन का कार्य करते थे; क्षत्रिय देश की रक्षा का भार ग्रहण करते थे; वैश्य व्यापार तथा उत्पादन की वृद्धि करते थे; और शूद्र सब वर्णों की सेवा करते थे। यह व्यवस्था इसीलिये की गई थी कि प्रत्येक वर्ण अपने अपने कार्य में पूर्ण अभ्यस्त और अनुभवी होगा। यह व्यवस्था भारतीय संस्कृति के उत्थान में बहुत ही सहायक सिद्ध हुई है। प्रत्येक वर्ण अपने कार्य को सम्मान की दृष्टि से देखता है और एक दूसरे के कार्यों में किसी प्रकार का संघर्ष नहीं कर सकता।

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में दो प्रकार की धारणाये हैं। कुछ लोग कर्म से और कुछ जन्म से इसका आधार मानते हैं। आरम्भ में वर्ण व्यवस्था कर्म पर ही आधारित थी। जो जिस वर्ण का कार्य करता था वह उसी वर्ण के साथ गिना जाता था। कुछ समय पश्चात् कर्म का सिद्धान्त लुप्त हो गया और जन्म से इसका निश्चय किया गया। एक वर्ण के लोग कोई भी कार्य करते हुए जन्म के कारण उसी वर्ण के गिने जाने लगे। इससे दो प्रकार की हानियाँ हुईं। कार्यों की विशेषता और कुशलता जाती रही तथा एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण को छोटा समझने लगे। उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी विकृत हो गया। कार्यों का विभाजन न रहने से समाज की व्यवस्था भी शिथिल हो गई। जब वर्ण व्यवस्था के साथ भारतीय समाज की अन्य संस्थायें जुटी हुई थीं तो एक के शिथिल हो जाने से सब की हानि हुई। आज भी वर्ण व्यवस्था पाई जाती है, परन्तु इसमें अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं। यदि इस व्यवस्था को जीवित रखना है तो इन दोषों का निराकरण करना होगा। परन्तु इसकी सम्भावना बहुत ही कम है। संसार की सामाजिक व्यवस्था बदल रही है और भारत भी नये समाज का निर्माण कर रहा है। जब पठन पाठन, रक्षा, व्यवसाय तथा सेवा का मार्ग सब के लिये समान रूप से खुला हुआ है और कोई व्यक्ति इसमें विशेषज्ञ होने का दावा नहीं रख सकता तो वर्ण व्यवस्था की रक्षा की क्या आवश्यकता है? इसे जीवित रखने में समाज की हानि है। उच्च वर्ण के लोग उच्च कर्म न करते हुए भी दूसरे वर्ण वालों को हेय दृष्टि से देखते हैं। उनके मन में बड़प्पन का झूठा अभिमान है। एक ब्राह्मण संध्या पूजा तथा अध्ययन अध्यापन न करते हुए भी अपने आपको विद्वान् और पवित्र समझता है। इससे वह कितनी ही सामाजिक संस्थाओं से अनुचित लाभ उठाता है। अशिक्षित तथा सीधी-सादी भारतीय जनता को देवी देवताओं का भय दिखाकर उसका शोषण करता है। तीर्थ स्थानों, मन्दिरों, संस्कारों तथा कितने ही अन्य स्थानों एवं अवसरों पर वह अपने स्वार्थ की ही सिद्धि करता है। कोई भी विचारक समाज के कल्याण का ध्यान रखते हुए इस विकृत संगठन की रक्षा नहीं कर सकता।

समाज में सेवा का स्थान सबसे बड़ा है। सेवक और त्यागी इसके कर्णधार होते हैं। हमारे देश में सेवकों की संख्या सबसे अधिक है। हमारे पूर्वजों ने समाज का संगठन इस ढग से किया था कि सेवकों की संख्या में कमी न हो। भारती जिन्हें हम शूद्र कहते हैं उनकी अनेक जातियाँ सेवा के क्षेत्रों में लगी हुई हैं। समाज की यह दुर्बलता है कि उसने मूल उद्देश्य को भुला कर इन सेवकों को घृणा की दृष्टी से देखने लगा। इनके साथ सम्पर्क

और सहयोग की बात तो दूर रही, इन्हें छूने तक को पाप समझने लगा। छुआ-छूत की इस बुराई ने समाज में अनेक कुरीतियों को जन्म दिया जिससे सामाजिक उन्नति में बाधा पड़ी। इसीलिये महात्मा गांधी का कहना था कि, "यदि हिन्दू समाज छुआ-छूत को नष्ट नहीं करता तो वह स्वयं नष्ट हो जायगा।" जो व्यवस्था समाज के सुख और शान्ति के लिये की गई थी उसी से घृणा और विषमता का भाव बढ़ने लगा। हरिजन आन्दोलन ने इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किया है। इसका ध्येय समाज से छुआ-छूत का भाव मिटा देना है। साथ ही वह हरिजन वर्ग की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति पर भी बल देता है। वर्ण व्यवस्था प्रत्येक दृष्टिकोण से दोषपूर्ण दिखाई पड़ती है। इसके मूल निर्माण में कोई दोष नहीं है और इसके द्वारा भारतीय विचारकों की बुद्धि का ऊँचा परिचय मिलता है, परन्तु इसकी विकृत अवस्था को देखकर इसे जीवित रखना उचित नहीं है। देश के सभी नागरिकों में स्वतन्त्रता और सहयोग की समान भावना होनी चाहिये। उनका सामाजिक स्तर समान रूप से ऊँचा बनना चाहिये। जब तक हम वर्ण व्यवस्था के जाल से नहीं निकलते तब तक हमारे देश में ठोस नागरिकता का निर्माण नहीं हो सकता। व्यवसाय की दृष्टि से मनुष्यों में कोई भेद भाव नहीं किया जा सकता और न इस पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। भारतीय संविधान में जीविकोपार्जन की स्वतन्त्रता सबको समान रूप से प्रदान की गई है।

महात्मा गांधी के शब्दों में अस्पृश्यता हिन्दू जाति पर कलंक है।

अस्पृश्यता

संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ मनुष्य-मनुष्य को छूने में हिचक करता हो। भारत में अछूतों, जिन्हें आज हरिजन कहा जाता है, की संख्या ६ करोड़ के लगभग है। इतनी बड़ी संख्या भारतीय समाज में आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में हर प्रकार से गिरी हुई है। इन हरिजनों के पास अपनी कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती। विचारे दैनिक मजदूरी पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। नगर और गाँव दोनों जगह उनके रहने का स्थान बस्ती से बाहर होता है। सवर्ण हिन्दू सामाजिक व्यवहारों में उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखते। त्यौहारों पर भी उनके साथ कोई सहयोग नहीं किया जाता। मन्दिर, स्कूल, पंचायत तथा अन्य संस्थाओं में उन्हें प्रवेश करने की आज्ञा नहीं दी जाती। सार्वजनिक वस्तुओं का उपयोग भी वे नहीं कर सकते। कुयें, तालाब तथा मनोरंजन की संस्थाओं का उन्हें उपयोग नहीं करने दिया जाता। इतने पर भी उनसे कठिन शारीरिक परिश्रम लिया

जाता है और उसके बदले में मोटा अन्न, फटे पुराने कपड़े तथा थोड़े से पैसे दे दिये जाते हैं। परिश्रम के अतिरिक्त भारतीय समाज उनके जीवन का और कोई उपयोग नहीं समझता। प्रत्येक अवसर पर उन्हें छोटा स्थान दिया जाता है जो कभी-कभी मनुष्य कोटि से निम्न होता है। यद्यपि यह व्यवहार बहुत ही घृणित है, परन्तु सवर्ण भारतीयों को इसका अभ्यास है और इसी में वे अपना सांस्कृतिक-गौरव समझते हैं।

हरिजन हिन्दू समाज का एक प्रधान अंग है। १६३१ ई० में जब ब्रिटिश सरकार ने उन्हें पृथक् निर्वाचन देने का निर्णय किया तो महात्मा गाँधी ने आमरण अनशन आरम्भ किया था जिससे सरकार को बाध्य होकर हरिजनों को हिन्दू समाज का अंग मानना पड़ा और पृथक् निर्वाचन की योजना स्थगित करनी पड़ी। हरिजनों में कई उपजातियाँ हैं जो देश के विभिन्न भागों में कई नामों से सूचित की जाती हैं। उत्तर प्रदेश में इन्हें भंगी, चमार, डोम, भर, दुसाध, बसफोर आदि नामों से पुकारते हैं। महाराष्ट्र में इन्हें महार, बंगाल में नामशूद्र, मलाबार में तियास तथा मैसूर में ओकालिगस कहते हैं। इनके अतिरिक्त अछूतों की दर्जनों उपजातियाँ हैं, जिनका उल्लेख बहुत कम किया जाता है। इन विभिन्न उपजातियों की अलग-अलग पंचायतें हैं, जो इनकी सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिये बनाई गई हैं। जब कोई व्यक्ति अपने किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन करता है तो यह पंचायत उन्हें दंड देती है। यह दंड बहुत ही कड़ा होता है जिसे अपराधी को सहन करना पड़ता है। शारीरिक दंड के अतिरिक्त अपनी बिरादरी को दावत देने का दंड सबसे अधिक दिया जा सकता है। जब एक हरिजन किसी दूसरे हरिजन की स्त्री से विवाह कर लेता है तो वह अपनी बिरादरी को दावत देकर इस अपराध से मुक्त होता है। हरिजनों में परदे की प्रथा नहीं है। परन्तु इनमें छुआ-छूत का भाव उतना ही बड़ा है जितना सवर्ण हिन्दुओं में। हरिजनों की एक उपजाति का व्यक्ति दूसरी उपजाति के साथ न भोजन कर सकता है और न जल ग्रहण कर सकता है। उनका वैवाहिक सम्बन्ध भी अपनी ही गिरोह तक सीमित है। इनकी आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक व्यवस्था के अनुसार इनमें तरह-तरह की परिपाटियाँ हैं जो अध्ययन की दृष्टि से बड़ी ही मनोरंजक हैं। प्रायः सभी सामाजिक अवसरों पर इनमें नाचने और गाने की प्रथा है। नाच में स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी सम्मिलित होते हैं। इनके गाने बहुत ही भावपूर्ण होते हैं।

हिन्दू समाज से पृथक् होने के कारण हरिजनों में कई प्रकार की

दुर्बलतायें उत्पन्न हो गई हैं। जब सवर्ण हिन्दुओं ने उनका तिरस्कार किया और उनके सहयोग तथा सम्पर्क का परित्याग किया तो हरिजनों को अपनी बुद्धि और स्थिति के अनुसार एक नये समाज का निर्माण करना पड़ा। जब इनके बच्चों को शिक्षा-दीक्षा नहीं दी गई तो इन्हें तरह तरह की बुराइयों का शिकार बनना पड़ा। हरिजनों की कुछ उपजातियाँ चोरी को अपना व्यवसाय समझती हैं। डोम जाति में यह बुराई सबसे अधिक पाई जाती है। इसीलिये इन उपजातियों में से कुछ को आजन्म ही नहीं, बल्कि पैतृक रूप से अपराधी घोषित कर दिया गया है। इनके लिये कुछ स्थानों पर सरकार की ओर से विशेष प्रकार के कारागार बनाये गये हैं। दिन में इन्हें स्वतन्त्रता रहती है कि जहाँ चाहें जायँ और अपनी जीविका का कोई साधन निकालें, परन्तु सन्ध्या समय से प्रातःकाल तक इन्हें अनिवार्य रूप से कारागार में रहना होता है। मांस और मदिरा का चलन हरिजन जातियों में अधिक पाया जाता है। यद्यपि इनकी आर्थिक दशा बहुत ही शोचनीय है फिर भी सामाजिक कार्यों तथा धार्मिक अवसरों पर ये ताड़ी, शराब, गाँजा, चरस, तम्बाकू तथा मांस मछली का पूरा उपयोग करते हैं। ऋण लेकर वे इन वस्तुओं में धन व्यय करते हैं। स्त्रियों के परित्याग की प्रथा इनमें सबसे अधिक है। एक हरिजन अपने जीवन काल में कितनी ही स्त्रियों से विवाह करता है और कितनी ही स्त्रियों का परित्याग करता है। वैवाहिक स्त्रियों के भगाने की प्रथा भी इनमें पाई जाती है। कुटुम्ब परिवार का मोह इन्हें अधिक होता है। दरिद्रता में भी वे अपने स्थान को छोड़कर कहीं बाहर जाने की इच्छा नहीं रखते। भूत, प्रेत, टोना, नजर, आदि में वे अधिक विश्वास करते हैं। बीमारियों तक को ये किसी देवी देवता का प्रकोप मानते हैं।

हरिजनों में कुछ विशेषतायें भी हैं। इनमें शारीरिक श्रम का भाव अधिक होता है। यदि गाँव में खेती के कार्यों का निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि इनका परिश्रम उनमें सबसे अधिक है। यद्यपि इनकी मजदूरी बहुत कम होती है और इनके साथ व्यवहार भी ऊँचा नहीं होता, फिर भी अपने परिश्रम में ये किसी प्रकार की कमी नहीं करते। इनकी स्त्रियाँ उतना ही परिश्रम करती हैं जितना पुरुष। इनका व्यवहार सवर्ण हिन्दुओं के साथ अत्यन्त नम्र और भक्ति पूर्ण होता है। अपनी इन दुर्बलताओं के लिये वे हिन्दू समाज को दोषी नहीं मानते। यद्यपि ये अशिक्षित हैं फिर भी कर्म सिद्धान्त में इनका इतना अधिक विश्वास है कि अपनी दशा को अपने कर्मों का ही फल मानते हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि इन दुर्बलताओं के

कारण वे सवर्ण हिन्दुओं से घृणा के पात्र हैं। हिन्दू धर्म में इनका अटूट विश्वास है। ईसाई मिशनरियों ने तरह तरह के प्रलोभन देकर इन्हें ईसाई बनाने का प्रयत्न किया था, परन्तु वे सफल नहीं हुए। यह भी सुना गया कि जाड़े की भयंकर सर्दी से व्याकुल होकर शीत का निवारण करने के लिये कम्बल तथा वस्त्र के लिये कुछ हरिजन जाड़े में ईसाई हो जाते थे। ईसाई मिशनरी उन्हें कम्बल और कुछ गर्म कपड़े दे देते थे। सर्दी बीतते ही वे हरिजन उन कपड़ों को ईसाई मिशनरियों को लौटा देते थे और हिन्दू हो जाते थे। सरकारी नियमों से बढ़कर वे अपनी जातीय पंचायत का आदर करते हैं। इनमें कुछ सन्त मतावलम्बी होते हैं जिनका जीवन बहुत ही पवित्र होता है। यद्यपि बाहरी रहन सहन से ये असभ्य जान पड़ते हैं, परन्तु इनमें सचाई और ईमानदारी का भाव सवर्ण हिन्दुओं से कम नहीं होता। इनका व्यवहार शाब्दिक होता है, क्योंकि ये लिखना पढ़ना नहीं जानते। इन शाब्दिक व्यवहारों में ये झूठ नहीं बोलते और अपने वचन का ध्यान रखते हैं।

हरिजनों के उद्धार के लिये कुछ भारतीय नेताओं ने सराहनीय प्रयत्न किया है। स्वामी श्रद्धानन्द ने दलितोद्धार आन्दोलन और लाला लाजपत राय ने अछूतोद्धार आन्दोलन चलाकर इनका कुछ सुधार किया। वैसे तो ईसाई मिशनरियों ने भी इनके सुधार के लिये सराहनीय प्रयत्न किया है, परन्तु उनका उद्देश्य इन्हें ईसाई बनाने के अतिरिक्त और कुछ न था। आर्य समाज ने इनके सुधार के लिये एक विस्तृत कार्यक्रम तैयार किया था। छुआछूत को इसने बहुत ही निन्दनीय ठहराया। बंगाल में ब्रह्मसमाज ने भी इनके सुधार का प्रयत्न किया। इनकी शिक्षा तथा आर्थिक उन्नति के लिये व्यक्तिगत रूप से कुछ सेवकों ने सराहनीय कार्य किया है। श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने १६०३ ई० में अस्पृश्यता को व्यर्थ ठहराया था। रूढ़िवादी हिन्दुओं ने इन सुधारों को कोई महत्व नहीं दिया और १६१० ई० की मनुष्य गणना में यह प्रस्ताव किया कि हरिजन हिन्दुओं से पृथक् गिने जायँ। जब महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन अपने हाथ में लिया तो उनका पहला ध्यान हरिजनों के उद्धार की ओर हुआ था। उन्होंने इसे स्वराज्य का एक साधन बताया था। उनका कहना था कि भारतीय समाज की शक्ति इसीलिये कम है कि हरिजन सवर्ण हिन्दुओं से पृथक समझे जाते हैं। हरिजनों की समस्या को महात्मा जी ने हिन्दू मुस्लिम समस्या का आधार बतलाया था। १६२१ ई० में अहमदाबाद में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि उनके अन्तःकरण में दो इच्छायें हैं—हरिजनों का उद्धार और गो की रक्षा।

१६३२ ई० में महात्मा गाँधी ने हरिजनों के उद्धार के लिये एक देश व्यापी आन्दोलन आरम्भ किया। इसी के लिये उन्होंने १६३२ तथा १६३३ ई० में उपवास किया था। इसका प्रभाव सवर्ण हिन्दुओं पर इतना अधिक पड़ा कि कई स्थानों पर हरिजनों को मन्दिर प्रवेश की आज्ञा दे दी गई। कुछ सवर्ण हिन्दुओं ने हरिजनों के साथ भोजन, स्नान तथा सफाई का प्रदर्शन भी आरम्भ किया। महात्मा जी ने हरिजन सेवक संघ की स्थापना की। पंजाब के आर्य समाज ने दलितोद्धार सभा की स्थापना किया। छोटे छोटे कितने ही संगठन विभिन्न राज्यों में बनाये गये। इन सब का प्रभाव भारतीय समाज पर बहुत ही गहरा पड़ा। इसी का परिणाम है कि देश में छुआछूत की भावना बहुत कुछ नष्ट हो गई है। लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि हरिजन उन्हीं के भाई-बन्धु हैं और उन्हें सभी सामाजिक सुविधायें मिलनी चाहिये। स्वयं हरिजनों में सुधार की भावना कम नहीं है। वे अपनी कुरीतियों को दूर करने के सराहनीय प्रयत्न कर रहे हैं। जो संस्थायें हरिजनों के लिये प्रवेश की आज्ञा नहीं देती थीं उनमें उन्हें प्रवेश की स्वतन्त्रता दे दी गई है। कितने ही राज्यों में 'मन्दिर प्रवेश अधिनियम' पारित किये गये हैं जिनके द्वारा हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई है। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता अवैध ठहराई गई है। सभी सार्वजनिक संस्थायें समान रूप से सबके लिये खोल दी गई हैं। इतने पर भी हरिजनों के नेता डा० अम्बेदकर ने हरिजनों से यह अपील की है कि अपने उद्धार के लिये वे बुद्धधर्म ग्रहण कर लें। इस धर्म परिवर्तन से कोई विशेष लाभ नहीं है। जब हिन्दू समाज हरिजनों को सभी सुविधायें प्रदान कर रहा है और उनकी उन्नति के लिये सरकार की ओर से विशेष सुविधायें दी जा रही हैं, तो उन्हें असन्तुष्ट होने का कोई कारण नहीं है।

विवाह प्रथा

हिन्दुओं में विवाह की प्रथा अपनी एक विशेषता रखती है। इसीलिये इसका अध्ययन थोड़ा आवश्यक है। इसकी अनभिज्ञता से हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था का ज्ञान नहीं होगा। हिन्दू धर्म के अनुसार विवाह एक संस्कार है। इसी के द्वारा दो आत्माओं का आन्तरिक मिलन होता है। विवाह संस्कार में स्त्री-पुरुष का जो सम्बन्ध होता है उसकी समाप्ति मृत्यु से ही होती है। स्त्री परित्याग की प्रथा भारतीय समाज में निन्दित ठहराई गई है। विवाह प्रायः अपनी जाति में किये जाते हैं, परन्तु समान गोत्र में नहीं किये जाते। वर्तमान समय में अन्तर्जातीय विवाह की प्रथा कुछ कुछ चल रही है। विवाह में लड़के और लड़की की सम्मति उतनी नहीं ली जाती जितनी दोनों पक्ष के

अभिभावकों की। बाल-विवाह की प्रथा इतनी अधिक है कि माता पिता अपनी रुचि के अनुसार अपने लड़के लड़कियों का विवाह करते हैं। बहु विवाह की प्रथा हिन्दू समाज में वर्जित है। विशेष अवस्था में ही इसकी आज्ञा दी गई है। विधवा विवाह की प्रथा नहीं के बराबर है। यद्यपि इस पर कोई कानूनी रोक नहीं है फिर भी समाज इसे उत्साहित नहीं करता। एक पुरुष दो स्त्री से विवाह कर सकता है, परन्तु एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह नहीं कर सकती।

हिन्दू समाज में विवाह का उद्देश्य केवल भोग और सन्तान उत्पति नहीं है। विवाह के बिना मनुष्य का जीवन अपूर्ण माना गया है। हमारे धार्मिक ग्रन्थों में सन्तानोत्पत्ति एक बहुत बड़ा पुण्य माना गया है। वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता इतनी अधिक है कि इसमें वाह्य सौन्दर्य को बहुत कम स्थान दिया गया है। विवाहों में जितना ध्यान लड़के और लड़की के सौन्दर्य पर दिया जाता है उससे अधिक ध्यान उनके कुल परिवार, आचार विचार तथा गोत्र की शुद्धता पर किया जाता है। विवाहों में ज्योतिष तथा धर्मशास्त्रों का पूर्ण पालन किया जाता है। यदि गणना में कोई त्रुटि है तो सब कुछ ठीक होते हुए भी वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किया जाता। विवाह संस्कार की क्रियाओं को देखने से यह ज्ञात होता है कि इसमें कितना ऊँचा भाव रखा गया है। स्त्री और पुरुष विवाह के समय इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि वे जीवन पर्यन्त एक दूसरे के साथ रहेंगे और मन, बचन और कर्म तीनों से एक दूसरे के प्रति विश्वास और आदर का भाव रक्खेगे। कन्यादान महादान कहा गया है। जिन्हें लड़की नहीं होती वे अपने पारलौकिक जीवन की सफलता के लिये दूसरों की लड़कियों का कन्यादान देते हैं। एक स्त्री के रहते हुए किसी दूसरी स्त्री से विवाह करने की आज्ञा उसी अवस्था में दी गई है जब पहली स्त्री से कोई सन्तान न हो अथवा उसे कोई ऐसा रोग हो जिसके फैलने का भय हो। इतने पर भी कोई पुरुष दूसरा विवाह तभी कर सकता है जब पहली स्त्री उसकी आज्ञा दे दे। तात्पर्य यह है कि वैवाहिक जीवन की महत्ता हमारे समाज में सब से ऊँची ठहराई गई है। यह संस्कार बड़े ही सजधज के साथ महीनों में समाप्त होता है।

इस संस्कार में अनेक कुरीतियाँ भी प्रचलित हैं। बाल-विवाह की प्रथा इनमें सबसे बुरी है। छोटी अवस्था में ही लड़के और लड़कियों का विवाह कर दिया जाता है। इससे उनके विकास में बाधायें पड़ती हैं। विवाह का महत्व भी उन्हें मालूम नहीं होता। इससे सन्तान दुर्बल होती है और विधवाओं की समस्या उत्पन्न होती है। जब हिन्दू धर्म विधवा विवाह

की आज्ञा नहीं देता तो इन विधवाओं की दशा और भी शोचनीय होती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विधवा विवाह को आवश्यक ठहराया है। यह भी सुना जाता है कि कुछ माता पिता अपने लड़के लड़कियों का विवाह सन्तान उत्पन्न होने के पहले ही निश्चित कर लेते हैं। शिक्षित लोग प्रायः बड़ी आयु में विवाह करते हैं। जो वर्ग जितना ही पिछड़ा हुआ है उसमें बाल विवाह की प्रथा उतनी ही अधिक है। दहेज की प्रथा विवाह को और भी गम्भीर बना देती है। लड़के का पिता विवाह के समय रुपये तथा अन्य वस्तुओं की उसी तरह माँग करता है जैसे एक व्यापारी माल का सौदा करता है। इससे कितने ही माता-पिता ऋण लेकर विवाह करते हैं और अधिक समय तक कष्ट सहन करते हैं। विवाह के लिये आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ लोग आत्म हत्यायें तक कर लेते हैं। गहने की प्रथा विवाहों में अधिक पाई जाती है। इसके साथ ही नाच, गाना तथा भोज का भी चलन है। इन सब में काफी धन व्यय करना पड़ता है। विवाहों में प्रायः सैकड़ों की संख्या में लोग सम्मिलित होते हैं और उनके लिये कई दिनों तक खान पान का प्रबन्ध किया जाता है। कहीं कहीं पर लेन देन के लिये दोनों पक्ष में मारपीट तथा बैरविरोध की नौबत आ जाती है। इन सब कुरीतियों से विवाह संस्कार का महत्व बहुत कुछ कम हो गया है।

विवाहों में सुधार के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। अन्तर्जातीय विवाह के चलन से विवाह की कठिनाइयाँ कुछ कम हो रही हैं। दहेज की प्रथा हटाने का प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु अभी इस दिशा में सफलता प्राप्त नहीं हुई है। बाल विवाह को रोकने के लिये सारदा कानून पास किया गया है जिसके अनुसार १४ वर्ष से कम आयु की लड़की और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह नियम के विरुद्ध माना गया है। यद्यपि कड़ाई के साथ इस नियम का पालन नहीं हो रहा है फिर भी इस दिशा में काफी सुधार हुआ है। हिन्दू विवाह अधिनियम केन्द्रीय सरकार के विचाराधीन है। इसके अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को एक दूसरे के परित्याग की स्वतन्त्रता दी गई है। हिन्दू समाज इस अधिनियम का विरोध कर रहा है परन्तु कुछ राष्ट्रीय नेता इसे पारित कराने के पक्ष में हैं। इस अधिनियम के पारित हो जाने से विवाह संस्कार की मर्यादा बहुत कुछ कम हो जायगी। सरकार गम्भीरता पूर्वक इस अधिनियम पर विचार कर रही है।

भारतीय समाज में कौटुम्बिक जीवन का विशेष महत्व है। वैसे तो यह संस्था प्रायः सभी देशों में पाई जाती है, परन्तु हमारा पारिवारिक जीवन

और्रों से भिन्न है । हमारे देश में संयुक्त परिवार कौटुम्बिक जीवन की प्रथा है। एक कुटुम्ब में माता पिता, स्त्री, पुरुष तथा दो दो, तीन तीन पीढ़ी के लोग रहते हैं । सब का भोजन एक जगह बनता है और सब लोग सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं। परिवार की सम्पत्ति भी सम्मिलित होती है। जिस परिवार में लोग व्यक्तिगत लाभ की चेष्टा करते हैं उसकी निन्दा की जाती है। परिवार का शासन आन्तरिक और वाह्य श्रेणियों में विभाजित किया गया है। सबसे वयोवृद्ध और पद में ज्येष्ठ पुरुष कुटुम्ब का स्वामी होता है। उसी के हाथ में परिवार का आय व्यय होता है । वही लोगों में कार्य का बँटवारा करता है और परिवार के कार्यों की व्यवस्था करता है। किसी भी कार्य में उसका निर्णय अन्तिम होता है। परिवार के सब प्राणी उसके अनुशासन में कार्य करते हैं। कुटुम्ब की मर्यादा, उसकी आर्थिक स्थिति तथा उसके सम्बन्ध का वह पूरा ध्यान रखता है। उसी की इच्छा से एक परिवार दूसरे से सहयोग या संघर्ष करता है। कुटुम्ब में उसका स्थान वही है जो राज्य में प्रधान शासक का है । आन्तरिक प्रबन्ध सबसे वृद्धा स्त्री के हाथ में होता है। वह कुटुम्ब की स्त्रियों तथा बाल बच्चों की देख-रेख करती है। भोजन सामग्री का प्रबन्ध करना तथा घर में आई हुई सभी सामग्रियों की रक्षा और व्यवस्था करना उसका प्रधान कार्य है। जिस प्रकार परिवार में पुरुष वर्ग स्वामी की आज्ञाओं का पालन करता है और उसके अनुशासन में रहता है उसी प्रकार कुटुम्ब की स्त्रियाँ उस वयोवृद्धा स्त्री के अनुशासन में रहती हैं । परिवार के इस संगठन को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि इसमें राष्ट्रीय संगठन की सभी बातें पाई जाती हैं। इसीलिये कुछ विद्वानों ने राज्य को कुटुम्ब का बृहत् रूप कहा है। जिस प्रकार राजकीय संगठन में नियमों की प्रधानता होती है उसी प्रकार कौटुम्बिक जीवन में अनेक परिपाटियाँ और रीति रिवाज पाये जाते हैं।

संयुक्त पारिवारिक जीवन में अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों हैं। जब एक ही कुटुम्ब में कई पीढ़ी तक के लोग रहते हैं तो उनकी संख्या अधिक होती है। बड़े कुटुम्बों में प्रत्येक में ४० अथवा ५० व्यक्ति तक रहते हैं । इन सबके सहयोग से कुटुम्ब की शक्ति अधिक होती है। जब सभी लोग विभाजित प्रणाली से कार्य करते हैं और सब पर उचित अनुशासन होता है तो परिवार की आय बढ़ जाती है। भोजन की व्यवस्था एक स्थान पर होने से कुटुम्ब का व्यय भी कम रहता है। एक दूसरे के बल से किसी को कोई चिन्ता नहीं रहती। जब परिवार में दो एक प्राणी बीमार पड़ जाते हैं

तो उसका परिवार के कार्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका कार्य दूसरे लोग बाँटकर करते हैं। बड़े कुटुम्बों में प्रायः कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो शरीर और बुद्धि दोनों से कार्यहीन होते हैं, फिर भी परिवार में उनकी जीविका का कोई प्रश्न नहीं उठता। अच्छे कुटुम्बों में इस बात का ध्यान कम रखा जाता है कि किसकी प्रतिभा से कुटुम्ब की आय अधिक होती है। कुटुम्ब में सबका सम्मान बराबर होता है। सम्मिलित सम्पत्ति होने के कारण आय के मार्ग भी अधिक होते हैं। जब परिवार में एक-दो व्यक्ति किसी अच्छे पद को प्राप्त कर लेते हैं अथवा कोई विशेषता रखते हैं तो उनके कारण सम्पूर्ण परिवार का सम्मान बढ़ जाता है। सम्मिलित जीवन में रक्षा की भी सुविधा रहती है। ऐसे परिवार से लोग भय करते हैं और उसे हानि पहुँचाने का साहस नहीं कर सकते। यदि कुटुम्ब की आर्थिक दशा अच्छी है और लोग एक दूसरे से प्रेम करते हैं तो संयुक्त परिवार की प्रणाली अत्यन्त सराहनीय है।

वर्तमान आर्थिक संकट तथा व्यक्तिगत सुख के आकर्षण के कारण संयुक्त पारिवारिक जीवन में अनेक दोष दिखाई पड़ते हैं। जब परिवार में लोगों की संख्या अधिक है और उसकी आय के मार्ग कम हैं तो सभी प्राणी चिन्तित दिखाई पड़ते हैं। आर्थिक संकट के कारण आज भारतीय परिवार अत्यन्त दुखी है। परिवार की आय इतनी भी नहीं होती जिससे वह अपनी साधारण आवश्यकताओं को भी पूरा कर सके। जब लोगों की आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं तो कुटुम्ब का अनुशासन ढीला पड़ जाता है। कुछ लोग कुटुम्ब से पृथक् हो जाते हैं और जीविका की खोज में दूसरे स्थानों को चले जाते हैं। इसीलिये संयुक्त परिवार धीरे धीरे छोटे परिवारों में विभाजित होने लगे हैं। परिवार में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो परिश्रम से जी चुराते हैं। जब उनके भोजन वस्त्र तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है तो वे कार्य की चिन्ता नहीं करते। इससे कुटुम्ब के व्यय का सब भार केवल दो चार व्यक्तियों को वहन करना पड़ता है। कुछ लोग अपने पद तथा आयु का अनुचित लाभ उठाकर आय की कोई चिन्ता नहीं करते। कुटुम्ब में स्त्रियों की संख्या अधिक बढ़ने से आपसी मत भेद भी बढ़ता है। स्त्रियाँ कई परिवारों से आती हैं। उनके विचारों तथा रहन-सहन में काफी अन्तर होता है। जब उन्हें एक परिवार में एक प्रकार का जीवन व्यतीत करना पड़ता है तो उनमें संघर्ष उत्पन्न होता है। इससे पारिवारिक जीवन कलह का घर बन जाता है। ऐसे परिवारों में सब कुछ रहते हुए भी कभी कभी लोगों को भोजन तक बन्द कर देना पड़ता

है। जब कुटुम्ब में एक या दो व्यक्ति किसी अच्छे पद को प्राप्त कर लेते हैं और उनका जीवन स्तर ऊँचा हो जाता है तो दूसरे भी उनका अनुकरण करते हैं। इससे कुटुम्ब का व्यय तो बढ़ जाता है परन्तु आय नहीं बढ़ती। देश में उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने से परिवार को केवल खेती की आय पर निर्भर करना पड़ता है। इससे बेकारी और काहिली के अतिरिक्त निर्धनता की वृद्धि होती है। आवागमन के साधनों में वृद्धि होने से परिवार के लोग जीविका की खोज में नगरों में जाने लगे हैं। इससे संयुक्त परिवार की प्रणाली धीरे धीरे टूटने लगी है। शिक्षा के अभाव के कारण शिक्षित और अशिक्षित प्राणियों में मतभेद होता है। जब परिवार के एक दो व्यक्ति शिक्षित हो जाते हैं तो उनकी रहन-सहन औरों से भिन्न हो जाती है। ऐसे व्यक्ति प्रायः उस कुटुम्ब से पृथक् हो जाते हैं।

हमारे पारिवारिक जीवन के ह्रास से हमारा सामाजिक जीवन संकट-ग्रस्त है। इससे हमारे सामने अनेक समस्यायें उत्पन्न हुई हैं। जिस प्रकार सुधार की हम और योजनायें बना रहे हैं उसी प्रकार हमें कौटुम्बिक जीवन में भी सुधार करना चाहिये। संयुक्त पारिवारिक जीवन कोई बुरा नहीं है। यदि घरेलू उद्योग-धन्धों की वृद्धि हो और सब लोग शिक्षित हों जायँ तो पारिवारिक जीवन की विषमता दूर हो जायगी। जब बड़े कुटुम्ब एक या दो कुटुम्बों में विभक्त हो जाते हैं तो उनसे कोई हानि नहीं होती, परन्तु छोटे परिवारों के विभाजन से कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। उनकी सम्पत्ति थोड़ी होती है और उनमें बटवारा होने से उनका आर्थिक महत्व नष्ट हो जाता है। इससे परिवार का कष्ट बढ़ता है और देश में दरिद्रता की वृद्धि होती है। शिक्षित लोग जीविका के लिये कहीं भी जायँ, उन्हें परिवार के भरण-पोषण तथा उसकी स्थिति का ध्यान रखना चाहिये। यदि वे कुटुम्ब से अपने को पृथक् कर लेंगे तो कुटुम्ब की बहुत बड़ी हानि होगी। लोगों में स्वार्थ-परता की वृद्धि होगी और देश का सांस्कृतिक ह्रास होगा। सामाजिक कार्यकर्ताओं को संयुक्त पारिवारिक जीवन का समर्थन और सुधार करना चाहिये।

स्त्री-समाज

समाज में स्त्रियों का स्थान वही है जो पुरुषों का। हिन्दू धर्म के अनुसार स्त्रियाँ अर्द्धाङ्गिनी कही गई हैं। यदि पुरुष वर्ग शिक्षित एवं उन्नतिशील हो जाय और स्त्रियाँ अशिक्षित रह जायँ तो वह समाज उन्नतिशील नहीं होगा। जब किसी समाज का एक साधारण अंग भी पिछड़ जाता है तो उसकी उन्नति रुक जाती है। स्त्रियों की संख्या प्रत्येक समाज में ५० प्रतिशत से कम

नहीं होती। यदि इनकी उन्नति पर ध्यान न दिया जाय तो समाज की अवनति अवश्यम्भावी होगी। प्राचीन काल में भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से कम ऊँचा न था। यद्यपि संस्कृत साहित्य में कुछ स्थलों पर इनकी निन्दा की गई है, परन्तु अधिकार की दृष्टि से इनमें पुरुषों से कोई भेद नहीं किया गया है। मुसलिम काल में कुछ कारणों से पर्दे की प्रथा चलाई गई। मुसलमान पर्दे की प्रथा में विश्वास करते हैं और उन्हीं का प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ा है। पर्दे के कारण स्त्रियों की शिक्षा तथा उनकी रहन-सहन में कमी आने लगी जिससे उनका स्थान पुरुषों से छोटा गिना जाने लगा।

स्त्रियों के सुधार के लिये उन्नीसवीं शताब्दी में सरकार तथा समाज की ओर मे प्रयत्न आरम्भ किये गये। आर्य समाज ने स्त्रियों के उत्थान के लिये कन्या गुरुकुल की स्थापना की। योरपीय समाज के प्रभाव से भारतीय स्त्रियों में एक नई जागृति दिखाई पड़ने लगी। कुछ स्त्रियों ने अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण किया और उनका प्रभाव स्त्री वर्ग पर अच्छा पड़ा। यद्यपि आज भी ग्रामवासी स्त्री-शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं, परन्तु शिक्षित व्यक्ति उनकी शिक्षा का समर्थन करते हैं। सैकड़ों संस्थायें, कन्या गुरुकुल, विद्यापीठ आदि स्त्रियों की शिक्षा का प्रचार कर रहे हैं। कर्वे विश्वविद्यालय की स्थापना केवल स्त्रियों की उच्च शिक्षा के लिये की गई है। बड़ौदा तथा वनस्थली विद्यापीठ में स्त्रियों को कला-कौशल के अतिरिक्त व्यायाम करना, घोड़े पर चढ़ना तथा अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग करना सिखलाया जाता है। जो लड़कियाँ इन स्थानों में शिक्षा ग्रहण करती हैं वे देश के कार्यों में सुयोग्य सेविका के रूप में हाथ बटाती हैं। १९४४ ई० में महात्मा गाँधी की धर्म पत्नी श्रीमती कस्तूरबा गाँधी की मृत्यु पर उन्हीं की प्रेरणा से एक 'कस्तूरबा कोष' की स्थापना की गई थी। इस कोष में लगभग दो करोड़ रुपया एकत्र किया गया। इसका एक मात्र उद्देश्य स्त्रियों में ऐसी शिक्षा का प्रचार करना है जिससे वे राष्ट्रीय उन्नति में सहयोग दे सकें। सैकड़ों ग्राम सेविकायें ट्रेनिंग लेकर ग्रामीण स्त्रियों के उत्थान के लिये कार्य कर रही हैं।

अखिल भारतीय स्त्री संगठन का कार्य भी चल रहा है। प्रतिवर्ष इसकी ओर से एक महासभा का आयोजन किया जाता है और उसमें स्त्रियों की समस्याओं पर विचार किया जाता है। स्त्रियों में जो कुरीतियाँ प्रचलित हैं उन्हें निवारण करने का प्रयत्न किया जाता है। भारतीय संविधान के अनुसार स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। हिन्दू कोड बिल में स्त्रियों के अधिकार की कितनी ही बातें निहित हैं।

कहा जाता है कि हिन्दू समाज में स्त्रियों को सांपत्तिक अधिकार न होने के कारण उनकी दशा दास के समान है। पिता की सम्पत्ति में लड़की का कोई अधिकार नहीं होता। उन्हें यह भी अधिकार नहीं है कि पति के अयोग्य तथा अत्याचारी होने पर वे उनका परित्याग कर सकें। हिन्दू कोड बिल में ये दोनों त्रुटियाँ दूर की गई हैं। लड़कियों का माता पिता की सम्पत्ति में लड़कों के समान हक होगा। स्त्रियाँ अपने पति का परित्याग कर सकेंगी। हिन्दू समाज इस बिल का विरोध कर रहा है। उसका कहना है कि इसके पारित हो जाने पर हिन्दू धर्म की मर्यादा नष्ट हो जायगी और सामाजिक संगठन भी बिगड़ जायगा। यह बिल भारत सरकार के विचाराधीन है। इसका भविष्य चाहे जो भी हो परन्तु यह स्पष्ट है कि स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं रह सकतीं। राष्ट्रीय निर्माण में उनके सहयोग से शीघ्रता होगी और वह निर्माण ठोस होगा। आज कितनी ही भारतीय स्त्रियाँ देश विदेशों में ऊँचे पदों पर कार्य कर रही हैं।

मुसलिम समाज

मुसलमानों की संख्या हमारे देश में कम नहीं है। पाकिस्तान की स्थापना के पूर्व सम्पूर्ण भारत में इनकी संख्या ९ करोड़ के लगभग थी। पाकिस्तान की स्थापना के बाद भी भारतीय समाज में मुसलिम समाज एक स्थान रखता है। हिन्दू और मुसलिम समाज की रीति-रिवाज में बहुत बड़ा अन्तर है। मुसलमानों में हिन्दुओं की तरह जाति प्रथा नहीं है। सम्पूर्ण मुसलिम जाति शिया और सुन्नी दो वर्गों में विभाजित है। सुन्नी ताजिया रखते हैं और शिया इसमें विश्वास नहीं करते। इन दोनों वर्गों में शेख, सैयद, पठान, रांकी आदि उपजातियाँ हैं। इनमें शेख, सैयद और पठान ऊँचे गिने जाते हैं और शेष जातियाँ निम्नश्रेणी की समझी जाती हैं। कहा जाता है कि मुसलमानी राज्य में कितनी ही छोटी जातियों के हिन्दू प्रलोभन में आकर मुसलमान बन गये। ऊँची जाति के मुसलमानों ने उन्हें अपनी जाति के अन्दर स्थान नहीं दिया। इसीलिये छोटी जातियों के मुसलमान संख्या में अधिक पाये जाते हैं। ये छोटे छोटे व्यवसाय करते हैं और इन्हीं के द्वारा हिन्दू जातियों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। बाजा बजाना, रूई धुनना, दर्जी का काम करना, चूड़ी बेचना, कपड़े बुनना इनका मुख्य व्यवसाय हैं।

मुसलमान हिन्दुओं से कम धार्मिक नहीं होते। सन्ध्या और गायत्री जपने वाले बहुत थोड़े हिन्दू दिखलाई पड़ेंगे, परन्तु शायद ही कोई ऐसा मुसलमान होगा जो नुमाज़ न पढ़ता हो। इनका धर्म अत्यन्त सरल है।

सभी मुसलमान एक ईश्वर में विश्वास करते हैं। इनके धर्म में तर्क को कोई स्थान नहीं है। ये मूर्तिपूजा की उपासना नहीं करते और न अवतार वाद को मानते हैं। मुहम्मद साहब इनके धर्म गुरु हैं और अरब इनका मूल स्थान है। इसलाम में समानता की भावना हिन्दुओं से अधिक पाई जाती है। एक धनी मुसलमान कुरान के अनुसार किसी निर्धन मुसलमान से व्याज नहीं लेता। इसलाम में व्याज लेना पाप ठहराया गया है। कुछ कट्टरपंथी मुसलमान आज भी डाकखाने तथा बैंकों में इसलिये रुपया नहीं जमा करते हैं कि उन्हें सूद लेना पड़ेगा। एक निर्धन मुसलमान अपने समाज में बराबरी के भाव से देखा जाता है। छुआछूत की प्रथा न होने के कारण ये खान-पान में उदार होते हैं। एक ही थाली में कई मुसलमान एक साथ भोजन करने में हिचक नहीं करते। इनकी सम्पत्ति का कानून इनके धर्म के आधार पर बनाया गया है। इनमें लड़के और लड़कियों को माता पिता की सम्पत्ति में समान अधिकार प्राप्त है। यद्यपि स्त्री परित्याग इनके नियमानुकूल है, परन्तु समाज में यह आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। एक मुसलमान ४ या ६ स्त्रियों से विवाह कर सकता है। शिया लोग स्थायी और अस्थाई दो प्रकार के विवाह कर सकते हैं। अस्थायी विवाह वह है जो एक दिन, एक माह तथा एक वर्ष के लिये किया जाता है। मुसलिम समाज में मदिरा वर्जित ठहराई गई है, परन्तु माँस मछली का चलन अधिक है। बकरीद के अवसर पर गो-हत्या करना इनके धर्म का एक अंश माना गया है।

आर्थिक दृष्टि से मुसलमानों की दशा वैसी ही शोचनीय है जैसी हिंदुओं की है। उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने से इनकी भी जीविका का प्रश्न बहुत ही जटिल है। पर्दे की प्रथा होने से इनकी स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार नहीं है। धर्म के अतिरिक्त हिन्दू और मुसलिम समाज की स्थिति में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का हित-अहित एक दूसरे से मिला हुआ है। बृटिश शासकों ने इन दोनों समाजों को एक दूसरे से पृथक् करने की नीति का निर्माण किया जिसके कारण आज पाकिस्तान की स्थापना की गई। दोनों देशों के विचारक यह अनुभव कर रहे हैं कि इनकी उन्नति दोनों के सहयोग पर ही निर्भर है। मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन देकर हिन्दुओं से संघर्ष का बीज बोया गया। नवीन संविधान में पृथक् निर्वाचन की यह प्रथा समाप्त कर दी गई है। मुसलिम समाज की स्थिति वैसी ही है जैसी हिन्दू समाज की। मुसलमानों के सुधार के लिये उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जो प्रयत्न किये गये उनका वर्णन सामाजिक आन्दोलनों के प्रसंग में अगले

अध्याय में किया गया है। मुसलिम समाज की कोई ऐसी समस्या नहीं है जो हिन्दू समाज से भिन्न है।

सरकार और सामाजिक जीवन

सरकार का कर्तव्य यही नहीं है कि वह जनता से कर वसूल करे और उससे थोड़े से कर्मचारियों द्वारा देश की रक्षा तथा व्यवस्था का प्रबन्ध करे। एक विदेशी सरकार इतने से ही सन्तोष कर सकती है, परन्तु कोई राष्ट्रीय सरकार ऐसा नहीं कर सकती। भारतीय इतिहास में ये दोनों उदाहरण पाये जाते हैं। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत सामाजिक उत्थान की इतनी अवहेलना की गई कि सरकार को प्रजा के सुख दुख का कोई ध्यान न रहा। थोड़े से नगरों को सरकारी कार्यालयों का केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण देश पर शासन किया गया। सरकारी पदाधिकारी एवं कर्मचारी अपने आपको जनता से पृथक् समझते थे और अपनी स्थिति को स्वामी की तरह मानते थे। सरकार ने जनता का हर प्रकार से शोषण किया और उनकी दशा को दरिद्रता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। सामाजिक रहन सहन तथा रीति रिवाज की अवहेलना की गई और विदेशी बातों का उनमें प्रचार किया गया। कोई भी राष्ट्रीय सरकार अपनी जनता के साथ इस प्रकार निर्दयता का व्यवहार नहीं कर सकती। समाज के उत्थान में सरकार का बहुत बड़ा हाथ होता है। सामाजिक कुरीतियों को वह वैधानिक रूप से हटा सकती है। जनता की आर्थिक उन्नति के लिये उद्योग-धन्धों की वृद्धि कर सकती है। यदि देश का धन किसी प्रकार से विदेशों में जा रहा है तो उसे रोकने की व्यवस्था कर सकती है। नागरिकों की शिक्षा के लिये वह संस्थाओं की स्थापना कर सकती है। स्वास्थ्य के सुधार के लिये नई योजनाओं का संचालन कर सकती है। सरकार की आय के मार्ग बहुत ही व्यापक होते हैं, इसलिये उसे इन कार्यों में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। यदि समाज का कोई वर्ग पिछड़ा हुआ है अथवा राज्य के किसी भाग में उन्नति की विशेष योजना की आवश्यकता है तो सरकार अपना कर्तव्य समझ कर इनके सुधारों का प्रबन्ध करती है। इसी से देश की जनता सरकार को अपनी वस्तु समझती है।

विदेशी प्रभुता के समाप्त होने पर कांग्रेस ने शासन का भार अपने ऊपर लिया है। कांग्रेस के ही त्याग और कष्ट सहन से देश की स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। इसीलिये वह अपना कर्तव्य समझती है कि भारतीय समाज की अधिक से अधिक उन्नति करें। कांग्रेस सरकार शासन व्यवस्था के अतिरिक्त सामाजिक कार्यों में पूरा हाथ बटा रही है। कांग्रेस कार्यकर्ता

समाज के उत्थान के लिये अनेक कार्यों में लगे हुये हैं और सरकार उनकी पूरी सहायता कर रही है। सरकार की यह नीति है कि देश की उन्नति के लिये जो भी कार्य किया जायगा उसके लिये वह हर तरह से सहायता दे सकती है। यद्यपि पद और अधिकार के लिये कांग्रेस कार्यकर्ताओं में काफी संघर्ष हो रहा है, परन्तु चोटी के नेता, जिनके हाथ में शासन की बागडोर है, यह अनुभव कर रहे हैं कि कांग्रेस से बढ़कर देश के हित में कोई दूसरा संगठन सहायक नहीं हो सकता। इसीलिये वे समय समय पर जनता से अपील करते हैं कि वह कांग्रेस सरकार को शक्तिशाली बनाये जिससे वह सामाजिक कार्यों को और अधिक कर सके। समाज से पृथक् सरकार की स्थिति भयंकर होती है। केवल शासन करने के लिये कोई दल उस पर हावी होता है तो वह लोकप्रिय नहीं बन सकता। काँग्रेस सरकार ने छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों को यह आदेश दिया है कि वे अपने आपको जनता का सेवक समझें और उसके साथ नम्रता का व्यवहार करें इस नीति से सरकार और जनता का भेदभाव बहुत कुछ दूर हो रहा है। जनता को यह विश्वास होने लगा है कि हमारी सरकार हर प्रकार से हमारी उन्नति में लगी हुई है। सरकार की इस नीति से सामाजिक कार्यकर्ताओं का भी उत्साह बढ़ता है। भारतीय समाज में आज जो असन्तोष[1] की ज्वाला फैल रही है वह देश की उन्नति का सूचक है।

१—Discontentment is life, contentment is death.

अध्याय २३

हमारा नागरिक जीवन

भारतीय एकता

भारतीय समाज में अनेक विषमताओं के होते हुए भी एकता की भावना पाई जाती है। इसका श्रेय भारतीय संस्कृति को है। भारत का इतिहास विदेशी आक्रमण और शासन से परिपूर्ण है। कितनी ही विदेशी जातियाँ इस देश में आईं और यहीं बस गईं। भारतीय समाज ने उन्हें अपने अन्दर पचा लिया। सब से अधिक प्रभाव मुस्लिम जाति का कहा जाता है। मुसलमानों ने इस देश पर कई शताब्दियों तक शासन किया और अपने धर्म तथा अपनी सभ्यता को फैलाने का पूरा प्रयत्न किया। हिन्दू समाज के कितने ही व्यक्ति प्रलोभन में आकर मुसलमान बन गये। फिर भी भारतीय संस्कृति अबाध रूप से चलती रही। इसकी संकट की घड़ी को देखकर भारतीय सन्तों ने ऐसे साहित्य का सृजन किया जिससे भारतीय संस्कृति की मर्यादा बनी रहे। बृटिश शासन के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा, वेश-भूषा तथा अंग्रेजी रहन-सहन का अधिक प्रचार हुआ। समाज के जिस वर्ग ने इसे जितना ही अधिक अपनाया वह बृटिश शासकों की दृष्टि में उतना ही सम्मानित समझा जाने लगा। भारतीयता का निरादर करने में बृटिश शासकों ने सभी साधनों का उपयोग किया। इसी के लिये पदवियाँ प्रदान की जाती थीं, सरकारी विभागों में उच्च स्थान दिये जाते थे तथा प्रत्येक स्थान पर लोगों की पूछ होती थी। देश में एक ऐसी धारा बहने लगी जिसमें भरतीय जीवन का कोई स्थान न था। स्वामी दयानन्द सरस्वती, प० मदनमोहन मालवीय तथा महात्मा गाँधी ने भारतीय जीवन के महत्व को प्रसारित किया। इन्हीं प्रयत्नों से भारतीय समाज में विचारों की एकता कभी भी नष्ट नहीं हुई। भारतीय संस्कृति ने कितने ही प्रलोभनों का सामना किया और कुछ अवसर पर इसे महान कष्ट भी सहन करने पड़े। इसीलिये भारतीय इतिहास सेवा और त्याग की कहानियों से भरा हुआ है।

भारत की प्राकृतिक बनावट इसकी एकता को और भी सुदृढ़ करती है देश के ३ ओर अथाह समुद्र हैं और उत्तर में गगन चुम्बी हिमालय

पर्वत है। उत्तर में गंगा, सिंध और ब्रह्मपुत्र एक सिरे से दूसरे सिरे तक बहती हैं और दक्षिण में महानदी, कृष्णा और गोदावरी हैं। गंगा नदी की मर्यादा सम्पूर्ण भारत में एक सी है। उत्तर भारत की कितनी ही वस्तुयें दक्षिण भारत में अत्यन्त पवित्र समझी जाती हैं। इसी प्रकार दक्षिण भारत की कुछ वस्तुयें सारे देश में सम्मान सूचक समझी जाती हैं। सुपारी, नारियल, हल्दी तथा कदली फल मुख्यतया दक्षिण भारत के फल हैं, परन्तु प्रत्येक भारतवासी अपने सभी संस्कारों में इन्हीं वस्तुओं का उपयोग करता है। कितने ही प्राकृतिक स्थानों की मान्यता सम्पूर्ण भारत में एक सी है। काशी, प्रयाग, गया, हरद्वार, जगन्नाथपुरी, द्वारिका, रामेश्वरम्, चित्रकूट, बदरिकाश्रम आदि तीर्थ सभी भारतीयों के लिए समान रूप से पूजनीय हैं। देवी-देवताओं की महिमा भी थोड़े बहुत अन्तर के साथ सम्पूर्ण देश में एक सी पाई जाती है। जीवन की शुद्धता तथा लोक-परलोक की भावना में सभी भारत वासी विश्वास करते हैं। आश्रम जीवन तथा संस्कारों की मर्यादा सर्वत्र एक सी है। विवाह, यज्ञोपवीत तथा मृत्यु सस्कार की प्रथायें एक सी पाई जाती हैं। प्रत्येक हिन्दू का चिन्ह शिखा और सूत्र है। इसमें वर्णाश्रम धर्म के अनुसार कोई भेद नहीं किया गया है। स्वर्ग और नरक की कल्पना में प्रत्येक भारतीय विश्वास करता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में धार्मिक रूढ़ियों को कोई स्थान नहीं हैं, फिर भी देश की एकता में इन क्रियाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

विषमता की दृष्टि से भारतीय समाज अनेक श्रेणियों में विभाजित किया गया है। नीच ऊँच तथा छोटे बड़े का भेद अधिक पाया जाता है। पर्वत, नदी तथा जंगलों से देश कई छोटे-छोटे भागों में विभक्त है। प्राचीन संस्कृति के अनुसार प्रत्येक भारतवासी का जीवन ४ श्रेणियों में विभाजित किया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम ४ प्रकार के जीवन की स्वतन्त्र रूप-रेखा रखते हैं। कितने ही त्यौहार विभिन्न जातियों के लिये अलग अलग मान्य है। इतनी विषमतायें रहते हुए भी देश की एकता में कोई अन्तर नहीं आया। जिस देश के महर्षियों ने एक अद्वितीय ब्रह्म, एक जगत, एक पृथ्वी, एक स्वर्ग तथा एक नरक की कल्पना से सम्पूर्ण विश्व की एकता का सृजन किया उन्हें भारतीय एकता को सुदृढ़ बनाने में क्या कठिनाई थी। सभी धार्मिक परम्परायें सामाजिक इकाई को दृढ़ बनाती हैं। कुछ लोग शूद्रवर्ण की स्थापना से भारतीय समाज की कड़ी आलोचना करते हैं। यद्यपि ऐसी कल्पना यूनान के कुछ दार्शनिकों ने भी की है, परन्तु उच्च वर्ण के साथ इनका जो समन्वय भारतीय समाज में

किया गया है वह किसी और समाज में नहीं मिलता। एक सवर्ण भारतीय सन्यास ग्रहण करने पर इस बात का कोई ध्यान नहीं करता कि कौन मनुष्य किस जाति का है। उसकी दृष्टि में एक ब्राह्मण और एक शूद्र समान हैं। बौद्ध दर्शन में इस मर्यादा का विस्तृत वर्णन किया गया है। जब कभी कोई आन्दोलन भारतीय समाज में विषमता के पोषण के लिये चलाया गया तो उसका विरोध एक ऐसे आन्दोलन से किया गया जो एकता की भावना को जागृत करने में अधिक सफल हुआ। भारतीय नागरिक जीवन विषमताओं के रहते हुए भी एकता की भावना से ओत प्रोत है।

सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि

यह सभी जानते हैं कि भारत अपनी संस्कृति के लिये संसार में सबसे प्रसिद्ध है। इस संस्कृति का विशद वर्णन भारतीय दर्शन में पाया जाता है। यहाँ के दार्शनिकों की विचार धारा जीवन के उन गूढ़ रहस्यों पर प्रवाहित होती है जिनका चिंतन मनन संसार के अन्य दार्शनिकों की बुद्धि से परे है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ संसार के दर्शन समाप्त होते हैं वहाँ से भारतीय दर्शन आरम्भ होता है। इन दर्शनों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के अतिरिक्त देश देशान्तरों में भारतीय गौरव की वृद्धि की है। अपनी संस्कृति से अलग हो कर भारतीय जीवन शून्य है। यद्यपि यह सिद्धान्त प्रायः सभी देशों पर लागू होता है, परन्तु भारतीय जीवन पर इसका प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है। भारतीय संस्कृति में लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के जीवन की कल्पना की गई है। लौकिक जीवन सांसारिक वस्तुओं के भोग का जीवन है। इन वस्तुओं के उपभोग के लिये मनुष्य को नाना प्रकार के कलह और संघर्ष करने पड़ते हैं। सम्पत्ति तथा संग्रह की भावना से मनुष्य के विचारों में ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि घर बनाते हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य जीवन की वास्तविकता को भूल कर क्षणिक एवं नश्वर पदार्थों में लिप्त हो जाता है। समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देने का दोष इसी भावना को है। पारलौकिक जीवन शुद्ध आध्यात्मिक जीवन है। उसी जीवन में मनुष्य यह विश्वास करता है कि अच्छे कर्म से ही सद्गति होगी। बुरे तथा नीच कर्मों की निन्दा की जाती है और मनुष्य राग, द्वेष से परे होने का प्रयत्न करता है। इस जीवन में सदाचार, व्यवहार, दान, पुण्य, दया, धर्म को प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसीलिये पारलौकिक जीवन में कोई संघर्ष नहीं होता और पूर्ण शान्ति रहती है। भारतीय दार्शनिकों ने

पारलौकिक जीवन को लौकिक जीवन से श्रेष्ठ माना है। पारलौकिक जीवन मनुष्य को त्याग और कष्ट सहन की शिक्षा देता है।

मनुष्य जीवन का ध्येय सांसारिक भोग नहीं है। जन्म और मृत्यु के जाल से मनुष्य तभी निकल सकता है जब उसके अन्तःकरण से भोग की इच्छा दूर हो जाय। आवागमन के बन्धन से वह तभी मुक्त हो सकता है जब सांसारिक वस्तुओं के बन्धन से उसे छुटकारा मिले। जब तक लौकिक जीवन में मनुष्य त्याग का अभ्यास नहीं करता तब तक वह मुक्ति अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन में इस बात की विस्तृत व्याख्या की गई है कि जन्म से मृत्यु तक मनुष्य का जीवन दुःख से भरा हुआ है। वास्तविक सुख आशा और तृष्णा के परित्याग में है। इसी तरह की शिक्षा अन्य दर्शनों तथा उपनिषदों में भी दी गई है। मनुष्य जीवन की वास्तविकता पर इनमें गम्भीर विवेचना की गई है। इन ग्रन्थों के पठन पाठन से हमारा नागरिक जीवन अत्यन्त उन्नत और उज्ज्वल हो सकता है। कितने ही विदेशी विद्वानों ने अपने अन्तिम समय में यह अनुभव किया है कि उनके जीवन में जो शान्ति गीता और रामायण के अध्ययन से हुई है वह अन्य पुस्तकों से नहीं हुई है। गीता और रामायण भारतीय दर्शनों के निचोड़ हैं। भारतीय दार्शनिकों ने जीवन को बहुत ही उच्च दृष्टिकोण से देखा है। उसे समझने के पश्चात् मनुष्य की कुवासनायें नष्ट हो जाती हैं।

भारतीय संस्कृति हमारे नागरिक जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाने का सबसे बड़ा साधन है। प्रत्येक मनुष्य को ब्राह्म मुहूर्त में प्रातःकाल उठने का विधान बनाया गया है। प्रातःकाल जब २ घंटा रात्रि रहती है, यह मुहूर्त आरम्भ होता है। प्रातः काल की वायु अत्यन्त शुद्ध और विचार वर्द्धक होती है। उस समय उठने से शरीर और बुद्धि दोनों को लाभ होता है। नित्य कर्म से निवृत्त होने के पश्चात् संध्या और स्वाध्याय की क्रिया आवश्यक ठहराई गई है। सन्ध्या से मनुष्य का चित्त एकाग्र होता है। दूसरों की पढ़ाई हुई बातों से हमें उतना लाभ नहीं होता जितना उन पर स्वयं चिंतन और मनन से होता है। स्वाध्याय से हमें स्वतन्त्र रूप से विषयों पर विचारने का अवसर मिलता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का कहना था कि, "अध्ययन से तभी लाभ है जब स्वाध्याय किया जाय।" इतनी क्रियाओं के पश्चात् मनुष्य कार्य आरम्भ करता है। भोजन करने की क्रिया का भी विधान बनाया गया है। भोजन का स्थान स्वच्छ और खुला हुआ होना चाहिये। भोजन आरम्भ करने से पहले जल ग्रहण करने का नियम है। कोई भी वस्तु खाने के पश्चत् शुद्ध जल से मुख को स्वच्छ

करने का विधान है। इसी प्रकार बड़ों के प्रति सम्मान और छोटों के प्रति आदर तथा सद्भाव आवश्यक ठहराया गया है। तात्पर्य यह है कि हमारे नागरिक जीवन को शुद्ध तथा उन्नत बनाने के लिये छोटी से छोटी बातों का विधान भारतीय संस्कृति में विद्यमान है। केवल ऊपरी आचार विचार तथा साधारण व्यवहार की बातें नागरिक जीवन के लिये पर्याप्त नहीं मानी गई हैं।

यह प्रश्न विचारणीय है कि जीवन की इतनी गूढ़ विवेचना के रहते हुए हमारा नागरिक जीवन आज उन्नत क्यों नहीं है ? अपनी त्रुटियों को प्रकट करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये। भारतीय नागरिक जीवन में कुछ ऐसी त्रुटियाँ हैं जो उसके सांस्कृतिक जीवन को कलंकित करती है। इन त्रुटियों का सूक्ष्म वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। भारतीय दर्शन कितना भी ऊँचा क्यों न हो हम उससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। कुछ कही सुनी रूढ़ियों को हमारे नागरिकों ने भारतीय दर्शन का अंग समझा है। इन दर्शनों का न हम अध्ययन करते हैं न स्वाध्याय। इसीलिये हम उनके मूल्य को नहीं समझते। इनमें कही हुई बातों की मान्यता जो प्राचीन काल से चली आ रही है उसी पर हम भी सन्तोष कर लेते हैं। इससे हमारे नागरिक जीवन में शुद्धता और उन्नति की वह भावना नहीं है जो हमारे दर्शनों में पाई जाती है। जहाँ हम अन्य देशवासियों से ज्ञान की अनेक बातें सीखने के लिये लालायित हैं वहाँ हमें इन दर्शनों के स्वाध्याय में भी लगना चाहिये। इन्हीं से चरित्र निर्माण की प्रेरणा होती है, जो भारतीय जीवन की विशेषता है।

नागरिक जीवन में बाधायें

नागरिक जीवन का तात्पर्य उन्नतिशील जीवन से है। जो देश उन्नतिशील है वहाँ का नागरिक जीवन ऊँचा माना जाता है। अन्य देशवासी उन देशों का बहुत सी बातों में अनुकरण करते हैं। सदाचार एवं व्यवहार की ऊँची कल्पना करते हुए भी भारतीय नागरिकों का जीवन श्रेष्ठ एवं क्रियाशील नहीं है। यदि थोड़े से व्यक्ति विशेष आचार विचार से रहते हैं तो उन्हीं से ३४ करोड़ नागरिकों का जीवन ऊँचा नहीं माना जायगा। समाज निर्माण में थोड़े से व्यक्तियों का हाथ भले ही हो परन्तु उसकी पूर्ति तभी होती है जब सभी व्यक्ति उन्नतिशील दिखाई दें। भारतीय समाज में चारों ओर शिक्षा तथा जीवन की सामान्य उपयोग की सामग्रियों का अभाव दिखलाई पड़ता है। करोड़ों व्यक्ति भोजन और वस्त्र की कमी के कारण ऊँची बातें सोचने में असमर्थ हैं। उनके अन्दर न कोई उत्साह है और न

कार्य करने की शक्ति। पेट पालने के लिये वे शारीरिक परिश्रम भले ही कर लें, परन्तु किसी कार्य में उनका मन नहीं लगता। शिक्षा के अभाव ने देशवासियों को पंगु बना दिया है। जो अंग्रेजी शिक्षा १५ या २० प्रतिशत लोगों को दी गई है उसका उद्देश्य जीवन-निर्माण न होकर केवल जीविकोपार्जन है। उससे केवल बौद्धिक ज्ञान बढ़ता है। विचार और शरीर की उन्नति के लिये उसमें कोई सामग्री नहीं है। इस शिक्षा से इतनी ही हानि नहीं है कि ८० प्रतिशत भारतीय आज अशिक्षित हैं, बल्कि शिक्षित व्यक्तियों को यह बेकार और विलासी बनाती है।

निर्धनता तथा अशिक्षा के अतिरिक्त हमारे नागरिक जीवन में कुछ और भी बाधायें हैं। हमारे देश में रूढ़ियों का साम्राज्य अधिक है। जो परम्परायें आज से सदियों पहले चलाई गई थीं, उन्हें भारतीय समाज में आज भी स्थान दिया गया है। समय के प्रवाह में सामाजिक जीवन के परिवर्तित हो जाने के कारण इन परम्पराओं में भी परिवर्तन की आवश्यकता है, परन्तु हमारे देशवासी उनमें परिवर्तन करने के पक्ष में नहीं हैं। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियाँ, जिनमें अनेक त्रुटियाँ अपना घर कर गई हैं, समाज को जकड़ी हुई हैं। तीर्थ स्थानों तथा देवी देवताओं की पूजा में कुछ ऐसी रूढ़ियाँ पाई जाती हैं जिनसे समाज का शोषण होता है। फिर भी हम उन्हें प्रश्रय देते हैं। त्यौहार और संस्कारों की मर्यादा इन रूढ़ियों के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गई है। इनमें जिन उच्च भावनाओं की कल्पना की गई थी, उनका हमें कोई ध्यान नहीं है। अपनी आर्थिक स्थिति का ध्यान न रखते हुए भी भारतीय विवाह तथा मृत्यु संस्कारों में आवश्यकता से अधिक धन व्यय करते हैं। छूत अछूत की भावना, जो अब बहुत कुछ कम हो रही है, हमारे नागरिक जीवन में बहुत बड़ी बाधा है। पर्दे की प्रथा के कारण भारतीय महिलाओं का जीवन पिछड़ा हुआ है। बृटिश शासन के अन्तर्गत भारत को वे सुविधायें नहीं दी गईं, जिनके द्वारा वह उत्पत्ति के आधुनिक साधनों की वृद्धि करता। आधुनिक वैज्ञानिक युग में उसे अपनी आवश्यकताओं के लिये विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। इसी से देश में उद्योग-धन्धों का अभाव है। जीविका के लिये लोग एक दूसरे का मुँह ताकते हैं। स्वावलम्बन का उनमें अभाव है। इसी से वे आत्म-सम्मान की रक्षा करने में भी असमर्थ हैं। थोड़े पैसे के लिये कितने ही ग्रामवासी अपने कुल परिवार को छोड़कर नगरों की गन्दी गलियों में तथा कल-कारखानों में जीवन निर्वाह करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह कितना भी निराश एवं दुखी है, अपने जीवन

नागरिकता निर्माण

को उन्नत बना सकता है। भारतीय नागरिकों में जो त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं वे क्रमशः दूर की जा रही हैं। राष्ट्रीय सरकार महात्मा गाँधी की प्रेरणा से यह अनुभव कर रही है कि जब तक ग्रामीण जीवन में उन्नति न होगी तब तक भारत की समस्या हल नहीं हो सकती। थोड़े से नगरों में बिजली, सड़कें, स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा कुछ अन्य संस्थाओं से देश को लाभ नहीं हो सकता। बृटिश सरकार की उन्नति की यह मनोवृत्ति बहुत ही संकुचित थी। एक ओर नगरों में सीमेन्ट की चौड़ी सड़कें हैं, परन्तु दूसरी ओर गाँवों में साधारण पैदल चलने के रास्ते भी नहीं मिलते। शासन में भेद-भाव का यह दृष्टिकोण अब लुप्त हो गया है। गाँवों की उन्नति के लिये पंचायतों के अतिरिक्त और भी कितनी ही योजनायें बनाई गई हैं। कृषि, व्यवसाय तथा रहन-सहन की उन्नति के लिए तरह-तरह के प्रयत्न किये जा रहे हैं। ग्रामीण नागरिकों में स्वतन्त्रता और स्वावलम्बन की शक्ति पैदा की जा रही है। उनके जीवन को सुखमय बनाने के लिये कितनी ही प्राचीन संस्थायें वैधानिक रीति से तोड़ी जा रही हैं और नई संस्थाओं की स्थापना की जा रही है। जब देश के दो तिहाई ग्रामीण नागरिकों में उत्साह और नया जीवन दिखाई देगा तभी नागरिकता निर्माण की कोई ठोस योजना चलाई जा सकती है। वर्तमान स्थिति में गाँवों का जीवन शुष्क और निराशापूर्ण है। किसी सीमा तक उनकी दशा में सुधार करने के पश्चात् ही हम उनके सामने राष्ट्र-निर्माण की बड़ी बातें रख सकते हैं।

बृटिश शासन में भारतवासियों में अनुकरण की बुरी भावना का प्रचार हुआ था। प्रत्येक शिक्षित भारतवासी यह अनुभव करने लगा था कि जब तक उसकी रहन-सहन में अंग्रेजीपन का भाव नहीं है तब तक उसे कोई ऊँचा स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। बृटिश शासकों की नीति भी यही थी। इसका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि भारतवासियों ने अपनी अच्छी बातों को भी भुला दिया। विदेशी अनुकरण से उनका जीवन कृत्रिम दिखाई पड़ने लगा। उनकी दशा यह हुई कि "धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का।" न वे विदेशी बन सके न भारतीय रह गये। स्वतन्त्रता के पश्चात् यह भाव जागृत हो रहा है कि किसी देश का अनुकरण वहीं तक करना चाहिये जहाँ तक उसकी आवश्यकता हो। योरप तथा अमेरिका विज्ञान में कितने ही उन्नतिशील क्यों न हों, भारतीय वातावरण में उनका सर्वथा अनुकरण नहीं किया जा सकता। विदेशों से ज्ञान-विज्ञान की सामग्री लेकर हम उसे भारतीय

वातावरण में रख सकते हैं। हम यह अनुभव करने लगे हैं कि नागरिकता की जो कल्पना भारतीय ऋषि-महर्षियों ने की है उसका लेशमात्र भी अंश विदेशी नागरिकों में नहीं मिलता। भारतीय नागरिकों में यह भावना फैल रही है कि वे अपनी उन्नति का निर्माण अपने वातावरण में अपनी स्थिति के अनुसार करें। इसी से ठोस नागरिकता का निर्माण होगा। भारत की भौगोलिक स्थिति अन्य देशों से भिन्न है। इसकी परम्परायें, इसका दर्शन इसकी संस्कृति तथा इसकी स्थिति अपनी एक विशेषता रखती है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि इसकी नागरिकता का निर्माण अन्य देशों से भिन्न होगा। कोरे अनुकरण से हमारी विशेषतायें नष्ट हो जायँगी।

ठोस नागरिकता के निर्माण के लिये आर्थिक स्थिति, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई तथा वर्तमान उन्नति की जानकारी के अतिरिक्त कुछ और बातों की भी आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को कोई भी कार्य केवल स्वार्थ की दृष्टि से नहीं करना चाहिये। प्रत्येक कार्य में अपने हित के साथ समाज का भी हित देखना चाहिये। लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है उसका मूल्य अधिक है। निर्धन तथा अशिक्षित होने के कारण हमारे देश के अधिकांश व्यक्ति आज दुखी हैं। यदि प्रत्येक भारतवासी समाज हित को सामने रखते हुये कार्य सम्पादन करेगा तो इसका बहुत बड़ा कल्याण होगा। प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभव करने की आवश्यकता है कि जब तक सभी व्यक्तियों की उन्नति नहीं होगी तब तक हमारा राष्ट्र सुखी और सम्पन्न नहीं होगा। स्वार्थ और संकुचित भावना से प्रेरित होकर थोड़े से व्यक्तियों की उन्नति से देश को कोई विशेष लाभ नहीं है, प्रत्युत इससे हानि होने की सम्भावना है। वर्तमान युग में विचारों के प्रगतिशील होने की आवश्यकता है। छुआछूत तथा जाति भेद के कारण हम समाज में विषमताओं को स्थान न दें। महात्मा गाँधी ने हरिजन-सेवा, ग्रामोद्धार तथा लोक-सेवा-संघ की स्थापना इसी ध्येय से किया था जिससे भारत के सभी नागरिक एक ऊँचे स्तर पर आ जायँ और सब में सेवा की भावना हो। लाला हरदयाल का भी यही विचार था कि नागरिकों में सेवा की गहरी लगन होनी चाहिए।[१]

१—All men and women should devote part of their time and energy to personal service. This is a debt that each one of us owes to those unfortunate sisters and brothren who have been deprived by Nature or by

जिस देश का इतिहास सेवा, त्याग और कष्ट सहन से भरा हुआ है वहाँ के नागरिक आदर्श बन सकते हैं। उनके अनुभव से अन्य देशवासियों को भी लाभ हो सकता है। भारतीय नागरिकता के निर्माण में केवल पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है। जब जब सुधारकों ने आगे कदम बढ़ाया, तब तब जनता उनके पीछे चल पड़ी। महात्मा गाँधी यदि जीवित होते तो देश के लाखों नवयुवक आज सेवा के क्षेत्र में लगे हुये दिखाई पड़ते। राष्ट्रीय निर्माण का ध्येय नागरिकों को और भी उत्साहित करता। परन्तु यह नेतृत्व आदर्श व्यक्ति ही कर सकता है।

---

society of the advantages and privileges that we enjoy. It is not enough to give money; you must give your self, your time and work. Personal service is the first step in moral progress, as it teaches you to be unselfish; and unselfishness is the root of all virtue.

अध्याय २४

हमारा आर्थिक जीवन

१५० वर्षों के बृटिश शासन का परिणाम भारतीयों के लिये क्या है इससे प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति परिचित है। यद्यपि बृटिश शासन से हमें बहुत सी शिक्षायें मिली हैं, फिर भी हमें उनका मूल्य बहुत अधिक चुकाना पड़ा है। भारत ने अपनी सदियों की अच्छी परम्पराओं को गवाँ दिया। गाँवों की स्वतन्त्रता और आर्थिक संस्थायें नष्ट भ्रष्ट हो गईं। देश में एक ऐसे शासन का चलन हुआ जिसमें सभी शक्ति बड़े-बड़े विदेशी अधिकारियों के हाथ में दे दी गई। इससे साधारण जनता कूप मण्डूक हो गई। विदेशी भाषा में शिक्षा का प्रचार होने से ६० प्रतिशत जनता अशिक्षित रह गई। जिन थोड़े से लोगों को पढ़ने का अवसर मिला उन्हें केवल नौकरी करने का व्यसन पैदा हुआ। सरकारी कर्मचारी अपने आपको जनता से भिन्न समझने लगे। देश की आय का अधिकांश सेना, अस्त्र-शस्त्र तथा सरकारी कर्मचारियों के लम्बे-लम्बे वेतन पर व्यय किया जाने लगा। हिन्दू और मुसलमानों में एक ऐसा साम्प्रदायिक बीज बोया गया जिसके परिणाम स्वरूप दोनों सम्प्रदाय के लोग आपस में लड़ने लगे। इसी के फ़लस्वरूप देश का दो हिस्सों में बटवारा किया गया। शासन की सारी शक्तियाँ विदेशी अधिकारियों के हाथ में केन्द्रित कर दी गईं। भारतीयों पर इस बात का प्रभाव डाला गया कि भारत की सभी पद्धतियाँ दोष-पूर्ण हैं और भारतीयों को सब कुछ विदेशियों से सीखने की आवश्यकता है। इससे भारतीयों में छोटेपन का भाव पैदा हुआ, जिससे उनकी सांस्कृतिक उन्नति में बाधा पड़ी।

बृटिश शासन का परिणाम

आर्थिक क्षेत्र में बृटिश शासन ने भारत को खोखला कर दिया। देश के उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये गये और विदेशी माल के लिये बाजार तैयार किया गया। सरकार ने शासन की नीति को इस प्रकार से कार्यान्वित किया कि इसी देश का बना हुआ माल विदेशी माल की तुलना में कहीं महँगा पड़ने लगा। जो देश पहले अपने यहाँ का बना हुआ माल ४०० प्रतिशत लाभ

पर विदेशों में बेचता था वही विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने लगा। फ्राँसीसी यात्री वर्नियर ने लिखा है:—"भारत एक अथाह गड्ढा है जहाँ संसार के सभी देशों से सोना और चाँदी आ-आ कर इकट्ठा होता है और जहाँ से उसे निकलने का एक भी रास्ता नहीं है।" मुसलमानी जमाने में हमारी आर्थिक स्थिति का यह एक नमूना है। जब हम इसकी तुलना बृटिश राज्य से करते हैं तो हमारे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहता। किसी विद्वान का कहना है कि—"बृटिश भारत में लाखों व्यक्ति ऐसे हैं जो जन्म से मृत्यु तक एक समय भी भरपेट भोजन नहीं पाते।" बृटिश शासन ने भारतवासियों को निरुद्यमी और असहाय बना दिया। यहाँ के प्रयोग की सभी वस्तुएँ ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि देशों से आने लगीं। भारतवासियों की गाढ़ी कमाई किसी न किसी रास्ते से होकर विदेशों को जाने लगी। इसी का परिणाम है कि करोड़ों किसान एवं मजदूर कठिन परिश्रम करने पर भी साधारण भोजन और वस्त्र के लिये तरसते हैं। दरिद्रता के कारण भारतीयों ने अपना स्वास्थ्य और संगठन दोनों खो दिया। जिन गाँवों में लोग पहले मिल-जुल कर रहते थे और उनकी सभी आवश्यकतायें संगठित रूप में पूरी होती थीं, वहीं आज संघर्ष और फूट का साम्राज्य है।

बृटिश शासन की न्याय-व्यवस्था ने देश में फूट और दरिद्रता दोनों का संचार किया है। न्यायालयों में ६० प्रतिशत मुकदमें गाँवों से आते हैं और वे प्रायः सभी भूमि सम्बन्धी होते हैं। भूमि सम्बन्धी कानून को बृटिश सरकार ने इस प्रकार उलझा दिया था जिससे गाँवों के किसान आपस में ही लड़कर तबाह हो गये। पटवारी के कागजों में वह शक्ति दे दी गई जिससे संघर्ष और भी बढ़ता गया। जिन किसानों को भरपेट अन्न भी नहीं मिलता वे दूसरों से ऋण लेकर मुकदमें लड़ने लगे। गाँवों की पंचायत-व्यवस्था टूट जाने से छोटे-छोटे मामले भी जिले की कचहरियों में आने लगे। एक-एक मुकदमों के लिये बीसों तारीखें पड़ने लगीं। वकील-मुख्तार, जो देश के शिक्षित व्यक्ति हैं और जिनसे देश की उन्नति की आशा की जाती है, इन मुकदमों को और भी जटिल बनाने लगे। कानूनों में ऐसा दोष था जिनके दोहरे अर्थ लगाये जाते थे और जिनका चलन आज भी बन्द नहीं है। बृटिश शासन में कई मार्गों से देशवासियों का शोषण हुआ है। कर, विदेशी वस्तुओं का प्रयोग, कचहरियों की व्यवस्था तथा इन सबसे बढ़कर उद्योग-धन्धों का विनाश इसमें सहायक सिद्ध हुआ। इसीलिये महात्मा गाँधी का कहना था कि यदि भारत को आर्थिक स्वराज्य प्राप्त हो

जाय तो वह राजनीतिक स्वराज्य शीघ्र ही प्राप्त कर लेगा। यही सोचकर उन्होंने ग्रामोद्योग और चर्खा-संघ की स्थापना की थी। वे स्पष्ट कहते थे कि चर्खे से ही स्वराज्य मिलेगा। उन्होंने यह अनुभव किया कि जिस दिन भारतवासी अपने घरेलू उद्योग-धन्धों को चालू कर लेंगे उस समय इस देश से विदेशी बाजार उठ जायगा। जब बृटेन निवासियों को आर्थिक लाभ की आशा जाती रहेगी तो वे राजनीतिक भार को अपने आप छोड़ देंगे। आज भारत को जो स्वराज्य प्राप्त हुआ है वह बहुत कुछ महात्मा गाँधी की इसी नीति का परिणाम है। खेद है कि वर्तमान राजनीतिज्ञ महात्मा जी की इस योजना को उस लगन और श्रद्धा से कार्यान्वित नहीं कर रहे हैं जैसा महात्मा जी चाहते थे।

दरिद्र जनता

महात्मा गाँधी ने दरिद्रनारायण की पूजा का व्रत लिया था। उनका कहना था कि जिस प्रकार ईश्वर सर्वव्याप्त हैं उसी प्रकार दरिद्रता भारत के कोने-कोने में घर कर गई है। सुख और विलासिता की वस्तुएँ इने-गिने भारतीयों को प्राप्त होती हैं। प्रायः ९० प्रतिशत जनता बहुत ही दुःखी जीवन व्यतीत करती है। लाखों व्यक्ति बेघरबार के कड़ाके की सर्दी और भयंकर गर्मी में जीवन व्यतीत करते हैं। उनके पास इतने पैसे नहीं हैं कि फूस की झोपड़ी तक बनवा सकें। लाखों स्त्रियाँ भूखे रहकर अपने नन्हें बच्चों को आधे पेट रूखा-सूखा भोजन भी नहीं दे पातीं। जब कभी कोई दया करके उन्हें फटे-पुराने कपड़े दे देता है तो वे अपना शरीर ढक लेती हैं। कड़ी सर्दी में उनके बच्चे आग और धूप का सहारा लेकर दिन व्यतीत करते हैं। किसानों के पास इतने पैसे नहीं हैं जिससे वे अच्छे बैल मोल ले सकें। खेती के लिये कुएँ खुदवाना, अच्छी खाद और बीज का प्रबन्ध करना उनकी शक्ति से बाहर है। खेतों की कमी के कारण उनके पास इतना अन्न नहीं होता कि वे एक समय भी अच्छी तरह भोजन कर सकें। अच्छा और कीमती अनाज तथा गुड़, घी आदि वे दूसरों के हाथ बेच देते हैं जिससे भूमि का लगान और ऋण का सूद चुकायें। अपने लिये वे किसी तरह रूखे-सूखे भोजन पर दिन काटते हैं। उद्योग-धन्धों के नष्ट हो जाने से जीविका का सारा भार खेती पर पड़ा है। पहले गाँवों में किसान खेती करता था और नाई, धोबी, ग्वाला, लोहार, कुम्हार, बढ़ई, मोची आदि अपना-अपना पेशा करते थे। सबको इनकी सेवाओं के बदले किसान से अन्न मिलता था। बृटिश शासन में गाँवों का संगठन टूट जाने से सभी लोग खेती करने लगे। खेत इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गये कि उनमें खेती करना भी

कठिन हो गया। आज लाखों किसान ऐसे हैं जिनके पास एक एकड़ भी भूमि खेती के लिये नहीं है।

शिक्षित समुदाय नौकरी की ओर आकर्षित हुआ। बृटिश सरकार को सरकारी कार्यालयों में काम करने के लिये कर्मचारियों की आवश्यकता थी। यह सम्भव नहीं था कि ४० या ५० रुपये माहवार पर अंग्रेज विलायत से आकर कार्य करते। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग जब तक इन स्थानों की पूर्ति करते रहे तब तक अंग्रेजी शिक्षा आकर्षक और लाभदायक बनी रही। जब इनकी पूर्ति हो गई तो शिक्षित समुदाय में बेकारी फैली। उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं दी गई थी जिससे वे कोई स्वतन्त्र उद्योग करने की बात सोचते। उनकी शिक्षा केवल किताबी थी और उनकी बड़ी-बड़ी बातों की जानकारी केवल मानसिक आनन्द की साधन थी। बड़ी-बड़ी परीक्षाओं को पास करने के बाद भी जब वे साधारण जीविका के प्रश्न को भी हल न कर सके तो उन्हें अंग्रेजी शिक्षा का मूल्य मालूम हुआ। इस शिक्षा ने लाखों नवयुवकों को निरुद्यमी और निरुद्देश्य बना दिया। नवयुवकों के हाथ में देश की उन्नति की बागडोर होती है। बृटिश शासन में भारत के नवयुवक बेकारी और निराशा की नदी में बहने लगे। देश की दरिद्रता की वृद्धि में यह अंग्रेजी शिक्षा भी बहुत बड़ी सहायक सिद्ध हुई। एक ओर इस शिक्षा ने पढ़े-लिखे नवयुवकों की रहन-सहन को खर्चीला बनाया है और दूसरी ओर इन्हें बेकार और निष्क्रिय किया है। भारतीयों की दरिद्रता इस सीमा तक पहुँच गई कि लाखों व्यक्ति थोड़ी ही आयु में मृत्यु के ग्रास होने लगे। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मृत्यु-संख्या में भारत का दर्जा सबसे आगे है। कई लाख बच्चे एक माह की आयु भी पूरी नहीं कर पाते। दरिद्रता के कारण देशवासियों का इतना अधःपतन हुआ है कि उनके जीवन से सभी प्रकार की आशायें नष्ट हो गई और उनके मन में किसी प्रकार का उत्साह शेष नहीं है।

खेती की समस्या

भारत का प्रधान व्यवसाय खेती है। इसी पर इस देश के ७३ प्रतिशत निवासी अपना जीवन निर्वाह करते हैं। जीविका का इससे सुलभ और व्यापक साधन भारतीयों के लिये कोई दूसरा नहीं है। सरकार को इस उद्योग की ओर सबसे अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। बृटिश शासन में किसानों से लगान लेने के अतिरिक्त सरकार ने कोई और सम्बन्ध नहीं रखा था। यदि गाँवों के कुओं का इतिहास मालूम किया जाय तो पता चलेगा कि जो थोड़े-बहुत अच्छे कुएँ पाये जाते हैं वे सब

बृटिश शासन के पहले के हैं। खेती में सबसे बड़ी आवश्यकता उपजाऊ भूमि और हल-बैल की है। इसके साथ ही खेतों की सिंचाई की भी व्यवस्था होनी चाहिये। भारतीय खेती इन सबसे वंचित है। यहाँ की खेती का ढंग बहुत ही प्राचीन है। खेतों की उपज शक्ति क्रमशः कम होती जाती है और किसान स्वयं यह अनुभव करता है कि उसकी पैदावार कम हो गई है। परन्तु उसकी शिक्षा-दीक्षा ऐसी नहीं है जिससे वह खेतों की उपज शक्ति में वृद्धि करे। उसे खाद का एक ही ढंग मालूम है कि पशुओं के गोबर को खेतों में डाल दे। कुछ किसान तो यह भी नहीं करते और वे गोबर के उपले बनाकर आग में जला डालते हैं। अच्छे बीजों का चलन कम होता गया है। कारण यह है कि यह कार्य देश की सरकार ही कर सकती थी। जब तक उन्नतिशील सरकारी फार्मों में अच्छे प्रकार के बीज न तैयार किये जायँ तब तक वे किसानों को उपलब्ध नहीं हो सकते।

खेती की सबसे बड़ी समस्या सिंचाई की है। या तो देश में नहरों का जाल हो अथवा तालाब-पोखरों की उचित व्यवस्था हो। वर्तमान वैज्ञानिक युग में बिजली के कुओं का भी चलन बढ़ रहा है। यदि सरकार कर सकती है तो इन्हें भी बढ़ाना चाहिये। किसानों का अनुमान है कि सिंचाई की उचित व्यवस्था हो जाने पर खेतों की उपज दूनी बढ़ सकती है। पानी की कमी के कारण किसान कितने ही प्रकार की खेती से वंचित रह जाता है। सम्पूर्ण खेती प्रकृति पर ही छोड़ दी गई है। जितनी लगन के साथ भारत में रेल का चलन बढ़ाया गया है यदि उतनी लगन नहरों के लिये की गई होती तो आज यह देश भोजन की समस्या का शिकार न हुआ होता। जिस देश में किसान पशुओं तथा पक्षियों तक को अन्न खिलाते थे वहीं आज मनुष्य दाने-दाने को तरस रहे हैं। इसका कारण खेती की अवनति है। किसानों को हल-बैल के लिये उचित व्यवस्था हो जाय तो वह बिना किसी आन्दोलन के अधिक अन्न उत्पन्न कर सकता है। बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिये अखबारों की सहायता ली जाती है। यदि यह सहायता सीधे किसानों से ली जाय तो वे इतना अन्न पैदा कर सकते हैं कि विदेशों से अन्न मँगाने की कोई आवश्यकता न होगी। सरकार का कृषि-विभाग किसानों में ऐसी कोई योजना कार्यान्वित नहीं करता जिससे वे अपनी परिस्थिति के अनुसार खेती की उन्नति करें।

कुछ विद्वानों का कहना है कि जब तक खेती में वैज्ञानिक साधनों का

प्रयोग न किया जायगा तब तक इसकी समस्या हल नहीं हो सकती। वे योरप तथा अमेरिका आदि देशों से कृषि के आँकड़े उपस्थित करते हैं और उसका कारण वैज्ञानिक खेती बतलाते हैं। उनकी राय में खेतों की चकबन्दी होनी चाहिये और मशीन के हल द्वारा उनकी जोताई होनी चाहिये। वे सहकारी खेती पर भी बल देने लगे हैं। खाद के लिये वैज्ञानिक साधनों का आश्रय लेना चाहिये। खेती के और कामों में अधिक से अधिक मशीनों का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि इससे कार्य में सुविधा होगी और श्रम की भी बचत होगी। इसके विपरीत कुछ लोगों का कहना है कि बड़ी-बड़ी मशीनें भारत के लिये उपयुक्त नहीं हैं। इनका प्रयोग इने-गिने सरकारी फार्मों में भले ही किया जाय परन्तु साधारण किसानों को इससे कोई लाभ नहीं होगा। किसानों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए खेती की यह नई योजना सफल नहीं हो सकती। किसान श्रम करने से नहीं घबड़ाता। इसलिये उसके श्रम को बचाने के लिये मशीनों की बात सोचना बुद्धिमत्ता नहीं है। बिजली के कुओं की आवश्यकता को वह उतना अनुभव नहीं करता जितना पोखरे, तालाब अथवा साधारण कुओं की। वह जानता है कि ये योजनायें उसकी दरिद्रता का कारण बन सकती हैं। जिस प्रकार के हल-बैल रँहट तथा गाँवों के बने हुए अन्य साधारण औजारों से किसान अपनी खेती करता है उसी को अच्छी मात्रा में बढ़ाने की आवश्यकता है। कुछ वैज्ञानिकों ने भी यह कहा है कि यद्यपि भारतीय किसान शिक्षित नहीं हैं फिर भी उसकी खेती की पद्धति वैज्ञानिक है।

शिक्षा की वृद्धि के लिये जितनी भी योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं उनसे खेती में कोई लाभ नहीं है। भारत ऐसे कृषि प्रधान देश में खेती एक अनिवार्य विषय होना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी को अपने शिक्षा-काल में ऐसी ट्रेनिङ्ग मिलनी चाहिए जिससे वह खेती की साधारण बातों से भली-भाँति परिचित हो जाय। साथ ही यह शिक्षा ऐसी आकर्षक होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों का भी ध्यान खेती की ओर बढ़े। शिक्षित व्यक्तियों को खेती में लगाने के लिये सरकार को विशेष सुविधायें देनी चाहिए। इससे शिक्षित समुदाय गाँवों में निवास करेगा। आज देश के सामने यह भी एक समस्या है कि पढ़े-लिखे लोग गाँवों को छोड़ कर शहरों में चले आते हैं। इससे शहरों में घरबार, सफाई तथा शासन की समस्या उत्पन्न होती है और गाँवों की खेती, अन्य उद्योग-धन्धे तथा नागरिक जीवन को हानि पहुँचती है। जिस दिन भारत में खेती की समस्या हल हो जायगी उस दिन यहाँ की बहुत सी सामाजिक समस्यायें अपने-आप दूर हो जायँगी। खेती

की पढ़ाई के लिये आज कल के विश्व-विद्यालयों की तरह ऊँची शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। इस देश में ऐसे व्याहारिक ज्ञान की आवश्यकता है जिसके लाभ को विद्यार्थी स्वयं अनुभव करें। खेती की समस्या के साथ गाँवों के अन्य उद्योग-धन्धों की भी समस्या मिली हुई है। जब तक भारतीय किसान अपने भोजन के लिये अन्न, अपने पहनने के कपड़ों के लिये कपास और अपने घरबार के लिये लकड़ी आदि उत्पन्न नहीं कर लेता तब तक वह पूरा किसान नहीं है। खेती के साथ-साथ प्रत्येक किसान के घर में और भी उद्योग चलने चाहिये। तभी उसके आर्थिक जीवन में सुधार होगा।

घरेलू उद्योग-धन्धे

भारत अपने घरेलू उद्योग-धन्धों के लिये बहुत ही प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के अमूल्य वस्त्र तथा पच्चीकारी के सामान विदेशों में अच्छे मूल्य पर बिकते रहे हैं। बृटिश शासन में उन उद्योग-धन्धों को सर्वथा नष्ट कर दिया गया, फिर भी इनके अवशेष जगह-जगह पाये जाते हैं। इन उद्योग-धन्धों को कैसे नष्ट किया गया यह एक बहुत ही लम्बी और हृदय-विदारक कहानी है। कहा जाता है कि अंग्रेज झुंड के झुंड गाँवों में जाते थे और वहाँ के उद्योग-धन्धों का पता लगाते थे। कारीगरों का नाम रजिस्टरों में लिख लिया जाता था और उन्हें बुलाकर कुछ रुपया अनिवार्य रूप से अग्रिम दिया जाता था। उन्हें यह आज्ञा दी जाती थी कि या तो अपना उद्योग बन्द कर दें अथवा बना हुआ सब माल अंग्रेजी गोदामों में दे दें। जब वे माल तैयार करके गोदामों में लाते थे तो उन्हें लागत का भी पैसा नहीं दिया जाता था। इससे वे अपना उद्योग बन्द कर देने के लिये बाध्य कर दिये जाते थे। धीरे-धीरे सभी उद्योग बन्द कर दिये गये और सब लोग खेती पर ही निर्भर रहने लगे।

यद्यपि घरेलू उद्योग धन्धे नष्ट हो गये, फिर भी हम उनका पता लगा सकते हैं। यह प्राय: देखा जाता है कि गड़रिये भेड़-बकरी पालते हैं। भेड़ों से ऊन उतार कर कम्बल बुनते हैं। यह उद्योग आज भी नष्ट नहीं हुआ है और इसे बढ़ाया जा सकता है। खेती के अतिरिक्त किसान यह नहीं जानता कि फल और तरकारियों से उसे अधिक लाभ हो सकता है। पानी तथा बीज की सुविधा दे दी जाय और फल तरकारियों को शहरों में लाने का उचित प्रबन्ध हो तो किसान इस व्यवसाय से भी पैसा कमा सकता है। जिन देशों में बाग-बगीचों का चलन है वहाँ मधु-मक्खियाँ भी सुविधा के साथ पाली जाती हैं। पहाड़ी देशों में आज भी यह उद्योग किया जाता है।

इसे सभी गाँवों में फैलाया जा सकता है। कपास किसानों का कल्पवृक्ष कहा गया है। इसकी रुई से कपड़े बनते हैं, बिनौला गाय और भैंस को खिलाया जाता है, बाल और टहनियाँ जलाने के काम में आती हैं। रुई के काम में गाँव का सारा परिवार अपनी जीविका कमा सकता है। कताई, धुनाई, बुनाई, सिलाई, रंगाई, छपाई आदि व्यवसाय में कितने ही आदमी खप सकते हैं। कपड़े के व्यवसाय के साथ गाँवों में धान की कुटाई, मूंगफली की छिलाई, दालों की दलाई और तेलों की पेराई हर किसान घर बैठे कर सकता है। पहले गाँव में नमक बनाने का उद्योग प्रचलित था। यह नमक किसान अपने घरों में प्रयोग करता था और अपने पशुओं को भी खिलाता था। इससे वे हृष्ट-पुष्ट रहते थे। यह उद्योग भी चालू किया जा सकता है। तेली, कुम्हार, चमार, कोरी, जुलाहे, लोहार, बढ़ई, कसेरा, बंसफोर, सोनार और दूसरे कारीगर भी गाँवों में पाये जाते हैं। प्रायः सभी गाँवों में इन कारीगरों के अतिरिक्त पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी, शिक्षक, पहरेदार, बरुआ, ग्वाला, धोबी, दर्जी, नाई, कहार आदि भी पाये जाते हैं। यद्यपि इन सबका खेती से सीधा सम्बन्ध नहीं है, फिर भी गाँव के जीवन में इन सब की आवश्यकता पड़ती है।

जब योरप के देश बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन करने लगे तो उन्हें घरेलू उद्योग-धन्धों की कोई चिन्ता नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि बृटिश शासन के अन्दर भारत के सभी घरेलू उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। वस्त्र से लेकर उपयोग की छोटी से छोटी सामग्री मशीनों द्वारा तैयार की जाने लगी। पहले ये सामग्रियाँ बृटेन, अमेरिका, जर्मनी, जापान आदि देशों से आती थीं, परन्तु कुछ समय पश्चात् इनके कारखाने भारत में भी स्थापित किये गये। मशीनों के सामने हाथ की बनी हुई चीजें महँगी मालूम पड़ने लगीं और लोगों की रुचि भी उनमें कम होने लगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक साधनों की सहायता से मशीनों ने उत्पत्ति की मात्रा इतनी अधिक बढ़ायी कि बाजारों में नाना प्रकार की वस्तुयें दिखाई पड़ने लगीं। इनके मूल्य में भी कमी होती गई, जिससे इनका आकर्षण और भी बढ़ता गया। जिन वस्तुओं के उत्पादन में लाखों आदमी खपते थे और जिनसे उन सबकी जीविका चलती थी उन्हीं का उत्पादन थोड़े से लोगों द्वारा मशीनों की सहायता से किया जाने लगा। इससे देश में बेकारी की समस्या है और लोगों को जीविका का कोई साधन दिखाई नहीं देता। यह समस्या किसी न किसी रूप में आज भी हमारे देश के सामने उपस्थित है। महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ इस समस्या को भी

जोड़ दिया था। उनका कहना था कि जब तक देश के लोग रचनात्मक कार्यों में नहीं लगेंगे तब तक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य न होगा। शिक्षित व्यक्तियों को वे यही सलाह देते थे कि वे किसी न किसी उद्योग में लगें जिससे उनकी भलाई के साथ सैकड़ों आदमी की जीविका चले।

इस समय देश में दो प्रकार की विचार धारायें काम कर रही हैं। कुछ लोग मशीनों के विरुद्ध हैं। वे नहीं चाहते कि बड़े-बड़े कल-कारखानों की वृद्धि की जाय। उनका कहना है कि इससे मशीनों के मूल्य के रूप में करोड़ों रुपया देश से बाहर चला जाता है और नगरों में मजदूरों की समस्या उत्पन्न होती है। इसीसे पूँजीवाद की भी वृद्धि होती है और दीन-दुखियों का शोषण होता है। गाँवों से किसान और मजदूर जोविका की खोज में नगरों में जाते हैं जिससे खेती में मजदूरों का अभाव होता है। इनकी सलाह है कि राष्ट्रीय सरकार को छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को चालू करने में अपनी पूरी शक्ति लगानी चाहिये। इससे अपने परिवार में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपनी रोटी की समस्या हल कर लेगा। उसे कहीं आने-जाने की आवश्यकता न होगी। दूसरी विचार धारा इसके सर्वथा प्रतिकूल है। इसके समर्थक घरेलू उद्योग-धन्धों को कोई महत्व नहीं देते। उनका कहना है कि वर्तमान वैज्ञानिक युग में बड़े पैमाने पर ही वस्तुओं का उत्पादन सुलभ है। जो देश विज्ञान का उपयोग नहीं करेगा वह पीछे पड़ जायगा और संसार उसे पिछड़ा हुआ समझेगा। देश की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है, लोगों की आवश्यकतायें भी पहले से अधिक हो रही हैं। इनकी पूर्ति छोटे पैमाने के उत्पादन से नहीं की जा सकती। यदि मशीनों से उत्पादन में वृद्धि होती है तो उनका उपयोग अवश्य करना चाहिए। इससे जो समस्यायें उत्पन्न होती हैं उनके निवारण के लिये कितने ही उपाय किए जा सकते हैं। इन दोनों विचार धाराओं को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि पाश्चात्य सभ्यता समस्याओं को उत्पन्न करती है और फिर उन्हें सुलझाने का प्रयत्न करती है। भारतीय सभ्यता इसके विरुद्ध है। इसका प्रयास यही रहता है कि समस्यायें उत्पन्न ही न हों। भारत का हित इसी में है कि वह घरेलू उद्योग-धन्धों को जीवित करे। यदि देश के नेताओं ने इस दिशा में ढिलाई की तो करोड़ों भारतवासी जीविका की समस्या के शिकार होंगे।

मजदूरों की समस्या

जब तक भारतीय सभ्यता का बोलबाला था तब तक दूसरों से सेवा कराना दोष माना जाता था। प्रत्येक व्यक्ति इस बात का प्रयत्न करता था कि वह अपने कार्यों में दूसरों की सहायता न ले। अपना कार्य स्वयं कर लेना गौरव

की बात समझी जाती थी। संस्कृत के विद्वान् अपने विद्यार्थियों को इसी बात की शिक्षा देते थे कि वे दूसरों के हाथ से पानी तक ग्रहण न करें। प्रत्येक विद्यार्थी अपने हाथ से लकड़ी तोड़ता और अपना भोजन बनाता था। भारतीय समाज में श्रम करना गौरव की बात थी। विदेशी शिक्षा के प्रभाव ने श्रम की मर्यादा को भंग कर दिया। काम न करना ही सभ्यता का चिह्न ठहराया गया। जिसके पास जितने ही सेवक हों वह उतना ही प्रतिष्ठित समझा जाने लगा। धनीमानी तथा शिक्षित व्यक्ति काम से जी चुराने लगे। इससे श्रम का भार थोड़े से लोगों पर पड़ने लगा और अधिकांश मनुष्य उन्हीं पर निर्भर करने लगे। मजदूरों की समस्या का यही एक कारण है। यदि सब लोगों में अपना काम अपने-आप कर लेने की प्रवृत्ति हो जाय तो मजदूरों की कोई समस्या नहीं है। परन्तु जब प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य दूसरों से कराना चाहता है तो यह स्वाभाविक है कि समाज में मजदूरों की कमी होगी। लोग प्रायः मजदूरों को छोटी दृष्टि से देखते हैं। मजदूर बनना समाज में तिरस्कृत होना है। इससे एक दूसरी समस्या उत्पन्न होती है। जब श्रम के बिना समाज का कार्य नहीं चल सकता तो श्रमिकों को तुच्छ समझना और भी भयंकर है। इसका निदान यही है कि लोगों में श्रम करने का भाव पैदा किया जाय। कवि, लेखक, वकील, डाक्टर, अध्यापक तथा अन्य पदाधिकारी मस्तिष्क का कार्य करते हुए भी शारीरिक परिश्रम में अपना समय दें। इसी से श्रम का गौरव बढ़ेगा और दूसरों से काम लेने की प्रवृत्ति कम होगी।

जब से नगरों में कल-कारखाने खुलने लगे और गाँवों के घरेलू उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये तभी से मजदूरों की समस्या भयंकर रूप धारण करने लगी। गाँवों के मजदूर नगरों में जाने लगे। बड़ी-बड़ी मिलों में हजारों की संख्या में इन्हें काम दिया गया। मिल मालिकों ने इस बात का कोई ध्यान नहीं रखा कि ये मजदूर कहाँ रहते हैं, कैसे रोटी बनाते हैं और किस प्रकार अपने स्त्री-बच्चों की सहायता करते हैं। नगर की गन्दी से गन्दी जगहों में इन मजदूरों का निवास होता था और एक छोटी सी अंधेरी कोठरी में सैकड़ों मजदूर अपने स्त्री-बच्चों के साथ रहते थे। वर्षों इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण जब मजदूरों में थोड़ी जागृति उत्पन्न हुई है तो उन्होंने अपनी माँगें उपस्थित की हैं। प्रत्येक मिल में मजदूरों का एक संगठन बनाया गया है। यह संगठन अखिल भारतीय मजदूर संगठन के साथ जोड़ दिया गया है। मजदूरों का कहना है कि उन्हीं के परिश्रम से मिल मालिकों को

करोड़ों रुपये का लाभ होता है। इसलिये उनका वेतन बढ़ना चाहिये, उनके रहने के लिये साफ-सुथरे खुले हुए मकान बनने चाहिये तथा उनके बच्चों की पढ़ाई-लिखाई अथवा मनोरंजन के लिये संस्थायें स्थापित होनी चाहिये। वे यह भी चाहते हैं कि उनके साथ मनुष्यता का व्यवहार होना चाहिये। उनके अवकाश, उनकी चिकित्सा तथा उनकी वृद्धावस्था के लिये उचित प्रबन्ध होने चाहिये। राष्ट्रीय सरकार उनकी इन माँगों पर काफी ध्यान देने लगी है। मजदूरों की अनिवार्य बीमा योजन काम में लाई जा रही है। उनके रहने के लिये निवास स्थान भी बनाये जा रहे हैं। काम के घन्टे निश्चित कर दिये गये हैं तथा उनकी मजदूरी की न्यूनतम दर निर्धारित कर दी गई है। मालिकों की ओर से थोड़ा भी दुर्व्यवहार होने पर मजदूर हड़ताल करते हैं और अपनी संगठन शक्ति का उपयोग करते हैं। इस समस्या को पूरी तरह हल करने का यही साधन है कि या तो उद्योग-धन्धों का विकेन्द्रीकरण किया जाय अथवा मजदूरों की सभी माँगें पूरी की जायँ।

सहयोग की भावना

सहकारिता आन्दोलन को देखकर कुछ लोग यह अनुमान करते हैं कि भारत में सहयोग की भावना कम है। सहकारिता आन्दोलन का वर्तमान स्वरूप विदेशी है। इसीलिये उनका अनुमान बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है। जिस प्रकार भारतीय उन्नति की सभी भावनायें गाँवों में पाई जाती हैं उसी प्रकार सहयोग की भावना भी वहीं दिखाई पड़ती है। उसे समझने के पश्चात् वर्तमान सहकारिता आन्दोलन कोई महत्व नहीं रखता। गाँवों में आज भी सभी कार्य एक दूसरे के सहयोग से किये जाते हैं। इसके लिये किसी प्रकार के प्रचार और उपनियम बनाने की आवश्यकता नहीं है। सम्भव है इसीलिये हमारे देश के शिक्षित व्यक्ति इनके महत्व को कम समझते हैं। नाई गाँव के लोगों का बाल बनाता है और साल के अन्त में सब से थोड़ा-थोड़ा अन्न पाता है। धोबी सब के कपड़े धोता है और उसे भी अन्न दिया जाता है। खेती में लगे हुए मजदूर किसानों से अन्न और खेत पाते हैं। मोची गाँव भर का जूता बनाता है। मृत्यु, उत्सव, खेलकूद, मनोरंजन तथा विवाहादि अवसरों पर सब लोग सम्मिलित होते हैं। जब गाँवों में किसी की मृत्यु हो जाती है तो उस दिन सारे गाँव का भोजन बन्द हो जाता है। जब गाँव में कोई कुआँ बनता है तो सब लोग अपना काम बन्द करके उसमें हाथ बटाते हैं। किसी पर जब कोई दैवी विपत्ति आती है तो सब लोग उसकी सहायता करते हैं। गाँवों में जो

वस्तुयें उत्पन्न होती हैं उन्हीं के आदान-प्रदान से सब का काम चलता है। पैसे का चलन गाँव में कम है। इतने अच्छे सहयोग के रहते हुए भी हम विदेशों से सहयोग का आन्दोलन सीखें—यह उल्टी सी बात है। जिस प्रकार विदेशी शासन में हमारे उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये हैं उसी तरह हमारी सहयोग की भावना भी मन्द पड़ गई है। हमें उसी को जागृत करने की आवश्यकता है। नगरों के रहने वाले ग्रामवासियों से इस दिशा में बहुत कुछ सीख सकते हैं।

शिक्षा और बेकारी

ऊपर कहा गया है कि शिक्षित व्यक्ति हाथ से कार्य करना अपमान समझता है। वह केवल लिखने-पढ़ने का काम करना चाहता है। जब समाज की आवश्यकताओं को देखा जाता है तो उसमें जीविका का प्रश्न सब से प्रथम स्थान रखता है। मनुष्य शिक्षित हो अथवा अशिक्षित परन्तु उसे भोजन और वस्त्र अवश्य मिलना चाहिये। शिक्षा के बिना समाज का कार्य चल सकता है, परन्तु भोजन और वस्त्र के बिना वह एक दिन भी नहीं टिक सकता। किसी देश में शिक्षा की कमी के कारण कोई क्रान्ति नहीं हुई है। भारत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यहाँ की ६० प्रतिशत जनता अशिक्षित रही है, परन्तु उसने इसके लिये कोई गम्भीर रूप धारण नहीं किया। भोजन-वस्त्र के लिये संसार में कितनी ही क्रान्तियाँ हुई हैं और भविष्य में भी इनके होने की सम्भावना रहती है। शिक्षा का महत्व भोजन और वस्त्र के पश्चात् दिखाई पड़ता है। किसी भूखे मनुष्य से यह पूछा जाय कि उसे रोटी चाहिये या ईश्वर तो वह रोटी के सामने ईश्वर को ठुकरा देगा। इसीलिये जिस शिक्षा में परिश्रम का भाव नहीं है और जो रोटी की समस्या हल नहीं करती वह समाज के लिये घातक है। अंग्रेजी शिक्षा भारतवासियों के लिये इसी प्रकार की एक समस्या है।

वर्तमान युग में शिक्षित व्यक्ति समाज पर बहुत बड़ा भार है। शिक्षा से उसकी रहन-सहन का दर्जा बढ़ जाता है। उसकी आवश्यकतायें पहले से अधिक हो जाती हैं। वस्तुओं के उपयोग की उसकी जानकारी भी बढ़ जाती है। उसके व्यय के लिये एक लम्बी राशि की आवश्यकता पड़ती है। शिक्षा काल में छात्रावास के अन्दर उसे एक ऐसे जीवन का अभ्यास होता है जिसमें पानी तक के लिये सेवकों की आवश्यकता पड़ती है। इस विलासी जीवन में वह पैसे के मूल्य को नहीं समझता। शिक्षा समाप्त होने के पश्चात् जब वह जीवन में प्रवेश करना चाहता है तो उसे चारों ओर अँधेरा दिखाई पड़ता है। नौकरी के अतिरिक्त उसे कोई मार्ग दिखाई नहीं

पड़ता। नौकरी में भी वह उन्हीं की खोज करता है जिनमें कम से कम परिश्रम हो और अधिक से अधिक पैसे मिलें। वह ऐसी नौकरियों को और भी लगन से खोजता है जिनमें अनुचित रीति से धन कमाने का अवसर मिले। तात्पर्य यह है कि उसकी शिक्षा उसके मानसिक पतन का कारण बन जाती है। परिश्रम को छोड़कर वह अपना स्वास्थ्य नष्ट करता है और नौकरियों में अनुचित लाभ को ग्रहण कर वह अपना लौकिक जीवन भी खो बैठता है। जिस शिक्षा का उद्देश्य इतनी निम्न श्रेणी का है उससे समाज का क्या कल्याण हो सकता है ? शिक्षित व्यक्ति विलासी जीवन को अधिक पसन्द करता है। वह दूसरों से कार्य लेना अपना गौरव समझता है। उसकी इच्छा होती है कि किसी भी रीति से उसे अधिक से अधिक पैसे मिलें जिससे वह भोग की सामग्री एकत्र करे। यही कारण है कि केवल १२ या १४ प्रतिशत व्यक्तियों में शिक्षा का प्रचार होने पर बेकारी की एक गम्भीर समस्या समाज के सामने उपस्थित है। यदि यही शिक्षा समस्त भारतीयों को दे दी जाय तो इसके भयंकर परिणाम का हम अनुमान कर सकते हैं।

बृटिश शासन में शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य नौकरी रहा है। पढ़े-लिखे लोग सरकारी कार्यालयों में नौकरी करना अपना गौरव समझते थे। शिक्षा में किसी प्रकार के उद्योग-धन्धे को स्थान नहीं दिया गया था। इसीलिये लोगों में स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न नहीं होती थी। शिक्षा का विदेशी स्वरूप आज भी बना हुआ है। राष्ट्रीय सरकार ने पाठ्य ग्रन्थों तथा शिक्षा संस्थाओं के संगठन में कितने ही परिवर्तन किये हैं, परन्तु इससे शिक्षा की समस्या हल नहीं हुई है। जब तक शिक्षा के उद्देश्य में और इसकी संस्थाओं में आमूल परिवर्तन नहीं किया जाता तब तक शिक्षा के सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध होंगे। कालेज तथा विश्वविद्यालयों की वृद्धि से शिक्षा की समस्या हल नहीं होगी। जब तक शिक्षित व्यक्तियों में शारीरिक परिश्रम का भाव पैदा नहीं होगा तब तक उनकी नौकरी की मृगतृष्णा बनी रहेगी। किसी वैज्ञानिक ने इस बात की खोज की है कि कोई भी देश अधिक से अधिक ३६ प्रतिशत व्यक्तियों को नौकरी में लगा सकता है। शेष व्यक्तियों को किसी स्वतन्त्र व्यवसाय में लगना होगा। वर्तमान शिक्षा नौकरी पाने का एक साधन है। राष्ट्रीय सरकार को इस कड़ी को तोड़ देना चाहिये। ऊँची शिक्षा के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को जो रिपोर्ट उपस्थित की गई है उसमें यह सुझाव दिया गया है कि किसी भी सरकारी नौकरी में परीक्षा के प्रमाण-पत्र का प्रतिबन्ध नहीं रहना चाहिये। इसी से योग्य व्यक्तियों को, बिना प्रमाण-पत्र

के भी, कार्य करने का अवसर मिलेगा। जब शिक्षा से बुद्धि का विकास होता है तो उस विकसित बुद्धि का पूरा उपयोग करना चाहिये। शिक्षा में बेकारी को हल करने के लिये महात्मा गाँधी ने बुनियादी शिक्षा की योजना तैयार की थी। जिस रूप में यह योजना आज कार्यान्वित की जा रही है वह मूल योजना का विकृत रूप है। शिक्षा आरम्भ से ही स्वावलम्बी होनी चाहिये तभी उसमें बेकारी की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती।

आर्थिक जीवन और सामाजिक रीतियाँ

भारत के आर्थिक जीवन के ह्रास को देखते हुए लोगों की दृष्टि इनके कारणों की ओर गई है। कुछ कारणों का वर्णन ऊपर किया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ आन्तरिक कारण भी बतलाए गये हैं। लोगों का कहना है कि भारतीय समाज में कुछ ऐसी कुरीतियाँ हैं जो इसके आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव डालती हैं। वर्ण व्यवस्था का बन्धन अब बहुत कुछ ढीला हो गया है। ऊँचे वर्णों के लोग कितने ही उद्योग-धन्धों को त्याज्य समझते हैं। यह कार्य उनके लिये धर्म-विरुद्ध है। गरीबी की दशा में भी वे आर्थिक उन्नति के लिए कितने ही कार्यों को नहीं कर सकते। छूत-अछूत का भाव, जो काफी अंश में दूर हो गया है, आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव डालता है। कितने ही व्यक्ति इसी भय से देश-देशान्तरों में जाकर कार्य करने से हिचकते हैं। पारिवारिक मोह भी भारतवासियों के लिये एक बहुत बड़ा बंधन है। इस देश में सम्मिलित परिवार की प्रथा होने से कितने ही प्राणी थोड़े से व्यक्तियों की आय पर जीवन निर्वाह करते हैं। सब के मन में जीविकोपार्जन का भाव उत्पन्न नहीं होता। यदि कुटुम्ब में एक भी व्यक्ति किसी बड़े पद को प्राप्त कर लेता है तो सम्पूर्ण परिवार उसकी आय में भागी होता है। इससे परिवार का व्यय बढ़ जाता है परन्तु उसकी आय में वृद्धि नहीं होती।

धार्मिक प्रतिबन्ध के कारण भारतीय समाज में कुछ ऐसी रीतियाँ प्रचलित हैं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति को बाध्य होकर समय-समय पर अधिक धन व्यय करना पड़ता है। यदि वह गरीब है तो दूसरों से ऋण लेकर अपने सम्मान की रक्षा करता है। इन रीतियों को न मानना अपमानसूचक समझा जाता है। विवाह के समय आवश्यकता से अधिक धन व्यय किया जाता है। लड़कियों के विवाह में दहेज की कुप्रथा से कितने ही माता पिता जीवन पर्यन्त के लिए दरिद्र और ऋणी हो जाते हैं। लड़कों के विवाह में

आभूषण, नाच, बाजा, आदि के लिए जितना धन व्यय किया जाता है वह लोगों की शक्ति से बाहर होता है। मृत्यु संस्कार तक में प्रचलित रीतियों को पूरा करने के लिए एक लम्बी राशि लगानी पड़ती है। समाज में अपने सम्मान की रक्षा के लिये लोगों को बाध्य होकर इन्हें करना पड़ता है। इतना व्यय करने पर भी प्रत्येक भारतवासी भाग्यवादी है। वह इस बात में विश्वास करता है कि अमीरी-गरीबी सब ईश्वर की देन है। उसके दर्शनशास्त्र भी इसका समर्थन करते हैं। तुलसीदास ने लिखा है :—

होइहैं सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा ॥
सुनहु भरत भावी प्रबल, विलखि कहेउ मुनि नाथ।
हानि लाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ ॥

यदि भारतीय जनता सम्पन्न होती तो उसके लिये इन रीतियों का कुछ मूल्य हो सकता था। उस दशा में वह जितना भी दान-पुण्य करती, सब ठीक था। ये रीतियाँ उसी समय की हैं जब भारत की आर्थिक स्थिति बहुत ही अच्छी थी। लोग पूजा, हवन, यज्ञ आदि अवसरों पर अन्न, घी, गुड़ आदि अग्नि में जलाते थे। दूध से मूर्तियों को स्नान कराया जाता था। वर्तमान स्थिति में इन बातों की शोभा नहीं रही। आज देश इतना गरीब है कि लोगों को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में इन रीतियों का चलन बहुत कुछ बन्द होना चाहिये। जहाँ तक धार्मिक महत्व का प्रश्न है, लोग इनमें अवश्य विश्वास रखें, परन्तु इनके कारण आर्थिक अपव्यय नहीं होना चाहिये। आज सभी लोग यह अनुभव करते हैं कि इन रीतियों को निबाहने में उन्हें कठिनाइयाँ हो रही हैं और इससे उनकी आर्थिक स्थिति और भी बिगड़ती है। तीर्थस्थानों तथा देवी-देवताओं की मूर्तियों पर जो दान दिया जाता है उसका भी वर्तमान समय में कोई विशेष उपयोग नहीं है। यदि उनसे समाज की उन्नति के लिये कोई कार्य किया जाता तो उनका उपयोग हो सकता था। आज यह दान एक गृहस्थ के घर से निकल कर दूसरे के घर चला जाता है। एक की श्रद्धा और धार्मिक विश्वासों से लाभ उठाकर दूसरा धनवान और विलासी बन जाता है। यदि इस दान से अनाथालय, गोशाला, पाठशाला आदि चलाई जायँ तो इसका बहुत बड़ा महत्व है।

अध्याय २५

हमारा धार्मिक जीवन

धर्म की प्रधानता

जिस प्रकार व्यवसाय में हमारा देश कृषि प्रधान है उसी प्रकार विचारों में यह धर्म प्रधान है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि मुख्य धार्मिक सम्प्रदाय हैं। इन सबमें धार्मिक भावना अधिक पायी जाती है। इनके धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन पृथक्-पृथक् करने से इसकी जानकारी अच्छी तरह हो सकती है। जहाँ तक इन विभिन्न सम्प्रदायों में धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों का प्रश्न है, इसका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी क्रियाओं में धर्म को प्रमुख स्थान देता है। हिन्दू धर्म इस देश का सब से प्राचीन धर्म है। इसे सनातन धर्म भी कहते हैं। इस धर्म की दो प्रधान शाखायें हैं। एक को वैष्णव सम्प्रदाय और दूसरे को शैव सम्प्रदाय कहते हैं। इनमें प्रत्येक में कितने ही उपसम्प्रदाय पाये जाते हैं। यद्यपि इस देश में शिक्षा का अभाव है, परन्तु उसके कारण धर्म की मर्यादा कम नहीं है। जो जितना ही अशिक्षित है वह धर्म का उतना ही बड़ा उपासक है। शिक्षित समाज में धर्म के प्रति उदासीनता पाई जाती है। विज्ञान की उन्नति से श्रद्धा और विश्वास की भावना कम हो रही है। सभी बातें तर्क के आधार पर परखी जाती हैं। धर्म में तर्क से बढ़ कर विश्वास की आवश्यकता पड़ती है। धार्मिक सिद्धान्त इतने गम्भीर हैं कि उनकी व्याख्या सब के लिये सुलभ नहीं हैं। इसीलिये उनकी मान्यता के लिये विश्वास की आवश्यकता होती है। नवीन विचारों का प्रचार कम होने से भारतीयों में विश्वास की भावना अधिक पायी जाती है। इसीलियें सम्पूर्ण समाज धर्म से ओत-प्रोत है।

जीवन के गूढ़ रहस्यों पर जितना विचार हिन्दू धर्म में किया गया है उतना किसी और धर्म में नहीं किया गया है। जीवन-मरण की समस्याओं पर भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने बहुत ही गूढ़ विवेचन किया है। भारतीय दर्शन की सभी शाखायें इनकी विवेचना करती हैं। वेद और उपनिषद् इन्हीं विचारों से सम्बन्धित हैं। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य धार्मिक

विचारों से भरा हुआ है। राजनीति और इतिहास की भी चर्चा धर्म के ही प्रसंग में की गई है। धर्म का क्षेत्र इतना व्यापक है कि भारतीय सभ्यता, कला, विज्ञान सभी इसके अंग माने गये हैं। धर्म से रहित मनुष्य का जीवन पशुवत माना गया है। मनुष्य तथा अन्य जीवों में भेद का कारण धर्म ही है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य धर्म से ही जाना जा सकता है। सभी धर्म पहले मन में उत्पन्न होते हैं, इसलिये मन ही मुख्य है। इसीलिये हिन्दू धर्म मन की शुद्धि पर सब से अधिक बल देता है। धार्मिक ग्रन्थों में मन की विभिन्न गतियों पर विचार किया गया है और उसे राग, द्वेष तथा मोह से बचाने का प्रयत्न किया गया है। आत्मसंयम हिन्दू धर्म की कसौटी है। हमारे ऋषि-मुनि यह जानते थे कि सूखे ज्ञान मात्र से सन्तोष नहीं होता। जब तक क्रोध, मोह, माया, लोभ, ईर्ष्या आदि प्रवृत्तियों को नहीं दबाया जाता तब तक हमारे विचार शुद्ध नहीं हो सकते। प्रत्येक धार्मिक महापुरुष का जीवन आत्मसंयम का प्रतीक है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ तथा संन्यास संयम की ही विभिन्न श्रेणियाँ हैं। हिन्दू धर्म का प्रधान अंग या लक्षण सयम है। मूर्तियों, चित्रों, मन्दिरों तथा मठों में आत्म-संयम की स्पष्ट झलक है। यह सभी मानते हैं कि यूनान की मूर्तिकला में शारीरिक सौंदर्य है, परन्तु भारतीय मूर्ति कला में नैतिक सौंदर्य है।

ऊपर कहा गया है कि हिन्दू धर्म को सनातन धर्म भी कहते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे आर्य धर्म कहा है।

हिन्दू धर्म

हिन्दू धर्म वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों में विभाजित है। वैष्णव सम्प्रदाय के लोग विष्णु की और शैव सम्प्रदाय के लोग शिव की उपासना करते हैं। वैष्णव साधु अपने मस्तक पर खड़ा तिलक लगाते हैं और शैव साधु पड़ा त्रिपुण्ड्र लगाते हैं। इनकी उपासना विधियों में भी अन्तर है। हिन्दू धर्म धार्मिक समुदायों का समूह है। बौद्ध, जैन, कबीर पंथ, नानक पंथ, दादू पंथ, मुख्य सम्प्रदाय हैं। इस धर्म के अनुयायियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है—आस्तिक और नास्तिक। जो ईश्वरवादी हैं वे आस्तिक कहलाते हैं और शेष नास्तिक हैं। बुद्ध धर्म नास्तिक कहा जाता है क्योंकि इसमें ईश्वर की उपासना नहीं की जाती है। यद्यपि बुद्ध ने ईश्वर का कहीं खण्डन नहीं किया है, परन्तु इसको कहीं स्थान भी नहीं दिया है। प्रायः सभी सम्प्रदाय धर्म की दो परिपाटियाँ मानते हैं। साधु धर्म और गृहस्थ धर्म। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी धार्मिक जीवन आवश्यक ठहराया गया है, परन्तु वह साधुओं के धार्मिक जीवन से भिन्न है। साधु-संन्यासियों

के लिये धार्मिक क्रियाओं का बन्धन अत्यन्त कठोर हैं। हिन्दू धर्म में दो जीवन की कल्पना की गई है—लौकिक जीवन और पारलौकिक जीवन। लौकिक जीवन सांसारिक जीवन है जिसमें मनुष्य भोग का जीवन व्यतीत करता है। इसी जीवन में वह सेवा, त्याग और संयम आदि गुणों का अभ्यास करता है। पारलौकिक जीवन आध्यात्मिक जीवन है। यह जीवन अत्यन्त संयमी है जो लौकिक जीवन से ऊँचा माना गया है।

संसार की उत्पत्ति के प्रसंग में यह कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष से इसकी उत्पत्ति होती है। मनुष्य का जीवन मृत्यु के पश्चात् ही समाप्त नहीं हो जाता। कर्म के अनुसार मनुष्य दूसरी योनियों में बार-बार जन्म लेता है। वह जीवन-मरण के इस जाल से तब तक नहीं निकलता जब तक उसे मोक्ष अथवा निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, जो हिन्दू धर्म के अनुसार मनुष्य का अन्तिम ध्येय है। इसी से वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो सकता है। अधिकांश हिन्दू सम्प्रदाय अवतारवाद में विश्वास करते हैं। राम और कृष्ण के अतिरिक्त १२ अन्य अवतार भी माने गये हैं। इस धर्म के अनुसार जीव अमर है। इसका कभी अन्त नहीं होता। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति अनादि काल से हैं और सर्वदा रहेंगे। ईश्वर इस विश्व का कर्ता है। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जड़ और चेतन पदार्थों से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है। मनुष्य अपने कर्म के अनुसार स्वर्ग और नरक की प्राप्ति करता है।

हिन्दू धर्म का प्रधान ग्रन्थ वेद है। इनकी संख्या ४ है—ऋगवेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद् हैं। वेदांगों में वेदों का अर्थ समझने की विधियाँ हैं। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष और निरुक्त—इन्हें वेदांग कहते हैं। आयुर्वेद, गंधर्ववेद, धनुर्वेद तथा अर्थशास्त्र—ये ४ उपवेद हैं। न्याय, वेदान्त, मीमांसा, योग, सांख्य और वैशेषिक—ये ६ दर्शन हैं। इन्हें 'श्रुति' कहते हैं। इनके अतिरिक्त १८ स्मृतियाँ हैं। १८ पुराण, महाभारत, श्रीमद्भागवत गीता भी हिन्दू धर्म की व्याख्या करते हैं। इन्हीं धर्म ग्रन्थों के अनुसार हिन्दू धर्म अत्यन्त प्राचीन माना गया है। इसका इतिहास ग्रन्थकाल, ब्राह्मण काल, उपनिषद् काल, स्मृति काल, भक्ति मार्ग काल तथा पौराणिक काल में विभाजित किया गया है। हिन्दू धर्म में यज्ञ, जप, दान और तप पर अधिक बल दिया गया है। जीवन की शुद्धता धर्म के लिये आवश्यक मानी गई है।

जैन, बौद्ध तथा सिक्ख धर्म हिन्दू धर्म से पृथक् होते हुए भी इसके अंग माने जाते हैं। जैनधर्म इन सब में प्राचीन माना गया है। इसकी स्थापना ईसा से पहले छठी शताब्दी में महावीर स्वामी ने की थी। परन्तु जैनियों का विश्वास है कि महावीर स्वामी से पहले कितने ही और तीर्थंकर हो चुके हैं। जैनियों के धर्म गुरु तीर्थंकर कहलाते हैं। जैनी वेदों की प्रामाणिकता नहीं मानते। श्रद्धा, ज्ञान और सदाचार इस धर्म के त्रिरत्न माने गये हैं। मनुष्य में श्रद्धा होनी चाहिये; सत्यों का यथार्थ ज्ञान होना चाहिये तथा उसे सन्मार्ग पर चलना चाहिये। जैनी ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और न किसी देवी-देवता को मानते हैं। कर्म से ही मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। अहिंसा में इनका पूर्ण विश्वास है। इनका धर्म ग्रन्थ 'आगम' कहलाता है। जैनी दो सम्प्रदायों में बँटे हुये हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। इनकी सख्या १४ लाख के लगभग है। बौद्ध धर्म जैन धर्म से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसके संस्थापक गौतम बुद्ध हैं। बौद्धों के धर्म ग्रन्थ 'त्रिपिटक' कहलाते हैं। त्रिपिटक में सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक हैं। बौद्ध जातक भी इसके धर्म ग्रन्थों में ही सम्मिलित किए गए हैं। यह धर्म तिब्बत, चीन, जापान ब्रह्मा तथा लंका आदि देशों में प्रचलित है। भारत में इसके अनुयायी बहुत कम हैं। यह धर्म भी अहिंसा पर सब से अधिक बल देता है। आशा और तृष्णा दुख का कारण मानी गई हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। सद्विश्वास, सदिच्छा, सद्भाषण, सत्कार्य, सत्‌जीवन, सदुद्योग, सद्विचार और सद्‌एकाग्रता इस धर्म के ८ मार्ग हैं। ईश्वर और आत्मा में बौद्ध विश्वास नहीं करते। महायान और हीनयान इसके दो सम्प्रदाय हैं।

सिक्ख धर्म का उद्‌गम स्थान पंजाब है। गुरु नानक ने पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में इसकी स्थापना की थी। यह धर्म ईश्वर में विश्वास करता है। इसकी ईश्वर की कल्पना वैसी ही है जैसी वैदिक धर्म की। बौद्ध तथा जैन धर्म के समान यह धर्म भी जाति-पाँति तथा ऊँच-नीच में विश्वास नहीं करता। ईश्वर भक्ति मुक्ति का साधन है। इस धर्म में गुरु को सब से अधिक प्रधानता दी गई है। उसी की कृपा से ज्ञान का मार्ग ग्रहण किया जा सकता है। जीवन की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया है। इनका धर्म ग्रन्थ 'ग्रन्थ साहब' कहलाता है, जिसमें ३०००० के लगभग पद्य हैं। इसमें कुल १० गुरु हुए हैं। अंतिम गुरु गुरु गोविन्दसिंह ने गुरु परम्परा को बंद कर दिया था। सिक्खों के संगठन को 'खालसा-संगत' कहते हैं। इसमें भी दो सम्प्रदाय हैं—नानक पन्थी और खालसा पन्थी। सिक्ख पंच ककार में

विश्वास करते हैं—कंघी, कच्छ, केश, कृपाण और कड़ा। इनका संगठन सैनिक संगठन के समान है।

इस्लाम

इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब माने जाते हैं। इनका जन्म ५७० ई० में मक्का के एक पुजारी वंश में, जिसे कुरैश कहते हैं, हुआ था। मुसलमान इन्हें पैगम्बर अथवा अवतार मानते हैं। कुरान इनका धर्म ग्रन्थ है। इनका धार्मिक सिद्धान्त बहुत सरल और संक्षिप्त है। इसके अनुसार ईश्वर एक है और वह साकार है। उसका निवास स्थान इस संसार से दूर सातवें आसमान पर है। मनुष्य संसार में केवल एक बार जन्म लेता है। वह जैसा पुण्य अथवा पाप कर्म करता है उसी के अनुसार स्वर्ग और नरक में जाता है। प्रत्येक मुसलमान के लिये नमाज, रोजा, दान और हज मुख्य ठहराये गये हैं। देवताओं अथवा उनकी मूर्तियों का पूजन करना, शराब पीना तथा सुअर का मांस खाना हराम है। मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् (६२२ ई०) इस्लाम धर्म कई सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। पहिला सम्प्रदाय इब्नसबा के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद शिया तथा अन्य सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। मुसलमानों के दो सम्प्रदाय शिया और सुन्नी विशेष प्रसिद्ध हैं। शिया लोग ताजिया रखते हैं और मुहर्रम मनाते हैं। ये बहुत ही उदार होते हैं। ये सुन्नत में विश्वास नहीं करते। सुन्नी लोग कट्टर पंथी मुसलमान माने जाते हैं। इनकी संख्या शिया लोगों से अधिक है।

मुसलमानों में सूफी सम्प्रदाय बहुत ही प्रसिद्ध है। 'सूफी' शब्द यूनानी भाषा का है। मुसलमान लेखकों ने सूफी शब्द को निम्नलिखित अर्थों में प्रयोग किया है:—

१—सूफी वे लोग हैं जिन्होंने सब कुछ छोड़कर ईश्वर को अपनाया है।

२—जिनका जीवन-मरण केवल ईश्वर पर है।

३—जो सम्पूर्ण शुभाचरणों से पूर्ण तथा सम्पूर्ण दुराचरणों से मुक्त हैं।

४—जिस व्यक्ति को कोई दूसरा पसन्द न करे और वह किसी को पसन्द करे।

५—जो अपने आपको बिल्कुल ईश्वर को सौंप दे।

६—जहाँ पवित्र जीवन, त्याग और शुभ गुण एकत्र हों।

सूफी शब्द की व्याख्या करते हुए एक विद्वान् ने लिखा है कि सूफी पंथ ज्ञान और आचरण के मिश्रण का नाम है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त वेदांतियों के सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। सूफी दर्शन में जीव

ब्रह्म का ही अंश है और जीव का ब्रह्म में लीन होना उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव के साथ जगत् भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जीव को ब्रह्म से मिलने का एक ही रास्ता है, वह है प्रेम। सूफी योग की बहुत सी सीढ़ियाँ हैं जो हिन्दुओं के योग सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। इष्ट-मित्र, कुटुम्ब तथा धन-दौलत से अलग होना योग की पहली सीढ़ी है। एकान्त चिन्तन दूसरी सीढ़ी है। ध्यान करते समय जीभ से अल्लाह-अल्लाह इस प्रकार जपना कि जीभ न डुले, प्रयत्न योग की अन्तिम सीढ़ी है। इस्लाम धर्म अपनी सरलता के लिये प्रसिद्ध है। इसीलिये प्रत्येक मुसलमान अपने धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखता है। पहले वह अपने धर्म का अनुयायी है, इसके पश्चात् किसी राष्ट्र का नागरिक है। मुसलमानों में धार्मिक कट्टरता हिन्दुओं से अधिक है। इसी धार्मिक भावना ने पाकिस्तान राज्य की स्थापना की है।

ईसाई धर्म

मुसलमान धर्म की तरह ईसाई धर्म भी भारतीय नहीं है। इसकी जन्म भूमि येरुसलेम (एशिया) में है, जहाँ ईसा मसीह का जन्म हुआ था। यही इस धर्म के प्रवर्तक माने गये हैं। भारत में ईसाई धर्म के मानने वालों की संख्या एक करोड़ के लगभग है। एशिया से यह धर्म योरप में फैला और फिर वहाँ से यह सारे संसार में फैल गया। भारत में यह धर्म ईसाई मिशनरियों द्वारा फैलाया गया। ब्रिटिश शासन में ईसाई मिशनरियों को भारत में अनेक सुविधायें दी गई थीं, जिनके कारण शिक्षा और सेवा को साधन बनाकर इस धर्म का अधिक प्रचार किया गया। अस्पताल, स्कूल, कालेज तथा कुछ और संस्थाओं की स्थापना कर ईसाई मिशनरी आज भी अपने धर्म का प्रचार करते हैं। आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ निर्धन आदिम जातियों ने ईसाई धर्म को अपनाया है। फिर भी जिस लगन से ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार किया है उसे देखते हुए उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है। स्वतन्त्र भारत में, जब राष्ट्रीय भावना तीव्र गति से फैल रही है, ईसाई धर्म के लिये कोई स्थान नहीं है।

ईसाई धर्म ईश्वर प्रधान धर्म है। ईश्वर सब प्राणियों का पिता है। भविष्य में किसी समय इस पृथ्वी पर उसी का राज्य होगा। अपने कर्म के अनुसार मनुष्य स्वर्ग और नरक में जाता है। बाइबिल ईसाइयों का धर्म ग्रन्थ है। इसमें ईसामसीह के उपदेश हैं। दया, प्रेम और दान को इस धर्म में महत्व दिया जाता है। मूर्ति पूजा तथा आवागमन में इनका विश्वास नहीं है। ईसामसीह की शिक्षायें बहुत ही ऊँची और व्यावहारिक

हैं। उनका कहना है कि किसी प्रकार की मूर्ति मत बनाओ; किसी की दासता स्वीकार न करो; अहिंसा का पालन करो; चोरी-व्यभिचार मत करो; माता-पिता का आदर करो, सुखी वही हैं जो दयावान हैं; शुद्ध हृदय वाले को ही ईश्वर की प्राप्ति होगी; सत्य से ही स्वर्ग की प्राप्ति होगी, बुराई का विरोध मत करो अर्थात् बदले की भावना न रखो; अपने शत्रु से प्रेम करो; तुम्हें जो श्राप दे उसे तुम आशीर्वाद दो और जो तुम से घृणा करे उससे प्रेम करो; तुम्हारे पास दो कोट हैं तो एक किसी और को दे दो; तुम्हारे एक गाल पर कोई चाटा मारे तो उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो। कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट इस धर्म के दो सम्प्रदाय हैं।

पारसी धर्म

प्राचीन फारस देश में कुछ लोग जोरोस्ट्रियन धर्म को मानते थे। जब अरबों ने फारस साम्राज्य पर विजय प्राप्त की तो इस धर्म के मानने वाले भारत के पश्चिमी प्रान्तों में आकर बस गये और पारसी कहलाने लगे। आज भी बम्बई नगर पारसी सम्प्रदाय का केन्द्र है। इनके धर्म गुरु जोरोस्टर का जन्म ईसा से ६६० वर्ष पूर्व माना जाता है। जिस समय भारत में बुद्ध और महावीर स्वामी अपने-अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे उसी समय जोरोस्टर ने पारसी धर्म का प्रचार किया। इनका धर्म ग्रन्थ 'अवेस्ता' कहलाता है। इनके धर्म की ३ प्रधान बातें निम्नलिखित हैं :—

१—आहुर्मजदा (ईश्वर) सर्वव्यापी है।

२—आत्मा अमर है। जीवन का अन्त इसी संसार में नहीं हो जाता।

३—मनुष्य अपने विचारों, शब्दों तथा कर्मों के लिये उत्तरदायी है।

प्रत्येक मनुष्य के ३ कर्तव्य हैं। ईश्वर के प्रति कर्तव्य, अपने पड़ोसी के प्रति कर्तव्य तथा अपने प्रति कर्तव्य। इन्हें पारसी हुम्ता, हुख्ता और हवरश्ता कहते हैं। निज के अतिरिक्त मनुष्य का कोई दूसरा रक्षक नहीं है। अपने कर्मों से ही सद्गति होती है। पारसी लोग जीवन की शुद्धता में अधिक विश्वास करते हैं। दान देने में उनका सम्प्रदाय भारत में बहुत प्रसिद्ध है। कोई पारसी भिक्षुक नहीं मिलेगा। दान की राशि से ये अपने सम्प्रदाय की नाना प्रकार से सहायता करते हैं। हिन्दुओं की तरह प्रत्येक सुख-दुःख में पारसी लोग दान करते हैं। इनके सम्प्रदाय में ३ कर्म उत्तम माने गये हैं :—

१—दीन-दुखियों की सहायता करना।

२—शिक्षा का प्रचार करना।

३—विवाह में सहायता देना।

पारसी लोगों में शिक्षा का प्रचार अधिक है। कहा जाता है कि बम्बई नगर में भ्रमण करने पर प्रति ४ घंटे के पश्चात् एक शिक्षित पारसी अवश्य मिलेगा। ये लोग बहुत ही ऊँचे दर्जे के व्यापारी होते हैं। ये प्रायः नम्र स्वभाव के होते हैं। व्यापारी होने के कारण इनका सम्प्रदाय बहुत ही धनाढ्य है। इनके व्यावहारिक धर्म में लौकिक बातों की प्रधानता है। इनका उद्देश्य सांसारिक जीवन का अच्छी तरह उपभोग करना है। मन्दिर और प्रार्थना में इनका विश्वास है। मन्दिरों में महीनों तक अग्नि जलाना बहुत ही पवित्र माना गया है। उसकी भस्म ये अपने मस्तक पर लगाते हैं। इससे उनका तात्पर्य यह है कि यह शरीर भी इसी भस्म की तरह राख हो जायगा। अपने सम्प्रदाय में ये दूसरे सम्प्रदाय वालों को प्रवेश नहीं करने देते। इनके मन्दिरों में पारसियों के अतिरिक्त कोई और प्रवेश नहीं कर सकता। यह सम्प्रदाय पाश्चात्य सभ्यता से इतना अधिक प्रभावित है कि प्रत्येक पारसी आधा अंग्रेज और आधा पारसी है।

अध्याय २६

हमारा राजनीतिक जीवन

स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध

भविष्य में जब स्वतन्त्र देशों का इतिहास लिखा जायगा तो प्रायः सभी विद्वानों को यह आश्चर्य होगा कि ५ करोड़ बृटेन निवासियों ने ४० करोड़ भारतवासियों पर १५० वर्षों तक कैसे शासन किया। यह घटना अभी हमारे सामने से व्यतीत हुई है, इसलिये हमें इस प्रश्न का महत्व अधिक नहीं जान पड़ता। १८५७ ई० में कुछ तो बृटिश सरकार की नीति के कारण और कुछ अपने आत्म सम्मान की रक्षा के कारण भारतवासियों में स्वतन्त्रता की एक अपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। अंग्रेजी राज्य को बढ़ते हुऐ देखकर उन्हें यह सहन न हुआ कि एक विदेशी सत्ता उन्हें दास बनाकर शासन करे। स्वतन्त्रता की यह ज्वाला इतनी तीव्र गति से फैली कि संपूर्ण देश एक वर्ष के अन्दर युद्ध के लिये संगठित कर लिया गया। रोटी और कमल का फूल, जो स्वतन्त्रता के प्रतीक माने गये थे, भारत के सभी गाँवों में घुमा दिये गये थे और लोग निश्चित तिथि की प्रतीक्षा कर रहे थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने साधु और फकीरों का भेष बनाकर इस कार्य को पूरा किया था। भारतीयों के पास जो भी अस्त्र-शस्त्र मौजूद थे उन्हें लेकर वे अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिये तैयार हो गये। कुछ भारतीय विद्वानों का कहना है कि यह स्वतन्त्रता का युद्ध असावधानी के कारण निश्चित तिथि से ३ दिन पहले आरम्भ कर दिया गया। झाँसी की रानी, ताँतिया टोपी, कुँवरसिंह आदि नेताओं ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि तिथि बदल जाने की सूचना पुनः लोगों को पहुँचा दी जाय, परन्तु वे इसमें सफल न हो सके। परिणाम यह हुआ कि देश की शक्ति संगठित रूप से स्वतन्त्रता के इस प्रथम युद्ध में न लग सकी और अंग्रेजी सत्ता ज्यों की त्यों बनी रही।

यद्यपि भारतवासी इस युद्ध में सफल नहीं हुए, परन्तु बृटिश सरकार को इस बात का आभास हो गया कि भारत में उनका साम्राज्य ऐसी कमजोर

धुरी पर टिका हुआ है जो किसी भी समय टूट सकती है। इसीलिये शासन की नीति में अधिकारों को संगठित करने की उनकी भावना बढ़ने लगी और जनता के विकास को हर प्रकार से रोकने का प्रयत्न किया गया। भारतवासियों में निराशा का बादल छा गया और उन्हें अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होने लगा। युद्ध में परास्त हो जाने से उनके मन में बहुत बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। बृटिश सरकार के उत्साहित करने के कारण हिन्दू मुसलमानों को और मुसलमान हिन्दुओं को दोषी ठहराने लगे। साम्प्रदायिकता की इस भावना को बृटिश सरकार ने इतना बढ़ाया कि दोनों एक दूसरे को शत्रु समझने लगे। जीवन-मरण के इस संग्राम में भारतवासियों की इस पराजय ने बृटिश सरकार के शोषण का मार्ग और भी चौड़ा कर दिया। जनता की स्थिति नाविक के बिना नाव सी दिखाई पड़ने लगी।

सामाजिक सुधार

जनता की निराश भावना को देखकर कुछ थोड़े से भारतीय नेता सुधार का कार्य-क्रम लेकर पुनः जगह-जगह दिखाई पड़ने लगे। इन सुधारों का कुछ विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। यहाँ पर इसके प्रसंग से इतना ही आशय है कि इन्हीं सामाजिक सुधारों के कारण जनता को थोड़ी सान्त्वना मिली। उन्हें यह विश्वास हुआ कि अब भी उनके नेता उनका मार्ग प्रदर्शित कर सकते हैं। सब से प्रथम सुधारक राजा राममोहन राय थे, जिन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। इसी तरह के कुछ और भी सुधारक देश के विभिन्न भागों में कार्य करने लगे। इन सुधारों में पाश्चात्य विचारों का प्रभाव अधिक था। यद्यपि इनका उद्देश्य हिन्दू समाज की कुछ आन्तरिक दुर्बलताओं को दूर करना था, परन्तु इनका यह भी ध्येय था कि भारतवासियों को योरप निवासियों से बहुत सी बातें ग्रहण करनी चाहिये। स्वतन्त्रता के प्रथम युद्ध में अंग्रेज और भारतीयों में जो खाई पड़ गई थी उसे ये पाटना चाहते थे। किसी सीमा तक इन्हें सफलता भी मिली। कुछ भारतीय अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी रहन-सहन तथा अंग्रेजी विचारों को अपनाने लगे। उनकी नीति पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता को मिलाने की थी। यह स्वाभाविक है कि पराजित और निराश जनता आत्म-विश्वास को खो बैठती है। भारतवासियों को यही दिखाई देने लगा कि उन्हें हर प्रकार से अंग्रेजों की ही नकल करनी होगी। देश में अंग्रेजीपन तीव्र-गति से फैलने लगा। जो लोग इसके समर्थक थे उन्हें राज्य की ओर से बड़ी-बड़ी उपाधियाँ दी जाती थीं।

उन्हीं को सरकारी विभागों में अच्छे पद भी दिये जाते थे। भारतीय जनता अपनी रहन-सहन को भूलने लगी। उसे अपना इतिहास, अपनी संस्कृति, अपना धर्म तथा अपनी रहन-सहन सब काल्पनिक दिखाई पड़ने लगी।

जिस समय देशवासियों में पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण की भावना बढ़ रही थी उसी समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने वेदान्त धर्म का उपदेश आरम्भ किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू जाति को वैदिक धर्म का सन्देश सुनाया। उन्होंने सभी धर्मों की कड़ी आलोचना की और हिन्दू जनता में यह आत्म-विश्वास पैदा किया कि वैदिक धर्म बहुत ही ऊँचा धर्म है। वैदिक संस्कृति की तुलना में पाश्चात्य संस्कृति निम्न श्रेणी की है। भारतवासियों को किसी के अनुकरण की आवश्यकता नहीं है। उनके पास ज्ञान की अथाह सम्पत्ति मौजूद है। संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन, संध्या, गायत्री, स्वाध्याय, अध्ययन तथा सामूहिक प्रार्थना और प्रवचन आदि पर उन्होंने बल दिया। परिणाम यह हुआ कि जो जनता पश्चिमी सभ्यता की ओर बह रही थी और जो अपनी संस्कृति को भूल रही थी वह पुनः सचेत दिखाई पड़ने लगी। लोगों में संगठन और सहयोग का भाव फिर बढ़ने लगा। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के विचारों से लोगों में ऊँचेपन का भाव पैदा हुआ। उन्हें यह विश्वास हुआ कि अन्तःकरण की शुद्धि तथा वैदिक धर्म के अध्ययन से वे संसार के सर्वश्रेष्ठ नागरिक बन सकते हैं। इसी तरह का विचार मुसलमानों में भी फैलने लगा। वे भी अरबी-फारसी के अध्ययन तथा अपने धार्मिक जीवन के महत्व को समझने लगे।

कांग्रेस का जन्म

सामाजिक सुधारों से लोगों में राष्ट्रीय चेतना बढ़ने लगी। कुछ लोग राजनीतिक संगठन की भी बात सोचने लगे। जिन लोगों ने आरम्भ में ऐसे संगठन की कल्पना की उनका ध्येय जनता और ब्रिटिश सरकार में सहयोग उत्पन्न करना था। १८८४ ई० में श्री ह्यूम के मस्तिष्क में यह विचार आया कि यदि भारत के प्रधान राजनीतिज्ञ पुरुष वर्ष में एक बार एकत्र होकर सामाजिक विषय पर चर्चा कर लिया करें और एक दूसरे से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लें तो इससे बड़ा लाभ होगा। इन विचारों को लेकर वे १८८५ ई० में लार्ड डफरिन से शिमला में मिले। १८८५ ई० में बड़े दिनों की छुट्टियों में पूना में कांग्रेस का पहला अधिवेशन करने का

निश्चय किया गया। पूना में हैजा आ जाने के कारण यह अधिवेशन बम्बई में किया गया। गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कालेज के छात्रावास में यह अधिवेशन २८ दिसम्बर को किया गया था। श्री उमेश बनर्जी इस अधिवेशन के सभापति थे। इस प्रथम अधिवेशन में ६ प्रस्ताव पास हुए। इसमें कितने ही सरकारी पदाधिकारियों ने भाग लिया था। जिस प्रकार एक बड़ी नदी पतली धार से आरम्भ होती है उसी प्रकार कांग्रेस का आरम्भ सामाजिक सुधारों की चर्चा से हुआ। जैसे-जैसे भारतीय नेताओं के विचार इसमें सम्मिलित होते गये उसी गति से इसका विस्तार बड़ा होने लगा। १८८६ ई० में श्री गोपाल कृष्ण गोखले लोकमान्य तिलक के साथ कांग्रेस में आए। उन्होंने सरकार की नमक कर की नीति का खण्डन किया और यह सिद्ध किया कि किस प्रकार एक पैसे की नमक की टोकरी का मूल्य ५ आना हो जाता है। श्री गोखले में यह गुण था कि वे कड़ी से कड़ी बात को बहुत मधुर भाषा में कहते थे। उनकी स्थिति ऐसी थी कि भारतीय उनकी नरमी की निन्दा करते थे और सरकार उनकी उग्रता को बुरा बताती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि वे दोनों में मध्यस्थ बनकर रहते थे। वे जनता की इच्छाओं को वाइसराय तक और सरकार की कठिनाइयों को कांग्रेस तक पहुँचाते थे। इस प्रकार देश की सेवा करते हुए १६ फरवरी १६१५ ई० को वे इस लोक से बिदा हो गये। महात्मा गाँधी इन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

कांग्रेस में कुछ उग्र विचार के नेताओं के आ जाने के कारण यह संस्था ब्रिटिश सरकार की खुले शब्दों में आलोचना करने लगी। तभी से सरकार इसे शंका की दृष्टि से देखने लगी। १८६६ ई० से ही लोकमान्य तिलक कांग्रेस को प्रेरित कर रहे थे कि वह अधिक दृढ़ता के साथ अपने ध्येय को स्पष्ट करे। १६०७ ई० में सूरत अधिवेशन में कांग्रेस दो दलों में विभाजित हो गई। नरम दल के लोग सरकार के साथ सहयोग में विश्वास करते थे, परन्तु लोकमान्य तिलक की प्रेरणा से गरम दल के लोग ऐसा नहीं चाहते थे। तिलक जी राष्ट्र धर्म के पक्के उपासक थे। तिलक ने ही यह कहा था कि, 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है'। उनके शब्दों ने जनता में स्फूर्ति पैदा की। ३१ जुलाई १६२० ई० को तिलक जी का देहान्त हो जाने के पश्चात् कांग्रेस के संचालन का सम्पूर्ण भार महात्मा गाँधी पर पड़ा।

महात्मा गाँधी के पहले कांग्रेस की नीति स्पष्ट होते हुए भी उस पर

महात्मा गाँधी और कांग्रेस

पूरा नियन्त्रण और अनुशासन न था। कुछ गुप्त संगठनों द्वारा क्रान्तिकारी भी देश की स्वतन्त्रता का राग अलापते थे। महात्मा गांधी ने अपने अफ्रीका के अनुभव को भारत में भी प्रयोग किया। उनका यह विश्वास था कि गुप्त एवं हिंसात्मक कार्यवाहियों से स्वराज्य की प्राप्ति नहीं होगी। उन्होंने कांग्रेस का नेतृत्व ऐसे ढंग से किया जिससे वह क्रमशः शक्तिशाली होती गई और उसमें मानसिक तथा आध्यात्मिक बल दिखाई देने लगा। उनका कहना था कि अनुशासन से ही संगठन में शक्ति आती है। कांग्रेस कार्यकर्ताओं के लिये उन्होंने कुछ ऐसे कड़े नियम बनाए कि उनका पालन करना गौरव की बात समझी जाने लगी। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार भारत में व्यापार के बल पर टिकी हुई है। यदि भारतवासी विदेशी वस्तुओं का परित्याग कर उन वस्तुओं की उत्पत्ति करें तो स्वराज्य उन्हें स्वयं प्राप्त हो जायगा। कांग्रेस कार्यकर्ताओं को सच्चा सेवक बनने की ट्रेनिंग दी जाने लगी। इसीलिये महात्मा गाँधी ने साबरमती आश्रम की स्थापना की थी जिसमें लोगों को कठिन परिश्रम तथा सरल जीवन का अभ्यास कराया जाता था। सामूहिक प्रार्थना द्वारा उनके चरित्र को ऊँचा किया जाता था। महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व के कारण कांग्रेस में आध्यात्मिक शक्ति दिखाई पड़ने लगी। रचनात्मक कार्यों की वृद्धि से कांग्रेस का विस्तार इतना फैलने लगा कि गाँव के किसान और मजदूर भी इससे परिचित हो गये। खादी प्रचार, ग्रामोद्योग की उन्नति, हरिजन सेवा, शिक्षा प्रचार आदि कार्यों से कांग्रेस की नीव और भी दृढ़ हो गई।

महात्मा गाँधी के सन्देश ने देशवासियों को इतना निर्भय बना दिया कि वे ब्रिटिश सरकार से टक्कर लेने लगे। जेल तथा सरकार की अन्य यातनाएँ उन्हें अपने मार्ग से विचलित न कर सकीं। महात्मा गाँधी की यह आज्ञा थी कि सभी दशाओं में सत्याग्रही को नियमों का पालन करना चाहिये। उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के साथ शिष्टता का व्यवहार करना चाहिये। ब्रिटिश सरकार कांग्रेस आन्दोलन को जितना ही अधिक दबाना चाहती थी उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती थी। इसका श्रेय महात्मा गाँधी के विचारों तथा उनकी संचालन की नीति को है। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की सैनिक शक्ति तथा शस्त्रबल को निरर्थक कर दिया। उनके चरित्रबल का प्रभाव देशवासियों पर इतना अधिक पड़ा कि वे उनकी आज्ञाओं पर मर मिटने को तैयार हो गये। जहाँ कहीं वे जाते जनता की अपार भीड़ उनके दर्शन के लिये उमड़

पड़ती थी। यद्यपि सरकार ने कितनी ही बार कांग्रेस आन्दोलन को कुचलने का प्रयत्न किया, परन्तु महात्मा गाँधी के नेतृत्व ने उसे ऐसा न करने दिया। जब से महात्मा गाँधी कांग्रेस आन्दोलन का संचालन करने लगे तब से लेकर उनके जीवन के अन्त समय तक उनके व्यक्तित्व को कांग्रेस से पृथक् नहीं किया जा सकता। उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उन्हीं के आदर्शों पर देशवासियों को चलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। राष्ट्रीय सरकार भी उन्हीं की नीति का अनुसरण कर रही है।

कांग्रेस की नीति

आरम्भ में कांग्रेस की नीति ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने की थी। श्री गोपाल कृष्ण गोखले के प्रभाव से यह सहयोग की नीति अधिक दिनों तक बनी रही। लोकमान्य तिलक के प्रवेश करने पर कांग्रेस की नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। तिलक की नीति शिवाजी की तरह अत्यन्त उग्र थी। उन्हें यह विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार अनुनय-विनय से भारतवासियों को स्वाराज्य नहीं देगी। उसे किसी न किसी अवसर पर संग्राम करना होगा। अपने कार्यकाल में तिलक जी ने जनता में अच्छी उत्तेजना पैदा की। इसके फल स्वरूप सरकार कांग्रेस को एक क्रान्तिकारी संस्था मानने लगी और उसके कार्यकर्ता सन्देह की दृष्टि से देखे जाने लगे। एक भारतीय विद्वान का कहना है कि १९१४ ई० में जब महात्मा गांधी ने दक्षिण अफ्रीका से प्रस्थान किया तो उनके जीवन की रामायण समाप्त हो गई। १९१५ ई० के आरम्भ में जब उन्होंने भारत में प्रवेश किया तब उनके जीवन का महाभारत आरम्भ हुआ। तात्पर्य यह है कि महात्मा गाँधी के प्रवेश से कांग्रेस की नीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश सरकार से असहयोग करते हुए भी उनकी नीति में अहिंसा, संयम और अनुशासन की भावना अधिक थी। महात्मा गाँधी ने पहले असहयोग की नीति का अनुसरण किया। १९२० ई० में असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया गया। १९१९ ई० में ६ अप्रैल से १३ अप्रैल तक जो घटनायें भारत में विशेष रूप से घटित हुईं और जिनका अन्त जलियानवाला बाग के हत्याकांड के रूप में हुआ उसी के उपलक्ष्य में १९२० ई० में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया, जो आज तक बराबर मनाया जाता है। एक अगस्त १९२१ ई० को कांग्रेस महासमिति ने यह निश्चय किया कि सभी कांग्रेसी विदेशी कपड़ों का उपयोग छोड़ दें। व्यापारियों से प्रार्थना की गई कि वे नशीली चीजों का व्यापार न करें। सरकारी संस्थाओं का बहिष्कार भी किया जाने लगा।

१६२६ ई० में कांग्रेस का एक दल कौंसिल प्रवेश के पक्ष में था, परन्तु उसे अपने कार्यों में विशेष सफलता नहीं मिली। असहयोग के पश्चात् महात्मा गाँधी नें सत्याग्रह की नीति का अनुसरण किया। पूर्ण स्वराज्य कांग्रेस का उद्देश्य ठहराया गया। कांग्रेस में अनुशासन और अहिंसा की भावना अधिक दृढ़ की गई। कांग्रेस ने यह निश्चय किया कि जब तक देशवासी ब्रिटिश सरकार से बराबरी का मोर्चा नहीं लेंगे तब तक स्वाराज्य की प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु महात्मा गाँधी इस मोर्चे में अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक शक्ति का उपयोग नहीं करना चाहते थे। उनकी नीति में सत्य और अहिंसा को प्रधानता दी गई थी। उनका कहना था कि सत्याग्रही को सेवा, प्रेम तथा त्याग से अपने उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिये। आरम्भ में लोग कांग्रेस की इस नीति में विश्वास नहीं करते थे, परन्तु महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हें इसका मूल्य दिखाई पड़ने लगा। ब्रिटिश सरकार के सभी प्रकार के दमन इसके सामने असफल सिद्ध हुए। कांग्रेस की इस नीति से कार्यकर्ताओं में सेवा और लगन के भाव अधिक दिखाई पड़ने लगे। उनके सरल एवं शुद्ध जीवन से जनता में कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ने लगी। रचनात्मक कार्यों द्वारा महात्मा गाँधी ने कांग्रेस की नींव को और भी दृढ़ बनाया। उनका कहना था कि केवल 'स्वराज्य' कांग्रेस का अन्तिम ध्येय नहीं है, इसका उद्देश्य 'रामराज्य' की स्थापना करना है। इससे रचनात्मक कार्यों का महत्व और भी बढ़ने लगा। कांग्रेस को अपने जीवन में जो सफलता प्राप्त हुई है उसका श्रेय उसकी अहिंसा की नीति को है, जिसके जन्मदाता राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी हैं।

कांग्रेस तथा अन्य पक्ष

कांग्रेस के अतिरिक्त भारत के लिये कुछ अन्य पक्ष भी बनाये गये जो आज भी अपनी नीति के अनुसार कार्य कर रहे हैं। इन पक्षों में लिबरल दल, हिन्दू महासभा, साम्यवादी दल, समाजवादी दल तथा मुस्लिम लीग प्रधान हैं। लिबरल दल ब्रिटिश सरकार से सहयोग की नीति का पक्षपाती था। उसकी नीति सरकार से सहयोग करते हुए भारतीय समाज का उत्थान करना था। यह दल आज भी अपनी इसी नीति से सेवा कार्यों में लगा हुआ है। भारत सेवक मडल इस दल की प्रधान संस्था है, जिसके जन्मदाता श्री गोपाल कृष्ण गोखले हैं। हिन्दू महासभा एक साम्प्रदायिक सस्था है, जो हिन्दुओं के उत्थान के लिये कार्य करती है। इसका विचार है कि भारत हिन्दुओं की भूमि है, जब तक हिन्दू जाति का

संगठन न होगा तब तक इसकी सभ्यता और संस्कृति का उत्थान नहीं हो सकता। यह पक्ष यद्यपि राजनीतिक दल के रूप में कार्य करता है, परन्तु इसका दृष्टिकोण साम्प्रदायिक है। इस पक्ष ने अभी तक जनता के उत्थान के लिये कोई ठोस कार्य नहीं किया। इसीलिये यह जनता में अधिक व्यापक और लोकप्रिय नहीं है।

साम्यवादी दल कांग्रेस पक्ष से कहीं प्राचीन है। तोड़-फोड़ तथा हिंसा द्वारा यह अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता है। महात्मा गाँधी के प्रभाव से यह पक्ष बहुत कुछ लुप्तप्राय हो चुका था, परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् इसकी शक्ति पुनः बढ़ने लगी है। राष्ट्रीय सरकार के सामने यह दल अनेक विकट समस्यायें उपस्थित कर रहा है। इनकी कार्रवाइयों से जनता को कष्ट के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। समाजवादी दल कांग्रेस का ही एक अंग है। इसीलिये उसे कांग्रेस समाजवादी दल भी कहते हैं। यह दल कांग्रेस की नीति से पूर्ण सहमत है और प्रत्येक कार्य में उसी का अनुसरण करता है। कांग्रेस से इसका मतभेद केवल आर्थिक संगठन में है। यह दल आर्थिक क्षेत्र में समान सम्पत्ति का पक्षपाती है। महात्मा गाँधी की मृत्यु के पश्चात् काँग्रेस से इसका मतभेद बढ़ने लगा है। यह पक्ष भी जनता में कांग्रेस के समान ही लोकप्रिय है। मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा, की तरह एक साम्प्रदायिक संस्था है। यह एक मात्र मुसलमानों का संगठन है। आरम्भ से ही इसका यह उद्देश्य रहा है कि मुसलमानों के अधिकार और उनकी भलाई की रक्षा होनी चाहिये। कुछ समय पश्चात् इसने अपना ध्येय पाकिस्तान की स्थापना करना बना लिया। इसी के फलस्वरूप देश का बँटवारा किया गया, जिसके साथ ही इस पक्ष का भारत में अन्त भी हो गया। यह पक्ष पाकिस्तान में अपना कार्य कर रहा है। कांग्रेस का उद्देश्य किसी सम्प्रदाय विशेष के पक्ष में कभी नहीं रहा है। वह एक विशुद्ध राजनीतिक संस्था है और सम्पूर्ण भारत के उत्थान के लिये प्रयत्न करती है। जाति, धर्म तथा रंग का भेदभाव वह नहीं करती।

कुछ हृदय-विदारक घटनायें

हमारे राजनीतिक जीवन में कुछ ऐसी हृदय-विदारक घटनायें हुई हैं जिन्हें भारतवासी कभी नही भूल सकते। राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को देखते हुए यह स्पष्ट है कि हमारा राजनीतिक जीवन किसी कंटक-मार्ग से कम नहीं रहा है। हमारा राजनीतिक इतिहास सेवा और त्याग की घटनाओं से परिपूर्ण है। राजनीतिक संग्राम में कार्यकर्ताओं का जीवन स्तर इतना ऊँचा रहा है कि सभी लोग इसके गौरव की प्रशंसा करते

हैं। इतने पर भी ब्रिटिश सरकार की कठोर नीति के कारण कुछ ऐसी घटनायें घटित हुईं जो भारतीय इतिहास में अमर रहेंगी। राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को कितनी ही बार जेलों में अमानुषिक दंड दिये गये; कितनों की सम्पत्ति छीन ली गई और कितनों को देश निकाला तक दिया गया। फांसी तथा कालेपानी तक का दंड लोगों को भोगना पड़ा। कितने ही कार्यकर्ता गोली के शिकार हुए। कहा जाता है कि पंजाब केसरी लाला लाजपत राय की मृत्यु एक अंग्रेज सैनिक के डंडे की चोट से हुई थी। यद्यपि लाला जी का देहान्त चोट के काफी समय बाद हुआ, परन्तु उसका प्रभाव बना रहा।

सबसे बड़ी हृदय-विदारक घटना जलियानवाला बाग की हत्या है। १३ अप्रैल १९१९ ई० को, जो हिन्दुओं का नया वर्ष-दिन था, यह घटना उपस्थित हुई। कांग्रेस की ओर से अमृतसर में एक सार्वजनिक सभा करने की घोषणा की गई और जलियानवाला बाग में वह सभा हुई। यह बाग शहर के मध्य में है। इसका दरवाजा बहुत ही सँकरा है। उसमें से होकर एक गाड़ी निकल सकती है। बाग में जब २०००० आदमी इकट्ठे हो गये, जिनमें पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, जनरल डायर ने उसमें प्रवेश किया। उसके पीछे १०० हथियारबन्द सिपाही और ५० गोरे सैनिक थे। जिस समय ये लोग घुसे उस समय हंसराज नाम का एक व्यक्ति व्याख्यान दे रहा था। जनरल डायर ने घुसते ही गोली चलाने का हुक्म दे दिया। गोली तब तक चलती रही जब तक सारे कारतूस समाप्त नहीं हो गये। कुल १६०० फैर किये गये। सरकार के स्वयं अपने बयान के अनुसार ४०० आदमी मारे गये और २००० के लगभग घायल हुए। सबसे बड़ी दुखद बात यह थी कि गोली चलाने के बाद मृतक और वे लोग जो सख्त घायल हो गये थे, उन्हें सारी रात वहीं पड़ा रहने दिया गया। अमृतसर में नलों में पानी बन्द कर दिया गया था और बिजली का सिलसिला काट दिया गया था। सबके सामने बेंत लगाना आमतौर पर चालू था, लेकिन 'पेट के बल रेंगने' के हुक्म ने इन सबको मात कर दिया था।

रेलवे स्टेशनों पर तीसरे दर्जे का टिकट बेचने की मनाही कर दी गई थी। सब की साइकिलें छीन ली गई थीं। किले के नीचे नंगा करके सबके सामने बेंत लगवाने के लिये एक चबूतरा बनवाया गया था और शहर के अनेक भागों में बेंत लगवाने के लिये टिकटिकियाँ लगवा दी गई थीं। एक विशेष अदालत मुकदमों का निर्णय करने के लिये बनाई गई थी। इसमें अपराधी की कोई बात नहीं सुनी जाती थी। ५१ आदमियों को फांसी का

दंड, ४६ को आजन्म कालापानी, २ को दस दस वर्ष का दंड, ७६ को सात सात वर्ष का दंड, १० को पाँच पाँच वर्ष का दंड, १३ को तीन तीन वर्ष का दंड और ११ को कुछ कम दंड दिया गया। कालेज के विद्यार्थियों के लिये यह आज्ञा थी कि वे दिन में ४ बार सैनिक अधिकारियों के सामने विभिन्न स्थानों पर हाजिरी दिया करें। जहाँ हाजिरी ली जाती थी उनमें एक हाजिरी का स्थान कालेज से ४ मील की दूरी पर था। पंजाब में अप्रैल का महीना कड़ी धूप के लिये प्रसिद्ध है। १०८ डिग्री की ऊपर की गर्मी में विद्यार्थियों को हाजिरी देने के लिये १६ मील प्रतिदिन पैदल चलना पड़ता था। इनमें से कुछ रास्ते में बेहोश होकर गिर भी जाते थे। १९४२ ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिये ब्रिटिश सरकार ने बर्बरता का नग्न चित्र उपस्थित कर दिया था। कितने ही गाँव जलाये गए और लोगों से जुर्माना वसूल किया गया। निःशस्त्र लोगों पर गोलियाँ भी चलाई गईं। इन घटनाओं से यह सिद्ध है कि हमारी स्वतन्त्रता एक कठिन तपस्या का ही परिणाम है।

अध्याय २७

सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन

सुधार आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भारतीय समाज में अनेक प्रकार के सुधार आन्दोलन आरम्भ किये गये। इन सुधारों में समाज, धर्म और राजनीति सभी विषयों पर बल दिया गया। इनके मूल्य को समझने के लिये यह आवश्यक है कि उस समय की भारतीय स्थिति की थोड़ी जानकारी की जाय। ब्रिटिश शासन भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था। १८५८ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम में पराजित होने के कारण भारतवासियों में निराशा की भावना फैल गई थी। योरपनिवासी अपनी संस्कृति के प्रचार के लिये ईसाई मिशनरियों को प्रोत्साहित कर रहे थे। ये मिशनरी भारत में जगह-जगह स्कूल, कालेज, अस्पताल आदि खोलकर इस आशा से सेवा-कार्य में लगे हुए थे कि लोगों में ईसाई धर्म का प्रचार होगा। पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के मिलन से देशवासियों में नये जीवन का संचार हो रहा था। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा पश्चिमी विज्ञान, साहित्य तथा इतिहास का अध्ययन भी बढ़ रहा था। पाठकों की बुद्धि का विकास पश्चिमी सभ्यता की ओर अधिक होने लगा था। आवागमन के नये साधनों से लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहे थे। वारेन हेस्टिंग्स पर अभियोग की पुष्टि करते हुए बर्क ने कहा था कि 'बड़ा साम्राज्य छोटी बुद्धि से नहीं चलाया जा सकता'। उसका आशय यह था कि ब्रिटिश अधिकारियों को भारतीय परम्परा तथा संस्कृति का ध्यान रखते हुए अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिये।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी तथा सिक्ख सम्प्रदायों में आरम्भ में यह भावना जागृत हुई कि उन्हें अपनी उन्नति के लिये पाश्चात्य देशों का अनुकरण करना चाहिये। जो बातें योरोपीय समाज में मान्य ठहराई गई थीं उनका महत्व भारतीय समाज में बढ़ने लगा। ईसाई धर्म के अनुकरण से धर्म में सामूहिक प्रार्थना की पद्धति चलाई गई। रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, पठन-पाठन तथा आचार-विचार में बृटिश शासक भारतीयों को अपने ही अनुकरण के लिये उत्साहित करने लगे। इधर पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार

से भारतवासियों की क्रियात्मक शक्ति कुंठित हो गई थी और वे हर प्रकार से पाश्चात्य विचारों की प्रशंसा करने लगे। आरम्भ में कुछ भारतीय सुधारकों ने यह अनुभव किया कि जब तक भारतीय समाज में पाश्चात्य विचारों का बाहुल्य न होगा तब तक ब्रिटेन और भारत में सद्भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य से वे भारतीय समाज में नाना प्रकार के सुधारों पर बल देने लगे। इसके फलस्वरूप शिक्षित समाज पाश्चात्य रहन-सहन पर लट्टू होता गया और अपने समाज की सभी बातें उसे दोषपूर्ण दिखाई देने लगीं। इन सुधारों की प्रतिक्रिया में ऐसे आन्दोलन चलाये गये जिनमें पाश्चात्य रहन-सहन का खडन किया गया और भारतवासियों को अपनी प्राचीन संस्कृति के महत्व को समझने की आवश्यकता बतलाई गई। लोगों को सचेत किया गया कि पाश्चात्य रहन-सहन के अनुकरण से उनकी उन्नति कदापि नहीं हो सकती। कला और विज्ञान किसी देश-विशेष की सम्पत्ति नहीं है। अन्य देशों से उनकी शिक्षा लेते हुए भी इन्हें अपने ही वातावरण में प्रसारित करना चाहिये। धर्म और समाज सुधारों से मिश्रित ये आन्दोलन एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते।

ब्रह्म समाज

ब्रह्म समाज की स्थापना १८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने की थी। इनका जन्म १७७२ ई० में बंगाल के बर्दवान जिले में राधानगर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता रामकान्त राय एक साधारण जमींदार और अत्यन्त धार्मिक पुरुष थे। गाँव के स्कूल में इन्होंने बँगला और फारसी भाषा की शिक्षा ली। १६ वर्ष की आयु में मूर्ति-पूजा के विरुद्ध एक पुस्तिका प्रकाशित की। २१ वर्ष की आयु में अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया। ४१ वर्ष की आयु तक लैटिन, संस्कृति, यूनानी तथा हिब्रू भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया। १८२० ई० में ईसामसीह की प्रशंसा में एक पुस्तक प्रकाशित की। बंगाल के ईसाई मिशनरियों से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इनके धार्मिक विचारों से अप्रसन्न होकर इनके पिता ने इन्हें १६ वर्ष की आयु में घर से बाहर निकाल दिया और वे ४ वर्ष तक इधर उधर भ्रमण करते रहे। कहा जाता है कि इसी समय उन्होंने तिब्बत की यात्रा की और वहाँ बुद्ध धर्म का अध्ययन किया। इनका कुछ समय काशी में भी व्यतीत हुआ। ईस्ट इन्डिया कम्पनी के अन्तर्गत इन्होंने कुछ समय नौकरी भी की थी। १८०६ ई० में रंगपुर जिले में कलेक्टर के दीवान नियुक्त किये गये। १८१५ ई० में ये कलकत्ता चले गये और वहाँ स्थायी रूप से रहने लगे।

१८१६ ई० तक वेदान्त के ऊपर कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। १८११

ई० में उनके बड़े भाई की स्त्री अपने पति के वियोग में जलकर सती हो गई। इस घटना का प्रभाव उनके ऊपर गहरा पड़ा और वे सती-प्रथा को बन्द करने पर कटिबद्ध हो गये। वे जहाँ कहीं सती होने की घटना सुनते वहाँ जाकर उसे रोकने का प्रयत्न करते थे। उन्हीं के प्रयत्न से १८२६ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंग ने सती-प्रथा को बन्द कर दिया। ईसाई मिशनरियों से वे हिन्दू धर्म पर वाद-विवाद भी करते थे। उन्हीं के प्रभाव से उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार की प्रेरणा मिली। १८१७ ई० में कलकत्ते में हिन्दू कालेज की स्थापना की। १८३० ई० में ब्रह्म समाज के भवन को स्काटलैंड के मिशनरियों को अंग्रेजी स्कूल खोलने के लिये दे दिया। बाइबिल के अध्ययन पर भी वे बल देने लगे। बंगला, फारसी तथा अंग्रेजी में कुछ पत्रिकायें भी निकालीं। वे चाहते थे कि हिन्दू समाज पौराणिक बन्धन से मुक्त हो जाय। श्री द्वारिकानाथ टैगोर की सहायता से २० अगस्त १८२८ ई० को उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इसमें साप्ताहिक बैठक का प्रबन्ध किया गया था, जिसमें बँगला में वेदान्त की व्याख्या की जाती थी। १८३० ई० में समाज का अपना भवन भी बना लिया गया। इसी वर्ष उन्होंने इंगलैंड की यात्रा की। वे दिल्ली के कथित सम्राट् की कुछ कठिनाइयों को सम्राट के सामने उपस्थित करने के लिये भेजे गये थे। इसी अवसर पर उन्हें राजा की उपाधि प्रदान की गई थी। १८३२ ई० में वे इंगलैंड से फ्रांस चले गये और पुनः १८३३ ई० में इंगलैंड लौट गये। २७ सितम्बर १८३३ ई० को वहां उनका देहान्त हो गया। मरते समय उन्होंने 'ॐ' शब्द का उच्चारण किया था। उनकी मूर्ति ब्रिस्टल के अजायबघर में अभी तक रखी हुई है।

राजा राममोहन राय की इस संक्षिप्त जीवनी से यह स्पष्ट है कि वे एक प्रतिभावान व्यक्ति थे और भारतीय समाज में अनेक सुधार करना चाहते थे। कुछ विषयों में वे वैदिक संस्कृति से प्रभावित थे और कुछ में ईसाई मिशनरियों से। ब्रह्म समाज से उनका तात्पर्य शुद्ध हिन्दू धर्म की स्थापना करना था। इसके निम्नलिखित सिद्धान्तों से पता चलता है कि इसमें सामाजिक सुधार की भी भावना थी:—

१—यह किसी धर्म ग्रन्थ की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करता।

२—यह अवतारवाद में विश्वास नहीं करता।

३—मूर्ति अथवा देवी देवताओं की पूजा को यह पाप समझता है।

४—जाति प्रथा का यह बहिष्कार करता है।

५—कर्मवाद और पुनर्जन्म का न यह खंडन करता है और न मंडन।

धार्मिक विचारों में ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म से प्रभावित होते हुए भी ईसाई धर्म से कम प्रभावित न था। यही कारण है कि आर्य समाज की तरह यह देश में व्यापक रूप न धारण कर सका। इसका क्षेत्र बंगाल, बम्बई, पंजाब तथा मद्रास तक ही सीमित था। ईसाई धर्म से समाज इतना अधिक प्रभावित था कि इसकी एक सदस्या श्रीमती रमाबाई सरस्वती ने, जिन्होंने ब्रह्म समाज के अन्तर्गत १८८२ ई० में आर्य महिला समाज की स्थापना की थी, अपनी लड़की को संस्कृत पढ़ने से रोक दिया। यद्यपि वे संस्कृत का अच्छा ज्ञान रखती थीं, परन्तु अंग्रेजी शिक्षा में उनका अधिक विश्वास था। १८४२ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज में प्रवेश किया। उनके धार्मिक जीवन का प्रभाव समाज पर इतना अधिक पड़ा कि उसमें एक नई शक्ति दिखाई पड़ने लगी। समाज की सबसे अधिक उन्नति उन्हीं के समय में हुई। १८६२ ई० में श्री केशवचन्द्र सेन के समाज में प्रवेश करने पर इसकी पद्धति में अन्तर दिखाई देने लगा। अंग्रेजी में 'इंडियन मिरर' नाम की एक पत्रिका प्रकाशित की, जिसके द्वारा सामाजिक और राजनीतिक सुधारों की चर्चा होने लगी। आरम्भ से ही अंग्रेजी के अध्ययन से उन्हें संस्कृत का बिल्कुल ज्ञान न था। ईसाई धर्म से वे राजा राममोहन राय से भी अधिक प्रभावित थे।

महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ब्रह्म समाज को हिन्दू संस्कृति से प्रभावित करना चाहते थे। श्री केशवचन्द्र सेन इसे ईसाई धर्म के मार्ग पर ले चलना चाहते थे। इस मतभेद के कारण श्री केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज से पृथक् हो गये और 'भारतीय ब्रह्म समाज' की स्थापना की। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने प्रारम्भिक ब्रह्म समाज का नाम 'आदि ब्रह्म समाज' रख लिया। श्री केशवचन्द्र सेन के प्रभाव से १८६७ ई० में बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। १८४६ ई० से जो परमहंस सभा बम्बई में कार्य कर रही थी उसी का नाम आगे चलकर प्रार्थना समाज पड़ा। यह समाज भी जाति प्रथा का बहिष्कार करता था, विधवा विवाह तथा स्त्री-शिक्षा का समर्थक था और बाल-विवाह का बहिष्कार करता था। १८७१ ई० में श्री नवीनचन्द्र राय ने पंजाब ब्रह्म समाज की स्थापना की। १८७८ ई० में जब श्री केशवचन्द्र सेन ने समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध अपनी एक छोटी लड़की का विवाह कूचबिहार के राजकुमार से कर दिया तो इनके शिष्यों ने भारतीय ब्रह्म समाज से पृथक् होकर साधारण ब्रह्म समाज की स्थापना की। इससे केशवचन्द्र सेन ने एक पृथक् नवविधान समाज की स्थापना किया। १८८४ ई० में इनकी मृत्यु हो गई।

धार्मिक दृष्टि से ब्रह्म समाज का कोई महत्व नहीं है, परन्तु सुधारों की दृष्टि से इसका एक विशेष स्थान है। इसी की प्रेरणा से अनेक प्रकार के सुधार आन्दोलन चलाये गये। इसने हजारों भारतीय नवयुवकों को ईसाई होने से बचाया है। कुछ लोगों का कहना है कि ईसामसीह को छोड़कर ब्रह्म समाज ईसाई धर्म की ही प्रतिमूर्ति है। ब्रह्म समाज ने स्त्री-शिक्षा के प्रचार, विधवा-विवाह के समर्थन, बाल-विवाह के निषेध तथा जातिपांति के बहिष्कार से भारतीय समाज का विशेष कल्याण किया है। इसने अगले सुधार आन्दोलनों का मार्ग स्पष्ट कर दिया था। भारतीय नागरिकों में कुछ महान व्यक्तियों का जन्मदाता यही समाज है। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर जगदीश बोस तथा लार्ड सिनहा इसी की देन हैं। इस आन्दोलन के अधिक प्रचलित न होने का विशेष कारण ईसाई धर्म की ओर इसका झुकाव था। ब्रह्म समाजियों की वर्तमान संख्या ८००० के लगभग है, जो बंगाल में ही सीमित है।

आर्य समाज

आर्य समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ७ अप्रैल १८७५ ई० को की थी। आरम्भ में इनका विचार ब्रह्म समाज में प्रवेश करने का था। १८७२ ई० में जब ये कलकत्ते गये थे तो इस सम्बन्ध में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन से उनकी बातें हुई थीं; परन्तु उनके विचारों से इनका मतभेद था। १८७७ ई० में लार्ड लिटन ने जब दिल्ली में दरबार किया था तो उस अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती, सर सैयद अहमद खां तथा श्री केशवचन्द्र सेन—तीनों उपस्थित थे। तीनों देश की उन्नति के लिये सम्मिलित रूप से कोई कार्य क्रम बनाना चाहते थे, परन्तु इनके विचारों में इतना मतभेद था कि कोई परिणाम न निकला। ब्रह्म समाज उस समय ईसाई धर्म का ही परिष्कृत रूप समझा जाता था। स्वामी दयानन्द शुद्ध वैदिक धर्म के अनुयायी थे। वे संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान और ऊँचे दर्जे के सन्यासी थे। वेद को वे अपौरुषेय मानते थे। कर्म पुनर्जन्म, ब्रह्मचर्य, सन्यास, हवन, उपनयन आदि वैदिक संस्कारों के पक्षपाती थे। इस्लाम और ईसाई धर्म के कट्टर विरोधी थे। धर्म के अतिरिक्त समाज-सुधार तथा राष्ट्रीयता की ओर भी उनका ध्यान था। ऐसे महान व्यक्ति के लिये यह आवश्यक था कि किसी नये संगठन का जन्म दे।

स्वामी दयानन्द का जन्म १८२४ ई० में काठियावाड़ के मोरवी रियासत में हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम मूलशंकर था। इनके पिता अम्बाशंकर कट्टर शैव ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि १४ वर्ष की आयु में

शिवरात्रि के दिन इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। एक चूहे को शिव की मूर्ति पर देखकर इन्हें ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान हुआ। उसी समय वे मूर्ति-पूजा के विरोधी हो गये। आर्य समाजी आज भी शिवरात्रि का उत्सव स्वामी जी की स्मृति में मनाते हैं। १४ वर्ष की आयु में इन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद कण्ठ कर लिया। ज्ञान की ओर इनके इस झुकाव को देखकर इनके पिता ने इनके विवाह की तिथि निश्चित कर दी। मूलशंकर तिथि से पहले ही घर बार छोड़कर सन्यासी हो गये और अपना नाम स्वामी दयानन्द रख लिया। १५ वर्ष तक वे देश के विभिन्न भागों में सन्यासी रूप में भ्रमण करते रहे। इसी बीच अनेक तीर्थ स्थानों की यात्रा की और साधु-सन्यासियों से सम्पर्क किया। उन्हीं के सहयोग से योग और वेदान्त दर्शन का अध्ययन किया। जब उन्हें कुछ शान्ति नहीं मिली तो किसी गुरु की खोज करने लगे। योग और वेदान्त से इनकी श्रद्धा जाती रही। साधु-सन्यासियों का भी जीवन इन्हें अरुचिकर प्रतीत हुआ। १८६० ई० में जब वे मथुरा पहुँचे तो वहाँ सस्कृत के प्रगाढ़ पं० स्वामी विरजानन्द सरस्वती से उन्हें संस्कृत व्याकरण पढ़ने का अवसर मिला। स्वामी विरजानन्द जो दोनों आँख के अन्धे तथा अत्यन्त क्रोधी थे। इसीलिये कोई विद्यार्थी उनके पास टिकता न था। स्वामी दयानन्द ने ढाई वर्ष तक उनसे संस्कृत का अध्ययन किया। अपना शिष्य बनाने के पहले स्वामी विरजानन्द ने उन्हें आज्ञा दी कि वे अपनी सब पुस्तकें यमुना नदी में फेंक दें। स्वामी दयानन्द ने ऐसा ही किया और अपने गुरु से वेदों के प्रचार का आशीर्वाद लेकर १८६३ ई० में मथुरा से चल पड़े।

१२ वर्ष तक वे विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते रहे। स्वामी शंकराचार्य की तरह वे देश के सभी भागों में प्रवेश किये। १८६९ ई० में बनारस पहुँच कर पण्डितों से शास्त्रार्थ किया। जब वे दर्शन और पुराणों का खण्डन करने लगे कौर मूर्ति-पूजा को अवैदिक सिद्ध किया तो पण्डितों को बड़ी ही व्याकुलता हुई। १८७२ ई० में कलकत्ते में जब केशवचन्द्र सेन से उनकी भेंट हुई तब उन्होंने स्वामी जी को यह सलाह दिया कि वे अपने सिद्धान्तों का प्रचार संस्कृत में न कर हिन्दी में करें। तब से स्वामी जी ने हिन्दी में ही भाषण देना आरम्भ किया। १८७४ ई० में वे बम्बई गये और वहीं १८७५ ई० में १० अप्रैल को आर्य समाज की स्थापना की। इसके पश्चात् जीवन पर्यन्त वे आर्य समाज के संगठन का कार्य करते रहे। इसी बीच उन्होंने 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' की रचना की। सत्यार्थ प्रकाश की रचना वे १८७४ में ही कर चुके थे। १८७७ ई० में वे लाहौर पहुँचे। लाहौर में १८३३ ई०

में ब्रह्म समाज की स्थापना हो गई थी। स्वामी दयानन्द उसे आर्य समाज के रूप में बदलना चाहते थे, परन्तु उन्हें सफलता न मिली। यद्यपि उन्हें लाहौर में सबसे अधिक सफलता मिली और वही आर्य समाज का प्रधान केन्द्र बनाया गया, परन्तु श्री सत्यानन्द अग्निहोत्री ने १८८७ ई० में आर्य समाज के रहते हुए भी देवसमाज की स्थापना की। इसका भी उद्देश्य सामाजिक सुधार था, जिसके अनुयायी १९२१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार पंजाब में ३५९७ थे।

थियासाफिकल सोसाइटी के संचालकों ने अपने को आर्य समाज के साथ मिलकर कार्य करने का स्वामी जी से परामर्श किया, परन्तु इसमें सफलता नहीं हुई। स्वामी दयानन्द का व्यक्तित्व इतना महान था कि कोई भी इनकी ओर आकर्षित हो सकता था। धार्मिक और सामाजिक सुधारों के लिये एक लगन से कार्य करते हुए आर्य समाज के संगठन को भारत के कोने-कोने में फैला दिया। ३० अक्टूबर १८८३ ई० को ५९ वर्ष की आयु में अजमेर में इनका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि एक वेश्या ने, जिसे स्वामी जी पवित्र जीवन का उपदेश देना चाहते थे, इन्हें विष दे दिया था। इनकी मृत्यु के पश्चात् भी आर्य समाज समाज-सुधार के कार्यों में लगा रहा, परन्तु इसका धार्मिक स्वरूप जाता रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस संगठन के द्वारा शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार तथा राजनीतिक प्रगति में काफी सहायता मिली है। स्वामी दयानन्द बहुत ही निर्भीक सुधारक थे। उनकी भावना इतनी प्रगतिशील थी कि उससे हिन्दू समाज में एक नवीन जीवन का संचार हुआ। लोगों में आत्म सम्मान और आत्म-गौरव का भाव बढ़ने लगा। स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से उन्हें यह विश्वास हुआ कि भारतीय समाज वैदिक संस्कृत को अपनाकर अधिक उन्नति कर सकता है। उसे पाश्चात्य देशों के अनुकरण की आवश्यकता नहीं है। ईसाई मिशनरियों को आर्य समाज की वृद्धि से अपने उद्देश्य में निराश होना पड़ा। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामी दयानन्द ने इस्लाम, ईसाई, सिक्ख तथा रूढ़िवादी हिन्दुओं की कड़ी आलोचना की है।

१८७५ ई० में बम्बई में जब स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की स्थापना की थी तो इसके २८ नियम निर्धारित किये गये थे। १८७७ ई० में लाहौर में इसमें परिवर्तन किया गया और निम्नलिखित १० नियम निर्धारित किये गये :—

१—सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करना योग्य है।

३—वेद सत्यविद्याओं की पुस्तक है; वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।

४—सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिये।

६—संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करनी चाहिये।

७—सब से प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

आर्य समाज ने सामाजिक सुधार के लिये अनेक उपयोगी कार्य किया है। विधवा विवाह का प्रचार, बाल-विवाह का बहिष्कार, वेश्याओं के नृत्य का विरोध तथा इसी प्रकार के कुछ और कार्य भी उसने किये हैं। 'जाति-पाँति तोड़क मण्डल' द्वारा उसने छुआ-छूत के बन्धन को तोड़ा है। 'दलितोद्धार मण्डल' द्वारा हरिजनों के उत्थान के लिये कार्य किया है। शिक्षा के क्षेत्र में आर्य समाज का कार्य बहुत ही व्यापक रहा है। स्वामी दयानन्द की स्मृति में लाला हंसराज ने लाहौर में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द राष्ट्रीय शिक्षा के पक्षपाती थे और उसमें संस्कृत को प्रधानता देना चाहते थे। १८९३ ई० में आर्य समाज दो दलों में विभाजित हो गया। एक का नाम कालेज दल और दूसरे का नाम गुरुकुल दल पड़ा। कालेज दल का झुकाव अंग्रेजी शिक्षा की ओर अधिक था और उसी की प्रेरणा से आज प्रायः सभी बड़े नगरों में डी० ए० वी० स्कूल अथवा डी० ए० वी०

कालेज की स्थापना हुई है। गुरुकुल दल शिक्षा की इस पद्धति में विश्वास नहीं करता था। इसीलिये महात्मा मुंशीराम ने, जो स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हैं, १९०२ ई० में हरद्वार में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। यह गुरुकुल ६०० एकड़ के घेरे में एक वन भूमि में गंगा के तट पर स्थापित किया गया है। ७ वर्ष की आयु में विद्यार्थी इसमें प्रविष्ट किये जाते हैं और १६ वर्ष की आयु तक उन्हें शिक्षा दी जाती है। इस बीच में उनके आचार विचार, जीवन की शुद्धता तथा आज्ञा पालन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। संस्कृत माध्यम से उन्हें शिक्षा दी जाती है और अधिकांश अध्यापक सन्यासी हैं। ऊँची कक्षाओं में अंग्रेजी का भी ज्ञान कराया जाता है। स्त्री-शिक्षा के लिये लाला देवराज ने जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की। इसके अतिरिक्त और भी कन्या पाठशालायें स्थापित की गईं।

स्वामी दयानन्द राष्ट्रीय एकता में विश्वास करते थे। इसीलिये आर्य समाज राजनीति के क्षेत्र में भी कार्य करता रहा है। मातृ-भूमि के प्रेम तथा आत्म-त्याग की भावना से देशवासियों में राष्ट्रीयता का प्रचार हुआ है। इसी से उनमें स्वाधीनता की भावना भी उत्पन्न हुई है। स्वामी दयानन्द पहले भारतीय सुधारक हैं जिन्होंने स्वदेशी की भावना को जागृत किया और लोगों को सचेत किया कि वे पाश्चात्य विचारों को ग्रहण करने में अन्ध-विश्वासी न बनें। १९२१ ई० में जब महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया तो आर्य समाजियों ने उन्हें १०००० कार्यकर्ता और ५०००० रुपये की सहायता देने का वचन दिया था। किन्तु लाला लाजपति राय के विरोध के कारण यह सहायता नहीं दी गई। १९०७ ई० में लाला मुंशीराम ने यह कहा था कि, "आर्य समाज सामूहिक रूप में सन्यासी है अतएव राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।" परन्तु इसी मुंशीराम ने स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में १९२० के सत्याग्रह आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। लाला लाजपति राय अन्त समय तक कांग्रेस का कार्य करते रहे। १९३९ ई० में हैदराबाद में जो सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ किया गया था उसमें लगभग १२००० आर्य समाजी जेल गये थे, जिसमें १८ आर्य समाजी जेल में ही मर गये थे। अन्त में उन्हीं की विजय हुई।

आर्य समाज ने शुद्धि कार्य का भी आन्दोलन चलाया था। १९२३ ई० में ३०००० से अधिक मलकाना राजपूतों को, जो मुसलमानी राज्य में इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिये थे, हिन्दू बनाया गया। शुद्धि आन्दोलन को बढ़ाने का श्रेय स्वामी श्रद्धानन्द को है, जिनकी १९१६ ई० में हत्या कर दी

गई थी। हिन्दी के प्रचार से आर्य समाज ने राष्ट्र भाषा का मार्ग प्रदर्शित किया। तात्पर्य यह है कि समाज के उत्थान के लिये प्रायः सभी क्षेत्रों में आर्य समाज ने कार्य किया है। यह आज भी अखिल भारतीय रूप में अपना कार्य कर रहा है, परन्तु किसी प्रतिभाशाली नेता के अभाव के कारण इसकी प्रगति मन्द दिखाई पड़ती है। प्रायः सभी छोटे बड़े नगरों में आर्य समाज मन्दिर स्थापित किये गये हैं, जिनकी संख्या २००० से ऊपर है। पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में इनकी संख्या सबसे अधिक है। इसकी शाखायें बर्मा, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका, बगदाद, फीजी आदि देशों में भी स्थापित की गई हैं। इस मत के मानने वालों की कुल संख्या आर्य प्रतिनिधि सभा के अनुसार १९४१ ई० में ४० लाख से कुछ ऊपर थी।

रामकृष्ण मिशन

ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज ने हिन्दू धर्म के उत्थान के लिये जो कुछ किया था उससे हिन्दू धर्म का पूर्ण आभास नहीं हुआ था। भक्ति और वेदान्त पर इनमें कुछ भी बल नहीं दिया गया था। यह पूर्ति स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने की। इनका जन्म १८३६ ई० में बंगाल के हुगली जिले में कामरूपपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम खुदीराम चटर्जी था, जो एक निर्धन ब्राह्मण थे। कहा जाता है कि बाल्य काल में ही श्री रामकृष्ण को प्रवृत्ति धर्म की ओर अधिक थी। कभी कभी ये अनायास ही रो पड़ते थे। इनकी शिक्षा नाम मात्र को थी। ब्रह्म समाज के नेताओं की ये प्रशंसा करते थे, परन्तु उनके समाज की त्रुटियों को व्यक्त करने में सकोच नहीं करते थे। इनका ध्येय वेदान्त का प्रचार करना और इसी के द्वारा ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना था। उनका यह भी कहना था कि ईश्वर की प्राप्ति दीन दुखियों की सेवा से भी हो सकती है, क्योंकि उनमें भी वह व्याप्त है। इनके आचार विचार तथा आध्यात्मिक विकास से अनेक शिक्षित व्यक्ति बहुत ही प्रभावित थे। अपने जीवन काल में इन्होंने किसी संगठन या समुदाय की स्थापना नहीं की। १८८६ ई० में इनका देहान्त हो गया।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वामी विरजानन्द के आशीर्वाद से वेदों का प्रचार किया और अनेक सामाजिक सुधारों की नींव डाली, उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस के आशीर्वाद से वेदान्त धर्म का प्रचार किया। स्वामी विवेकानन्द १८८० ई० में १७ वर्ष की आयु में स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये। गुरु के जीवन

तथा उपदेश का प्रभाव इन पर इतना अधिक पड़ा कि वे जीवन पर्यन्त सन्यासी रह कर देश विदेशों में वेदान्त धर्म का प्रचार करते रहे। स्वामी रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के ११ वर्ष पश्चात् उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। १८९९ ई० में कलकत्ते के पास बेलूर मठ का निर्माण किया गया, जो मिशन का प्रधान केन्द्र है। १८९३ ई० में स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में धर्म संसद् में जो भाषण दिया उससे प्रायः सभी धर्मावलम्बी प्रभावित हुये थे। हिन्दू धर्म की गम्भीरता सब पर विदित हो गई। ईसाई मिशनरियों को यह भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि ऐसे धर्म के मानने वालों पर किसी दूसरे धर्म का प्रभाव नहीं पड़ सकता। भारतवासियों में आत्मविश्वास की भावना बढ़ने लगी और पाश्चात्य बातों के अनुकरण की गति मन्द हो गई।

रामकृष्ण मिशन ने केवल व्याख्यान अथवा साहित्यिक चर्चा तक ही अपने को सीमित नहीं रखा। मिशन की ओर से कितने ही औषधालय, अनाथालय तथा स्कूल स्थापित किये गये जो आज भी कार्य कर रहे हैं। मिशन में प्रवेश करने वाले सभी व्यक्ति सन्यासी होते हैं। धार्मिक जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त ये सेवा कार्यों में भी लगे रहते हैं। मद्रास, बंगलोर तथा बम्बई में मिशन की शाखायें कार्य कर रही हैं। अमेरिका तथा इंगलैंड में भी वेदान्त केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, लंका तथा मलाया में भी इसकी शाखायें स्थापित की गई हैं। प्रायः सभी शाखाओं पर दीन दुखियों की सेवा के लिये कुछ न कुछ कार्य किये जाते हैं। अकाल, महामारी तथा अन्य विपत्तियों में मिशन काफी सहायता करता है। अपने वेदान्त धर्म के प्रचार के लिये मिशन अंग्रेजी में 'प्रबुद्ध भारत' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित करता है। इन सेवाओं से इसका तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्म मुक्ति का मार्ग है। इस निष्काम कर्म की गूढ़ व्याख्या वेदान्त धर्म का प्रधान विषय है। इसी वेदान्त धर्म का प्रचार पंजाब के एक सन्यासी स्वामी रामतीर्थ परमहंस ने भी किया है। वे गणित के बहुत बड़े विद्वान थे और विदेशों की भी यात्रा की थी। रामतीर्थ प्रकाशन लीग, जो लखनऊ में स्थापित की गई है, आज भी अपना कार्य कर रही है। इसका प्रचार भारत के अतिरिक्त अमेरिका में भी है।

राधास्वामी सत्संग

राधास्वामी सत्संग कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं है और न हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा ईसाई धर्म से इसका विरोध है। यह एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसमें सभी धर्मों के लोग सम्मिलित हो सकते हैं। इसका उद्देश्य समाज में प्रेम और भ्रातृ-

भाव की वृद्धि करना है। इस सम्प्रदाय में सभी धर्मों के लोग सम्मिलित किये जाते हैं। वे अपने अपने धर्मों को मानते हुए भी इस सम्प्रदाय के सदस्य हो सकते हैं। वास्तव में यह हिन्दू धर्म का ही एक अंग है, जिसमें भक्ति मार्ग, तथा योग मार्ग का मिश्रण किया गया है। सम्प्रदाय में साप्ताहिक प्रार्थना का नियम है, जिसमें सभी सत्संगी एकत्र होकर कबीर, दादू, नानक तथा अन्य सन्तों की वाणियों का गुणगान करते हैं। स्त्री और पुरुष, धनी निर्धन तथा सभी जातियों के लोग इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। सत्संग में गुरु की भक्ति प्रधान मानी गई है। इस सम्प्रदाय का विश्वास है कि राधास्वामी, जिसे यह ईश्वर मानता है, मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए थे और अपना नाम 'सन्त सद्गुरु' कहा था। इसीलिये राधास्वामी सत्संग के गुरु ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। उनकी भस्म को सत्संगी पानी में मिलाकर पीते हैं। सत्संग का दार्शनिक सिद्धांत हिन्दू धर्म पर ही आधारित है। यह ईश्वर, संसार और जीवात्मा को सत्य मानता है। पुनर्जन्म में भी यह विश्वास करता है। सूरत, शब्द और योग—इन्हीं तीन शब्दों में सत्संग का सारा सिद्धान्त निहित है। इसके दार्शनिक तत्वों पर विस्तृत व्याख्या इसलिये नहीं की जा सकती है कि गुरु उन्हें गुप्त रखने की प्रतिज्ञा करवाकर लोगों को दीक्षा देते हैं।

राधास्वामी सत्संग की स्थापना १८६१ ई० में आगरे में हुई थी। इसके संस्थापक शिवदयाल जी माने जाते हैं। पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इसका प्रचार है। आगरा, काशी तथा प्रयाग इसके प्रधान केन्द्र हैं। धार्मिक उन्नति के साथ सम्प्रदाय औद्योगिक उन्नति पर भी बल देता है। सत्संगी बनने के लिये घर बार छोड़कर सन्यास ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। गृहस्थी रहते हुए भी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी कोई भी राधास्वामी मत का उपासक बन सकता है। सत्संग के गुरु भी गृहस्थ ही होते हैं और कौटुम्बिक जीवन व्यतीत करते हैं। इसीलिये सत्संग के साथ जीविकोपार्जन के लिये उद्योग-धन्धों पर भी बल दिया जाता है। आगरा के पास दयालबाग नामक उपनिवेश सत्संगियों की एक बस्ती है। ५०० एकड़ भूमि में यह फैली हुई है, जिसमें कई हजार सत्संगी स्थायी रूप से निवास करते हैं। वहाँ वे एक कालेज, एक औद्योगिक स्कूल तथा दुग्धशाला भी चलाते हैं। सत्संग में जाति-पाँत का कोई भेद नहीं किया जाता। यह सभी धर्मों को सत्य मानता है। आवागमन के बन्धन से मुक्त होना इसका अन्तिम ध्येय है।

उपर्युक्त सुधार आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ छोटे मोटे और भी

अन्य सुधार आन्दोलन

सुधार के आन्दोलन चलाये गये, जिनसे भारतीय समाज की कितनी ही बुराइयाँ दूर की गई। थियोसाफिकल सोसाइटी इनमें सबसे प्रधान है। इसकी स्थापना न्यूयार्क (अमेरिका) में १८७५ ई० में एक रूसी महिला श्रीमती ब्लेमेडस्की तथा एक अमेरिकन हेनरी स्टील अल्काट ने की थी। हिन्दू धर्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। १८८६ ई० में अदैयर (मद्रास) में इसका प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया। १८८६ ई० में श्रीमती एनीबेसेन्ट इसकी सदस्या हुई। धार्मिक सहिष्णुता पर इसमें अधिक बल दिया जाता है। इसमें जाति पाँति, धर्म तथा सम्प्रदाय का कोई भेदभाव नहीं माना जाता। इसका झुकाव बौद्ध-धर्म की ओर अधिक है। इस समाज का विश्वास है कि संसार के कष्ट को दूर करने के लिये ईसामसीह किसी दिन प्रकट होंगे। वेदों तथा उपनिषदों में यह विश्वास करता है। काशी में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना एनीबेसेन्ट ने ही किया था। इस समाज ने हिन्दुओं के धार्मिक विचारों को पाश्चात्य सभ्यता से बहुत ही ऊपर माना है। संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों के प्रकाशन सोसाइटी समाज ने हिन्दू धर्म की बहुत बड़ी सेवा की है। मुसलमानों में सर सैयद अहमद खाँ ने सुधार का कार्य आरम्भ किया। अलीगढ़ विश्वविद्यालय की स्थापना से उन्होंने मुस्लिम समाज में पाश्चात्य विचारों को प्रविष्ट किया। इसी तरह पारसी समाज में भी सुधार आन्दोलन चलाये गये। इस पर पाश्चात्य विचारों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है।

———

अध्याय २८

हमारा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

कुछ विद्वानों की धारणा है कि हम भारतवासी सभी विषयों को पाश्चात्य दृष्टिकोण से देखते हैं। १५० वर्षों के बृटिश शासन में हमारे जीवन पर पाश्चात्य रहन-सहन तथा विचारों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि हमारी भारतीय प्रवृत्ति क्षीण हो गई है। रहन-सहन में हम पाश्चात्य जीवन का अनुकरण करते हैं; विद्वत्ता में हम पाश्चात्य विद्वानों को अधिकारी मानते हैं और उन्हीं का उद्धरण देते हैं; उद्योग-धन्धों में हम उन्हीं की पद्धति का आश्रय लेते हैं; संविधान के निर्माण में हमारी दृष्टि बहुत कुछ उन्हीं की ओर रही है; कला, विज्ञान, समाज-निर्माण तथा राजनीति में हम उन्हीं को अपना गुरु मानते हैं। इस अनुकरण से हमारा दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है और कोई बात स्वतन्त्र रूप से सोचने में हम असमर्थ हो जाते हैं। हमारा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन इस विदेशोपन से कम प्रभावित नहीं हैं। स्टैलिन, ट्रूमैन, चर्चिल तथा कुछ अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों की विश्व-योजना पर ही हमारी बुद्धि सीमित है। हमें यह साहस नहीं होता कि संसार के सामने भारतीय दृष्टिकोण से कोई ऐसी योजना रक्खें जो विश्व-कल्याण में सहायक हो। महात्मा गाँधी के सम्पूर्ण विचार मानव जाति का अधिक कल्याण कर सकते हैं। उनकी धारणा संसार को सुख और शांति देने की थी। हमें उनके इस विचार को वैज्ञानिक रूप देकर उसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कार्यान्वित करना चाहिये। यही हमारे लिए तथा संसार के लिए गौरव की बात होगी। जिस महापुरुष की शांति योजना से प्रभावित होकर ४० करोड़ भारतवासियों ने सत्य और अहिंसा द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है, उसका संदेश संसार को शांति के मार्ग पर चला सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ

गत दो महायुद्धों ने योरप निवासियों को सचेत कर दिया है कि वे अपनी राष्ट्रीय नीति में परिवर्तन करें। अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण राष्ट्रीय भूलें हैं, जिनका प्रभाव अन्य राष्ट्रों पर पड़ता है। शक्तिशाली राष्ट्र इन भूलों को सहन नहीं करते और अपनी प्रतिष्ठा एवं स्थिति

को सुदृढ़ बनाने के लिए युद्ध की तैयारी करते हैं। अमेरिका तथा योरप के कितने ही राष्ट्र एक ओर शान्ति का राग अलापते हैं और दूसरी ओर अस्त्र-शस्त्र से अपने को सुसज्जित करते हैं। इतना ही नहीं, अन्य राष्ट्रों में भी अपने अस्त्र-शस्त्रो का व्यापार करते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी शान्ति योजना कहाँ तक सफल होगी—वह भविष्य का विषय है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् शान्ति की स्थापना के लिये 'लीग आफ नेशन' की स्थापना की गई थी, जो असफल सिद्ध हुई। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई है, जिसका उद्देश्य युद्ध का अन्त कर राष्ट्रों में सहयोग और सद्भाव उत्पन्न करना है। इस राष्ट्र संघ की योजना में त्रुटियों की कमी नहीं है। चार या पाँच शक्तिशाली राष्ट्रों का प्रभाव, जिनमें भारत का कोई स्थान नही है, राष्ट्र संघ पर सब से अधिक है। यदि इनमें आपस में कोई मदभेद हो तो युद्ध अवश्यम्भावी होगा और संयुक्त राष्ट्र सघ छिन्न-भिन्न हो जायगा। संयुक्त राष्ट्र सघ तभी सफल होगा जब इसकी शक्ति बड़े से बड़े राष्ट्र को दबाने में समर्थ होगी।

संयुक्त राष्ट्र संघ का उद्देश्य व्यापक है। यह संसार के स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक संगठन है जो आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक योजनाओं द्वारा संसार में शान्ति की स्थापना, बिना किसी जाति, धर्म एवं भाषा के भेद भाव को करना चाहता है।[१] इस संघ की स्थापना २५ अक्टूबर १९४५ ई० को २९ राष्ट्रों के हस्ताक्षर से सान फ्रांसिस्को में की गई थी। संघ के सदस्यों की वर्तमान संख्या ५८ है। इसके निम्नलिखित ६ प्रधान अंग हैं, जिनके द्वारा इसका कार्य संचालित होता है।

१—महासभा (General Assembly)

२—सुरक्षा परिषद (Security Council)

३—आर्थिक परिषद (Economic and Social Council)

४—संरक्षण परिषद (Trusteeship Council)

१—The United Nations is an organization of sovereign states which have agreed to join their efforts in order to maintain international peace, to co-operate on the solution of economic, social and cultural problems. of international importance and to promote human rights for all without distinction as to race, sex, language, or religion.

५—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
६—सचिवालय (Secretariate)

महा सभा में प्रत्येक राष्ट्र के अधिक से अधिक ५ प्रतिनिधी होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र केवल एक मत देने का अधिकारी है। राष्ट्र ही संगठन की इकाई माने जाते हैं। प्रतिवर्ष इसकी एक बैठक होती है, जो प्रायः २ सितम्बर के बादवाले मंगलवार को होती है। राष्ट्र के बहुमत से यह किसी भी समय १५ दिन की सूचना से संघ के मुख्य मन्त्री द्वारा बुलाई जा सकती है। इसका कार्य नागरिक अधिकारों की रक्षा तथा विभिन्न राष्ट्रों में आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में सहयोग स्थापित करना है। रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिये भी यह प्रयत्न करती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधियों के संकलन की व्यवस्था करती है। सुरक्षा परिषद में ६ अस्थाई सदस्यों को यथा आर्थिक और सामाजिक परिषद में १८ सदस्यों को भेजने का इसे अधिकार है। संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य मन्त्री इसी की स्वीकृति से नियुक्त किया जाता है। सुरक्षा परिषद एक शक्तिशाली अंग है। इसमें कुल ११ सदस्य होते हैं। चीन, फ्रांस, रूस, बृटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका इसके स्थायी सदस्य हैं। शेष ६ अस्थायी सदस्य महासभा द्वारा दो वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं। यह परिषद स्थायी रूप से कार्य करती है। इसका मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाना तथा शान्ति की स्थापना करना है। किसी आक्रमणकारी राष्ट्र को दबाने के लिये यह सैनिक-शक्ति का भी उद्योग कर सकती है। यह सैनिक-शक्ति उसे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य राष्ट्रों से मिल सकती है। सैनिक कार्यों में उसकी सहायता के लिये एक सैनिक कर्मचारी समिति (Military Staff Committee) बनाई गई है। इस समिति में शक्तिशाली राष्ट्र अपने सैनिक पदाधिकारियों को भेजते हैं। सुरक्षा परिषद की ही सिपारिश से राष्ट्र संघ में कोई नया राष्ट्र सम्मिलित किया जाता है अथवा कोई सदस्य राष्ट्र इससे पृथक किया जाता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद में कुल १८ सदस्य होते हैं जो महासभा द्वारा ६ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं। प्रत्येक ३ वर्ष के बाद एक तिहाई सदस्य निवृत्त हो जाते हैं। इसका प्रधान कार्य जीवन-स्तर को ऊँचा करना, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सांस्कृतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं को हल करना तथा धर्म, जाति, लिंग, भाषा आदि का भेदभाव न करते हुये मानव अधिकारों की रक्षा करना है। इसकी बैठक वर्ष में ३ बार होती है। अध्ययन की व्यवस्था द्वारा यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति को जाग्रत करने

का प्रयत्न करती है। विभिन्न आयोगों द्वारा यह इस कार्य को सम्पन्न करती है। संरक्षण परिषद् का निर्माण उन राज्यों की सुरक्षा और उन्नति के लिये किया गया है जो अन्य राष्ट्रों के अधिकार में हैं। इस स्वतन्त्रता के युग में भी १ करोड़ ३० लाख वर्ग मील भूमि तथा २७ करोड़ व्यक्तियों पर विदेशी राज्यों का शासन है। बृटेन, फ्रांस, हालैंड, वेलजियम तथा कुछ अन्य देश इन पर शासन करते हैं। परिषद इन शासित प्रदेशों की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति की व्यवस्था करती है। इनमें शासन की नीति को नागरिकों के अनुकूल रखने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार के शासित प्रदेशों को संरक्षण परिषद अपने अधिकार में लेने की व्यवस्था कर सकती है। इसके अधिकार बहुत ही सीमित हैं। परिषद के सदस्यों की संख्या निश्चित न.ीं है। इसके सदस्य स्थायी तथा अस्थायी समूहों में विभाजित हैं। अस्थायी सदस्य महासभा द्वारा ३ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं। जो शासक प्रदेश हैं वे तथा इतने ही और सदस्य इस परिषद में लिये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कुल १५ न्यायाधीश होते हैं। एक राष्ट्र से एक ही न्यायाधीश नियुक्त किया जा सकता है। अपने राष्ट्र में जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता रखता है वही इसमें न्यायाधीश रह सकता है। महासभा तथा सुरक्षा परिषद पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से इन न्यायाधीशों का निर्वाचन करती हैं। न्यायाधीश ६ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते हैं और इन्हें पुनर्निर्वाचन का भी अधिकार है। सभी न्यायाधीश साथ ही निवृत्त न हो जायँ और बिलकुल नये न्यायाधीश उनका स्थान न ग्रहण कर लें—इसके लिये यह व्यवस्था की गई है कि प्रथम महासभा द्वारा निर्वाचित ५ न्यायाधीशों का कार्यकाल केवल ३ वर्ष होगा और अन्य ५ न्यायाधीशों का कार्यकाल ६ वर्ष होगा। यह न्यायालय स्वतन्त्र रक्खा गया है। महासभा अथवा सुरक्षा परिषद इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं। न्यायाधीश अपने कार्यकाल में कोई लाभ का पद नहीं ग्रहण कर सकते। किसी न्यायाधीश को पृथक् करने का अधिकार केवल न्यायालय को प्राप्त है। न्यायालय के सभापति तथा उपसभापति ३ वर्ष के लिये नियुक्त किये जाते हैं। ये दूसरी बार भी नियुक्त किये जा सकते हैं। इनका वार्षिक वेतन ५२५० पौंड निर्धारित किया गया है। सभापति को अतिरिक्त भत्ता भी दिया जाता है। यह न्यायालय हेग में स्थापित किया गया है। न्यायालय के साधारण अवकाश को छोड़कर यह बराबर कार्य करता है। न्यायाधीशों की न्यूनतम पूरक संख्या ६ रक्खी गई है। यह न्यायालय राष्ट्रों के मतभेदों सम्बन्धी

मुकदमों का निर्णय करता है। व्यक्तियों तथा संस्थाओं का मुकदमा इसमें निर्णय नहीं किया जाता। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों तथा प्रथाओं की सहायता से निर्णय होता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का अपना एक सचिवालय है, जिसमें सैकड़ों कर्मचारी कार्य करते हैं। चूँकि संयुक्त राज्य अमेरिका का धन इसमें सबसे अधिक लगा है, इसलिये अधिकांश कर्मचारी अमेरिकन हैं। संघ के विभिन्न अंगों के लिये कार्यक्रम इसी में तैयार किये जाते हैं। सचिवालय का प्रधान एक मुख्य मन्त्री (The Secretary General) होता है, जो महासभा द्वारा ५ वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता है। उसे कर से मुक्त ५००० पौंड वार्षिक वेतन दिया जाता है। यह दूसरी बार भी नियुक्त किया जा सकता है। इसके रहने के लिये एक सरकारी भवन भी दिया जाता है। निवृत्त होने के तुरन्त बाद ही कोई राष्ट्र इसे कोई पद नहीं दे सकता। इसका कार्य सचिवालय का प्रबन्ध, कर्मचारियों की देख रेख तथा विभिन्न परिषदों और समितियों का कार्यक्रम तैयार करना है। इसे कितने ही कर्मचारियों को नियुक्त करने का भी अधिकार दिया गया है। सचिवालय ८ विभागों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक विभाग का प्रधान 'सहायक मुख्य मन्त्री' होता है। यह विभाजन कार्यों की सुविधा के लिये किया गया है। सहायक मुख्य मन्त्री को ३३७५ पौंड वार्षिक वेतन दिया जाता है। सचिवालय के सभी कर्मचारियों का वेतन आयकर से मुक्त है। कर्मचारियों की संख्या २५०० के लगभग है।

भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का एक सदस्य है। इसने इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का उपयोग अधिक किया है और आज भी कर रहा है। भारतीय संस्कृति सदैव से शान्ति के पक्ष में रही है। अशोक ने बौद्ध धर्म के द्वारा इस शान्ति का सन्देश चीन, जापान, लंका आदि देशों तक पहुँचाया था। विभाजन के पश्चात् भारत और पाकिस्तान में जो सद्भावना आज बनी हुई है और लियाकत-नेहरू समझौता जिसे और भी दृढ़ करना चाहता है, भारत की शान्ति-नीति का ही परिणाम है। संयुक्त राष्ट्र संघ में जब कभी कोई विषय किसी देश के सम्बन्ध में उपस्थित किया गया तो भारत ने, किसी दलबन्दी में न पड़कर, न्याय का ही समर्थन किया। काश्मीर का प्रश्न १ जनवरी १६४८ ई० को सुरक्षा परिषद में उपस्थित किया गया था, परन्तु अभी तक इसका अन्तिम निर्णय न हो सका। हैदराबाद के प्रश्न को भी सुरक्षा

परिषद् हल करना चाहती थी, परन्तु भारत ने स्वयं उसे हल कर लिया। दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों का प्रश्न महासभा के सामने अभी तक विचाराधीन है। अन्तर्राष्ट्रीय नियमों का पालन भारत सब से अधिक करता है। अन्य शक्तिशाली राष्ट्रों की तरह वह किसी स्वार्थ को लेकर संघ में प्रविष्ट नहीं हुआ है। कहा जाता है कि दक्षिण अमेरिका के २० सदस्य राष्ट्रों को संयुक्त राज्य अमेरिका अपने पक्ष में रखता है। फ्रांस और मिश्र चीन में साम्यवादी सरकार की मान्यता के सम्बन्ध में अमेरिका का समर्थन इसीलिये करते हैं कि कहीं वह इनसे रुष्ट न हो जाय। भारत इस प्रकार की स्थित को बुरा समझता है। यद्यपि इसकी स्वतन्त्रता नवीन है परन्तु इसका अन्तर्राष्ट्रीय गौरव किसी भी देश से कम नहीं है।

———

नमूने के प्रश्न

नोट—भारतीय संविधान के सम्बन्ध में कुछ ऐसे प्रश्न खोज निकाले गये हैं जो अत्यन्त आवश्यक हैं। इन प्रश्नों का उत्तर वही दे सकते हैं जो संविधान को अच्छी तरह समझते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिन विद्यार्थियों में इन प्रश्नों का उत्तर देने की क्षमता है उन्होंने संविधान का भली भाँति अध्ययन और अनुशीलन किया है। इन्हीं प्रश्नों के अन्तर्गत संविधान की सभी बातें ला दी गई हैं। यदि विद्यार्थियों को इन प्रश्नों के समझने में कठिनाई होती है तो वे संविधान का पुनः पध्ययन करें। कहा गया है कि बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता। जब अध्यापक संविधान ऐसे गूढ़ विषय को विद्यार्थियों को भली भाँति हृदयंगम करायेंगे तो इन प्रश्नों का उत्तर बहुत कुछ सरल हो जायगा।

१—क्रिप्स मिशन से २६ जनवरी १६५० ई० तक भारतीय संविधान की ऐतिहासिक प्रगति का वर्णन कीजिये ?

२—भारतीय संविधान की क्या क्या विशेषतायें हैं ?

३—स्वतन्त्र भारत में किस प्रकार की शासन की इकाइयों से राष्ट्र का निर्माण किया गया है। इनकी वैधानिक स्थिति में क्या भेद है और उसका क्या कारण है ?

४—भारतीय नागरिकता कैसे प्रदान की गई है ? इसके लिये किस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये हैं ?

५—नागरिकों के मौलिक अधिकार क्या हैं और उनका वर्गीकरण कैसे किया गया है ?

६—समता अधिकार का क्या तात्पर्य है। विधियों से समान संरक्षण की क्या व्यवस्था की गई है ?

७—संविधान में नागरिकों के धन जन की सुरक्षा की क्या व्यवस्था की गई है ?

८—सरकारी नौकरियों में नागरिकों को समान अधिकार कैसे प्रदान किया गया है ?

९—धर्म निरपेक्ष राज्य से क्या आशय है ? भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य क्यों कहा जाता है ? संविधान में नागरिकों को धार्मिक स्वतन्त्रता कैसे प्रदान की गई है ?

१०—नागरिकों को ७ प्रकार के कौन कौन से स्वातन्त्र्य अधिकार प्रदान किये गये हैं और इनके उपयोग की क्या सीमा निर्धारित की गई है ?

११—भारतीय संविधान में व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा का क्या आश्वासन दिया गया है ?

१२—भारतीय संविधान में 'राज्य के निदेशक तत्व' का वैधानिक महत्व क्या है ? इसका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

१३—राज्य के निदेशक तत्व क्या हैं ?

१४—संघ तथा राज्यों के प्रशासन के लिये जिस शासन यन्त्र की व्यवस्था की गई है उसका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

१५—राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिये किस प्रकार का विधान बनाया गया है ?

१६—राष्ट्रपति का कार्यकाल क्या है, यदि उसे अपने पद से पृथक् करना हो तो ऐसे समय में कार्यवाही की क्या व्यवस्था की गई है ?

१७—भारत के उपराष्ट्रपति के निर्वाचन, उसके कार्यकाल तथा उसके कार्यों की व्याख्या कीजिये।

१८—राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन कीजिये।

१९—राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियाँ कौन कौन सी हैं ?

२०—भारतीय संविधान में राष्ट्रपति तथा राज्यपाल की न्यायिक शक्तियों का वर्णन कीजिये।

२१—राष्ट्रपति की आयात शक्तियों (Emergency Powers) का वर्णन कीजिये।

२२—राष्ट्रपति को सहायता और मंत्रणा देने के लिये जिस मंत्रि-परिषद् की व्यवस्था की गई है उसका वर्णन कीजिये। राष्ट्रपति मंत्रियों की मंत्रणा से कहाँ तक बाध्य होगा, इसका भी वर्णन कीजिये।

२३—संघ तथा राज्यों में उत्तरदायी शासन कैसे स्थापित किया गया है और मंत्रि-परिषद् का इसमें क्या उत्तरदायित्व है ?

२४—लोक-सभा का निर्माण कैसे किया गया है ?

२५—राज्य-परिषद् का निर्माण कैसे किया गया है ?

२६—संसद् के कार्यकाल, उसके आवाहन, सत्रावसान तथा विघटन के उपबन्धों का वर्णन कीजिये।

२७—संसद् की सदस्यता के लिये कौन कौन सी अर्हतायें तथा अनर्हतायें निर्धारित की गई हैं?

२८—संसद् के किसी सदस्य को किन किन दशाओं में संसद् सदस्यता का परित्याग करना होगा?

२९—सघ अथवा राज्यों के विधान-मंडल के दोनों सदनों में यदि किसी विषय पर मतभेद हो जाय तो उसे सुलझाने की क्या व्यवस्था की गई है?

३०—संसद् के अधिकार और कर्तव्यों का बर्णन कीजिये।

३१—वित्त-विधेयक क्या है? वित्तीय विषयों में प्रक्रिया का क्या उपलब्ध किया गया है?

३२—संसद् में वित्तीय प्रक्रिया का क्या उपबन्ध किया गया है? भारत की संचित निधि पर भारित कौन कौन से व्यय हैं?

३३—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनके कार्य-काल का वर्णन कीजिये।

३४—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिये संविधान में क्या उपबन्ध बनाया गया है? इन उपबन्धों की तुलना संयुक्तराज्य अमेरिका के उच्चतम न्यायालय के न्याया-धीशों सम्बन्धी उपबन्धों से कीजिये।

३५—उच्चतम न्यायालय के कार्य-क्षेत्र तथा उसके कतव्यों का वर्णन कीजिये।

३६—उच्चतम न्यायालय को संघ न्यायालय के रूप में कार्य करने के लिये क्या उपबन्ध बनाये गये हैं?

३७—राज्यपाल की नियुक्ति तथा उसके कार्यकाल की व्याख्या कीजिये।

३८—राज्यपाल की शक्तियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

३९—राज्यपाल को अध्यादेश प्रख्यापित करने की क्या शक्ति प्रदान की गई है?

४०—राज्य के विधान को रद्द करने की राज्यपाल को क्या शक्ति प्रदान की गई है?

४१—राज्यपाल अपनी मंत्रि-परिषद् की मंत्रणा से कहाँ तक बाध्य होगा? किन किन परिस्थितियों में उसे स्वविवेक से कार्य करने का अधिकार दिया गया है?

४२—राज्य के विधान-मंडल के दोनों सदनों का निर्माण कैसे किया गया है ?

४३—राज्य के विधान-मंडल में दूसरे सदन का क्या स्थान है ?

४४—राज्य के विधान-मंडल के दूसरे सदन के समर्थन तथा विरोध में क्या क्या बातें कही गई हैं ? किसी राज्य में दूसरे सदन की स्थापना तथा किसी राज्य के दूसरे सदन के उत्पादन के लिये संविधान में क्या व्यवस्था की गई है ?

४५—संघ तथा राज्य के विधान-मंडल में अध्यक्ष का क्या स्थान और कर्तव्य है ?

४६—उच्च न्यायालय के संगठन तथा इसके क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिये ।

४७—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा उनके कार्यकाल का वर्णन कीजिये ।

४८—भारतीय संविधान के संघीय स्वरूप की तुलना कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से कीजिये ।

४९—नवीन संविधान में संघ तथा राज्यों की विधायिनी शक्तियाँ किस प्रकार पृथक् की गई हैं ?

५०—संघ की विधायिनी शक्तियों का विभिन्न परिस्थितियों में वर्णन कीजिये ।

५१—नवीन संविधान में संघ तथा राज्यों की व्यवस्था में वित्तीय विभाजन कैसे किया गया है ?

५२—राज्य पर अथवा राज्य द्वारा किसी और पर दोषारोपण करने के लिये संविधान में क्या उपबन्ध बनाये गये हैं ?

५३—संघ तथा राज्यों में लोक-सेवा आयोगों के निर्माण, उनके कर्तव्य तथा उनके सदस्यों के पृथक्करण का वर्णन कीजिये ।

५४—नवीन संविधान में सरकारी अधिकारियों के कार्यकाल तथा उन्हें पदच्युत करने की क्या व्यवस्था की गई है ?

५५—संघ तथा राज्यों की राजभाषा पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

५६—संघ की आपात शक्तियों का वर्णन कीजिये ।

५७—शासन यन्त्र के विफल हो जाने पर भारतीय प्रशासन के लिये नवीन संविधान में क्या व्यवस्था की गई है ?

५८—भारतीय संविधान में संशोधन की क्या व्यवस्था की गई है ?